पुराणों में योगदर्शन
और
उसकी समीक्षा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डॉक्टर ऑफ फिलॉस्फी की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध

निर्देशिका

डॉ० (श्रीमती) रञ्जना (रीडर)
संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्री

बबली पाण्डेय

संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद
2000

विषय—सूची

प्राक्कथन

प्राचीन भारतीय दर्शन की पद्धतियो और धार्मिक अवधारणाओं के आदि श्रोत वेद हैं, यह सर्वविदित है। परन्तु भारतीय समाज विशेष रूप से ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से आज तक प्रधानतया पुराण सम्मत मान्यताओं से अनुप्राणित रहा है। इससे पौराणिक साहित्य तथा उसमें अन्तर्निहित मूल्यों एवं मान्यताओं की जीवन्तता का बोध होता है। इनमें उल्लिखित सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित, मन्वन्तर, भुवनकोश आदि का वर्णन अतिश्योक्तिपूर्ण शैली में होने पर भी मूल तथ्य से सम्यक् सम्पृक्त है। छान्दोग्य उपनिषद् के उद्गाता ऋषि ने पुराणों की इन्हीं विलक्षणताओं को ध्यान मे रखकर उन्हें 'पञ्चम्वेद' की मान्यता प्रदान की है।

पुराण प्रणयन का लक्ष्य मात्र धर्माचार का नियमन एवं आदर्श स्थापन ही न था, वरन् समग्र रूप में जनसाधारण के वैदिक तत्वों तथा क्रियाकलापों का लोक दृष्टि से प्रतिपादन करना था। इसके अलावा समय–समय पर समाज की आवश्यकता के अनुरूप बनाकर उनमें यथासम्भव समसामयिक तथ्यों का भी समावेश प्रस्तुत है। यही कारण है कि पुराणों के वर्ण्य विषयों में धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र, सामाजिक व्यवस्था, इतिहास, खगोल, ज्योतिष एवं शिल्प शास्त्र आदि भी सम्मिलित थे। इस दृष्टि से प्रत्येक पुराण, वस्तुतः अपने समकालीन समाज एवं संस्कृति का दर्पण है। सहज भाषा एवं बोधगम्य शैली में संरचित पुराण जन–संस्कृति के द्योतक होने के कारण ऐतिहासिक उपादेयताओं से भरपूर हैं।

भारतीय दार्शनिक वाड्.मय में योग दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है, यह न केवल वैचारिक गाम्भीर्य के कारण है, अपितु मानव जीवन की ऐहिक और पारलौकिक उपलब्धियों के प्रति प्रमुख साधन के रूप में भी है, भौतिक उपलब्धिों से विरक्त–सा अनुभव करता हुआ मानव मानो जीवन को नई आशाओं को परिपूर्ण करने के प्रयास में अपनी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाता है। सम्भवतः वह अन्तर्निहित चेतना को अपने स्वरूप में स्थिर करना चाहता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में विद्वानों का मत है कि सबसे सहायक एवं साधन–सम्पन्न दर्शन योग दर्शन ही है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में योग दर्शन की इसी महत्ता को दृष्टि में रखते हुए पुराणों में हुई उसकी

सकारात्मक विवेचना करने का प्रयास किया गया है। समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य आदि योग दर्शन के विभिन्न पादों की पुराणों में की गई चर्चा की सुस्पष्ट समीक्षा के साथ–साथ उक्त ग्रन्थ मे पातञ्जल योग दर्शन में वर्णित अष्टाङ्.ग योग दर्शन की पुराणवार समीक्षा प्रस्तुत की गई है। हमारे शोध प्रबन्ध का विषय है– "पुराणों में योग दर्शन और उसकी समीक्षा"। इस विषय का गहन अध्ययनोपरान्त उक्त विषय को सात–अध्यायों में विभक्त किया गया है। जिसमें से प्रथम अध्याय पुराणों की रूपरेखा में पुराण क्या है, पुराणों का स्वरूप, पुराणों के कर्त्ता, पुराणों का काल, पुराणों का राजनैतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक महत्व, पुराणों के वर्ण्य–विषय तथा उसके महत्व को प्रतिपादित किया गया है। प्रस्तुत शोध विषय का दूसरा अध्याय–भारतीय दर्शन और योगः संक्षिप्त परिचय है जिसके अन्तर्गत भारतीय दर्शनों के छः भेदों के साथ–साथ आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन का वर्णन, योग दर्शन के अन्तर्गत योग की परिभाषा, लक्षण और स्वरूप योग के आठ अङ्.ग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है तृतीय अध्याय चित्तवृत्तियाँ और पातञ्जल योग दर्शन है। जिसमें चित्तवृत्तियों के साथ–साथ योग–दर्शन की शुरू से लेकर समाधि तक की सत्ता को निरूपित किया गया है प्रस्तुत शोध का चतुर्थ अध्याय पुराणों में अष्टाङ्.ग पातञ्जल योग दर्शन–पुराणवार प्रत्येक अङ्.ग का विशद विवेचन है। जिसके अन्तर्गत पातञ्जल योग दर्शन मे वर्णित अष्टाङ्.ग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) की पुराणावार समीक्षा प्रस्तुत की गई है। पंचम अध्याय है– योग शास्त्रीय कर्म सिद्धांत की विवेचना। अमुक अध्याय में मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले कर्म तथा उनके कर्मों के फल का वर्णन किया गया है तथा उससे निर्धारित नरक के विषय में भी बताया गया है। षष्ठम् अध्याय के अन्तर्गत पुराणों में वर्णित योग शास्त्रीय ईश्वर एवं आत्मा का वर्णन किया गया है। ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या करते हुए आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। आत्मा को परमात्मा का एक अंश माना गया है। परमात्मा को ईश्वर का एक कर्त्ता माना गया है। सप्तम अध्याय में पुराणों में योग शास्त्र सम्बन्धी मोक्ष की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। संसार में शरीर को धारण न करना

ही मोक्ष माना गया है। मोक्ष को ही मुक्ति, अपवर्ग तथा निवृत्ति कहा गया है। अविद्या तथा अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष का कारण है। आधुनिक युग की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन के साथ–साथ, विषय को सुगम और सहज बनाने के लिए आधुनिक दृष्टिकोण भी अपनाया गया है। साथ ही विविध दार्शनिक दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापना का भी प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को मूर्त रूप देने में मुझे जिन सज्जनों एवं सुधीजनों का सहयोग तथा मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है, उन सबके प्रति मै अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। सर्वप्रथम आदरणीय गुरुवर्य विद्वद्वरेण्य प्रो० हरिशंकर त्रिपाठी, विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इ० वि० वि० के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ ,जिनकी गरिमामयी छत्रछाया तथा सत्प्रेरणाएँ मुझे सदैव प्रोत्साहन देती रहीं।

यह शोध प्रबन्ध मेरी शोध निर्देशिका श्रद्धेया डा० (श्रीमती) रञ्जना–रीडर संस्कृत विभाग,इ० वि० वि० की ही कृपा, पदे–पदे प्राप्त मार्गदर्शन तथा कठोर परिश्रम का ही प्रतिफल है। अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी गूढ़ विषयों की अनेक गुत्थियाँ सुलझाकर उन्होंने विषय को हस्तामलकवत् कर दिया। उनके कुशल निर्देशन एवं पूर्ण सुझावों से ही मैं इस सारगर्भित विषय पर लेखनी उठाने का दुस्साहस कर पायी। उन्हें मात्र धन्यवाद देकर उनके इस महान गुरु–ऋण से मुक्त हो पाना मेरे लिए कदापि सम्भव नहीं है और न ही मेरा मन्तव्य है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के समस्त विद्वान गुरुओं के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना अपना धर्म समझती हूँ। जिनका आशीर्वाद एवं प्रोत्साहन मुझे निरन्तर अवलम्बन प्रदान करता रहा।

शोध–कार्य के दौरान ही परिणय सूत्र में बँध जाने के बाद गृहस्थी का कार्यभार एवं विविध व्याधि संकुलता के कारण व्यग्रता में एक समय तो लेखन कार्य असम्भव सा प्रतीत होने लगा था, किन्तु पूज्य पतिदेव डा० मणि शंकर द्विवेदी ने बारम्बार प्रोत्साहन देकर इससे विमुख नहीं होने दिया। अस्तु,उनके प्रति भी हृदय से श्रद्धानवत हूँ। पूज्य पिता पं० केशव प्रसाद पाण्डेय एवं स्नेहमयी माता जी श्रीमती दुर्गावती पाण्डेय जिनकी प्रबल इच्छा एवं स्निग्ध भाव का यह परिणाम

है, का उपकार कभी भूल नहीं पाऊँगी। साथ ही साथ अनुज सुमन्यु के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ जिसने कम्प्यूटर पर विशुद्ध टंकण कार्य करके महान उपकार किया है। प्रदेश में शिक्षा और समाज सुधार की अजस्र धारा प्रवाहित कर रहे पं० रमाकान्त मिश्र (पूर्व विधायक) जिनका स्नेह और शुभाषीर्वाद मुझे अनवरत् मिलता रहा, के प्रति असीम आभार प्रकट करना भी सर्वथा सुखद अनुभव होगा। इसी कडी में ज्येष्ठ भ्राता श्री० पी० एन० द्विवेदी (वरिष्ठ पत्रकार, इलाहाबाद) पूज्य पिता (श्वसुर), पं० शेष नारायण द्विवेदी, साथ—साथ परिवार के सभी सदस्यों, शुभ चिन्तकों व मित्रों के शुभाशीष् तथा स्नेह के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों में प्रकट किये गये विचार एवं उनकी समीक्षा, गहन अध्ययन का परिणाम है। फिर भी मानवीय स्वभाववस भूलें एवं कमियॉ रह सकती हैं। भविष्य में मैं अपने अधिक व्यापक अध्ययन के आधार पर उनके मार्जन का पूरा प्रयत्न करूँगी।

बबली पाण्डेय

बबली पाण्डेय
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

दिनाड्.क—
10.9.2000

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

पुराणों की रूपरेखा

भारतीय संस्कृति के आकर ग्रन्थों में पुराण अनन्य स्थान रखते हैं। इनमें वेद–विषयक सामग्री के साथ–साथ लौकिक जीवन धारा को एक साथ उपन्यस्त किया गया है। ये संकलित ग्रन्थ हैं। इन्हें संहिता रूप में निखारने में संकलन कर्त्ताओं को वैदिक एवं सूत्रकारों से पृथक् शैली अपनानी पड़ी थी, जिसमें वैदिक आचार–संहिता को आत्मसात करते हुए श्रुति–परम्परा की जटिलता एवं दुरूह कर्मकाण्ड को लौकिक आचार संहिता के रूप में प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः पुराण–साहित्य के सृजन का लक्ष्य समग्र रूप में जनसाधारण के लिए वैदिक तत्त्वों तथा क्रिया कलापों का लोकदृष्टि से प्रतिपादन करना ही था, तथापि उन्हें समय–समय पर समाज की आवश्यकता के अनुरूप बनाकर उनमें यथासम्भव समसामयिक तथ्यों का समावेश प्रस्तुत किया गया है। इसलिए वैदिक संस्कृति के सम्पर्क बोध के लिए पौराणिक वाङ्गमय का परिज्ञान आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार पुराण–साहित्य, वैदिक–साहित्य एवं वैदिक–वाङ्मय का अभिन्न अड्.ग है।

वैदिक आख्यान, जो सूत्र रूप में गहन दार्शनिक अनुभूतियों एवं यज्ञ–विशिष्ट विधानो से पूर्ण हैं, पुराण एवं इतिहास के माध्यम से उपवृंहित किये गये हैं। उपवृंहण की इस प्रक्रिया में ऐसे अनेक वैदिक उपाख्यानों एवं अनिबद्ध आख्यानों को भी पुराण–संहिता में समाहित कर लिया गया, जो वैदिक वाड्.मय में न आ सके थे, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण थे। डॉ० सिद्धेश्वरी नारायण राय का मत विशेष तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यहाँ पुराण शब्द का तात्पर्य इसमें मौलिक अर्थ 'आख्यान' से भिन्न नहीं है।[1] इस प्रकार के वैदिक आख्यानों एवं उपाख्यानों के आख्यात एवं अनाख्यात रूप को अपने कलेवर में समाहार करते समय पुराण–साहित्य में कतिपय ऐसे आवश्यक नवोदित एवं अतिनूतन आख्यानों को भी समाविष्ट कर लिया गया, जिसके फलस्वरूप 'पुनरानवंभवति' [2] पुराण की व्युत्पत्ति विवृत हुई थी। यही कारण है कि पुराणस्थ आख्यानों के

१– सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज पृ०–३

२– निरुक्त, ३.१६

माध्यम से श्रुतियों के गूढार्थ स्पष्ट करने की बात महाभारत[1] में आख्यात है।

रमाशंकर भट्टाचार्य का मत है कि वेद, सूत्रग्रन्थ तथा इतिहास–पुराणों में पुराणस्वरूप के विषय में जो कुछ विवृत है, उनसे यह ज्ञात होता है कि पुराण प्रवचन धारा के दो प्रमुख संधि–स्थल थे। प्रथम धारा कृष्ण द्वैपायन व्यास से आरम्भ होकर मूल पुराण–सहिता के रूप मे संकलित हुई। द्वितीय धारा के अन्तर्गत व्यास से पूर्व पौराणिक आख्यान समाहित किये जा सकते हैं।[2] भट्टाचार्य जी का ऐसा अनुमान है कि अत्यन्त प्राचीन काल में पुराण एक अव्यवस्थित और बहुधा विकीर्ण परम्परागत लोकवृत्तात्मक विधा–विशेष मात्र था, जिसे कृष्ण द्वैपायन व्यास ने कतिपय नवीन विषयों का समायोजन करके व्यवस्थित संहिता का स्वरूप प्रदान किया था।[3]

पुराण संहिता के मूल स्वरूप को लेकर अनेक मत प्रतिपादित किये गये हैं। वैदिक तथा परवर्ती ग्रन्थों में कतिपय स्थलों पर प्रयुक्त एकवचनार्थ 'पुराण' शब्द के आधार पर कतिपय विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि प्रारम्भ में कोई मूल 'पुराण'–संहिता' थी जिससे कालान्तर में अवान्तर युगीन अष्टादश पुराण परिकल्पित किये गये।[4] परन्तु उक्त निष्कर्ष को असंगत बताते हुए पुसाल्कर का मत है कि मूल पुराण–संहिता का अस्तित्त्व ठीक उसी प्रकार असिद्ध लगता है, जिस प्रकार मूल वेद–संहिता का।[5] इस सन्दर्भ में हाजरा ने भी आदि पुराण सहिता को असिद्ध माना है।[6] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पौराणिक पण्डित नरसिंह स्वामी द्वारा उल्लिखित 'मूल पुराण संहिता' की प्रतिष्ठा पर तार्किक दृष्टि डालते हुए धर्मशास्त्र से सम्बद्ध विषयों के अभाव में आदि

१– "पुराणपूर्ण चन्द्रेण श्रुति ज्योत्सना प्रकाशित"। –महाभारत १.१.८६

२– रमाशंकर भट्टाचार्य, पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, भूमिका, पृ०–६

३– वही, पृ०–६०

४– जैक्सन, जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ रॉयल एशियाटिक– सोसाइटी, सेण्टेंनरी नम्बर, पृ०सं०–६७–७०, पार्जिटर, एंशॅण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ०–२२–२३।

५– ए०डी० पुसाल्कर, स्टडीज इन दि एपिक्स एण्ड पुराणाज़, इण्ट्रोडक्शन, पृ० ५२।

६– हाजरा, स्टडीज़ इन दि पुराणिक रेकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ०–५

पुराण–संहिता के अस्तित्व को मानने में विप्रतिपत्ति व्यक्त की है।[1] राय महोदय ने भी 'पुराण–संहिता' की संदिग्धता स्वीकार करते हुए इसे संहिताकरण की शैली माना है।[2] उनके अनुसार जिस संहिताकरण की शैली को वैदिकों ने वेद सरचना का विषय बनाया था, उसी विशेष शैली को परिवर्तित परिस्थितियों में, जबकि हो चुका था, पौराणिकों ने भी अपनाया था।[3] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पुराण–संरचना का सूत्रपात ही संहिताकरण की शैली से हुआ। आगे चलकर पौराणिक इसे परम्परा के रूप में ग्रहण कर प्रारम्भिक पुराणों का प्रतिसंस्करण तथा नवीन पुराणों का संस्करण करते रहे। विष्णु,[4] वायु[5] तथा ब्रह्मांड[6] पुराणों में 'पुराण–संहिता' की रचना में आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि अथवा कल्पजोक्ति को आधारतत्त्व माना गया है। उक्त विद्वानों ने इन विषयों के आधार पर ही पुराण–संहिता की प्रतिष्ठा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये चारों विषय वैदिक मान्यताओं के अनुरूप होते हुए भी लोकजीवन की परिस्थितिजन्य मान्यताओं को स्वीकार करते थे, अतः पौराणिकों ने उन्हें अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया तथा लौकिक जीवन के अनुरूप एक नूतन पौराणिक शैली 'पुराण–संहिता' को अपनाकर उन्हें लोकप्रिय बनाने का यत्न किया था।

पुराणः व्युत्पत्ति, अर्थ एवं संरचना

'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भी दी है। 'पुराभवम्' (प्राचीन काल मे होने वाला) इस अर्थ में 'सायं चिरं प्राह्वे–प्रगऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' (पाणिनिसूत्र ४/३/२३) इस पाणिनि के सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने तथा 'तुट्' के आगम होने पर 'पुरातन' शब्द निष्पन्न होता है, परन्तु स्वयं पाणिनि ने ही अपने दो सूत्रों–'पूर्व कालैक–सर्व–जरत्

१– बलदेव उपाध्याय, पुराण–विमर्श, द्वितीय संस्करण, पृ०–७०–७१
२– सिद्धेश्वरी नारायण राय,– पौराणिक धर्म एवं समाज, पृष्ठ १४–१५
३– सिद्धेश्वरी नारायण राय,– पौराणिक धर्म एवं समाज, पृष्ठ संख्या– १५
४– विष्णु पुराण, ३.६.१५
५– वायु पुराण, ६०.२१
६– ब्रह्माण्ड पुराण, २.३.३१

पुराण नव–केवलाः समानाधिकरणेन (२/१/४६) तथा 'पुराण–प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु' (४/३/१०५)– में पुराण शब्द का प्रयोग किया है जिससे तुडागम का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार 'पुरा' शब्द से ट्यु प्रत्यय अवश्य होता है, परन्तु नियम प्राप्त 'तुट' का आगम नहीं होता।[१] 'पुराण' शब्द ऋग्वेद में दर्जनों से अधिक स्थानों पर मिलता है, यह वहाँ विशेषण है तथा उसका अर्थ है प्राचीन, पूर्व काल में होने वाला।[२]

अथर्ववेद के मन्त्रों में 'पुराण'[३] एवं पुराणवित्[४] शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसमें पुराण का आविर्भाव ऋक्, साम, यजुष् तथा अथर्ववेदों के साथ बताया गया है। इसमें अदृश्यभूमि के द्रष्टा ज्ञानी पुरूष को 'पुराणवित्' कहा गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में 'पुराणानि'[५] शब्द बहुवचन में उपलब्ध है, जिससे उक्त काल में अनेक पुराणों की परिकल्पना की जा सकती है। बृहदारण्यक[६] एवं छान्दोग्य[७] उपनिषदों में इतिहास–पुराण का एक साथ उल्लेख किया गया है। सम्भवतः ये वेदों के समकक्ष लोकमान्य हो चुके थे, क्योंकि इन्हे पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है। वायु पुराण के अनुसार यह व्युत्पत्ति है–पुरा अनति अर्थात् प्राचीन काल में जो जीवित था।[८] पद्म पुराण के अनुसार यह निरुक्ति इससे किञ्चित् भिन्न है– 'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो प्राचीनता की अर्थात् परम्परा की कामना करता है वह पुराण कहलाता है।[९] ब्रह्माण्ड पुराण की इससे भिन्न एक तृतीय व्युत्पत्ति है– 'पुरा एतत् अभूत्' अर्थात् 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ'।[१०]

१– बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ सख्या–४

२– बलदेव उपाध्याय, वही।

३– अथर्ववेद, ११.७.२७

४– अथर्ववेद, ११.८.२७

५– तैत्तिरीय आरण्यक, २.६

६– बृहदारण्यक उपनिषद्, २.४.११

७– छान्दोग्य उपनिषद, २.४.११

८– यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम। निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपाषैःप्रमुच्चते।। वायु पुराण–१/२०३

९– पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम।। –पद्मपुराण, ५/२/५३

१०– यस्मात् पुरा हयभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मतम्। निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

ब्रह्माण्ड पुराण–१/१/१७३

ब्राह्मण–साहित्य में भी 'पुराण' का अस्तित्त्व प्रमाणित होता है। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों में पुराण का बहुत उल्लेख उपलब्ध होता है, जिससे इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है। गोपथ का कथन है कि कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यात तथा पुराण के साथ सब वेद निर्मित हुए।[1] यहाँ इतिहास पुराण का सम्बन्ध वेद से जोड़ा गया है। दूसरे मंत्र में गोपथ ब्राह्मण पाँच वेदों के निर्माण की बात कहता है और ये वेदपंचक हैं– सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहास वेद तथा पुराणवेद।[2]

इन वेदों के निर्माण के विषय में कहा गया है कि प्राची दिशा से सर्पवेद का निर्माण हुआ, दक्षिण दिशा से पिशाचवेद का, पश्चिम दिशा से असुरवेद का, उत्तर दिशा से इतिहास वेद का तथा ध्रुवा (पैरों से ठीक नीचे वाली दिशा) और उर्ध्वा (सिर के ठीक ऊपर की दिशा) से पुराण का निर्माण हुआ।[3] ये उस युग में स्वतंत्र वेद या वेद के समान ही मान्य शास्त्र थे। भिन्न दिशाओं से उत्पन्न होने तथा भिन्न व्याहृतियोंके उद्‌गम स्थल होने के कारण गोपथ ब्राह्मण इतिहास और पुराण को विभिन्न विद्याओं के रूप में ग्रहण करता है।

शतपथ ब्राह्मण अपने विशाल क्षेत्र में इतिहास पुराण के उदय की बडी ही महत्त्वपूर्ण गाथा सुरक्षित रखे हुए है, जिसका अनुशीलन अनेक नवीन उपलब्धियों को प्राप्त कराने मे सर्वथा समर्थ है। पुराण की महत्ता के परिचय स्वरूप 'शतपथ ब्राह्मण' से ज्ञात होता है कि–'विभिन्न वेदों का स्वाध्याय विभिन्न फल प्रदान करता है। अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास–पुराण, गाथा तथा नाराशंसी के स्वाध्याय करने से देवों को मधु से पूर्ण आहुतियॉ प्राप्त होती हैं।[4]

१– एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वास्यातः सपुराण·।–गोपथ, पुर्वभाग –२/१०

२– पंञ्चवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिचाशवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदं। –तत्रैव, १/१०

३– स खलु प्राच्या एव दिश· सर्पवेदं निरमिमत, दक्षिणस्याः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवाया श्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्। –तत्रैव, १/१०

४– मध्वाहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंस्य·। य एव विद्वान अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।। मध्वाहुतिभिरेव तद्‌देवांस्तर्पयति। –शतपथ ११/५/६/८

संकलित साहित्य के रूप में पुराण–संरचना सम्भवतः धर्मसूत्रो के काल में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आश्वालायन गृह्यसूत्र[1] में 'पुराण–पाठ' का उल्लेख मिलता है। गौतम धर्मसूत्र में न्याय प्रक्रिया में निर्णय एवं प्रामाणिकता के लिए वेद, व्यावहार शास्त्र तथा वेदांग के साथ–साथ 'पुराण' को भी उपयोगी बताया गया है।[2] अथच, न्यायिक कार्यों के सम्पादन में पुराणों की उपादेयता धर्म ग्रन्थों से समर्थित होती है।[3] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्म के चौदह प्रमुख स्रोतों में पुराण को भी प्रतिष्ठित किया गया है। गौतम धर्मसूत्र में आख्यात 'पुराण' मौखिक परम्परा से पृथक् सम्भवतः संकलित ग्रन्थ के रूप में आकार ग्रहण कर चुके थे ।[4] इसी काल में प्रणीत आपस्तम्ब धर्मसूत्र[5] मे तीन स्थलों में पुराण शब्द का उल्लेख आया है । अन्यत्र इसी धर्मसूत्र में दो पौराणिक श्लोक उद्धृत हैं । किन्तु ग्रन्थकार ने इनके स्रोत का संकेत नहीं किया है । एक स्थल पर 'भविष्य पुराण'[6] का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।

पुराणों के स्वरूप के विषय में मतभेद है । कुछ लोग इन्हें शुद्ध धार्मिक और कुछ इन्हें मात्र ऐतिहासिक मानते हैं । हिन्दू धर्म में आस्था रखने वाले लोग इसे शुद्ध धार्मिक मानते हैं । पुराण हिन्दू धर्म के अभिन्न स्वरूप हैं । हिन्दू धर्म में जो समय–समय पर विप्लव हुआ है उसका सीधा प्रभाव पुराणों पर पड़ा है । यद्यपि पुराणों ने अपनी प्राचीन अक्षुण्णता को सर्वदा सुस्थिर रखने का प्रयास किया। है, फिर भी सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव के कारण पुराणों में अनेक प्रक्षेप या पाठभेद सहज ही प्रवेश कर गये हैं ।

१– आश्वालायन गृहयसूत्र, ३.३.१, ४.६
२– गौतम धर्मसूत्र, ११.१६
३– ''पुराण न्यायमीमांसाधधर्मशास्त्राङ्ग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।''
–याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३, द्रष्टव्य, विष्णु–पुराण,–३.६.२८
४–सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृष्ठ–२६,३१
५–आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.२३.३५
६–आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.६.२४.६

पुराणों को इतिहास का स्वरूप मानने वालों का कहना है कि यदि पुराणों का स्वरूप ऐतिहासिक न होता तो इसमें बार–बार इतिहास शब्द का उल्लेख क्यों होता ? पद्म पुराण इसे ऐतिहासिक बताते हुए कहता है कि ऋषियो के प्रश्न करने पर व्यास ने कहा कि– हे मुनियों, मैं आपको प्राचीन इतिहास बताता हूँ ।[1] ऐसा कहकर उन्होंने पुराण की कथा को सुनाया। इतना ही नही बल्कि पद्म पुराण ने तो पुराणों को स्पष्ट रूप से इतिहास की संज्ञा से विहित किया है तथा इन्हें इतिहास काव्य कहा है ।[2] पुराणों के कथावाचक श्री सूतजी ने भी पुराणों के स्वरूप को ऐतिहासिक बताते हुए अपने इतिहास–पुराण के अधिकाधिक ज्ञान हेतु ब्रहमवेत्ता भगवान् व्यास की उपासना कर अपने इतिहास–पुराण के रहस्य की वृद्धि की कामना की थी ।[3] शिव पुराण, पुराणों को इतिहास का स्वरूप मानता हुआ कहता है कि इतिहास–पुराण शास्त्र और वेदों का बार–बार मनन करके श्री व्यास जी ने उनका पाठ अपने शिष्य सूत को पढ़ाया था ।[4]

इस प्रकार विविध पुराणों के विविध आख्यानों में कथित इतिहास–पुराण शब्द का प्रयोग इस तरह किया गया है कि ये दोनों शब्द परस्पर एक दूसरे के पूरक हो गये है । एक के अभाव में दूसरा शब्द अधूरा सा जान पड़ता है । इस प्रकार हम देखते है कि पुराणों का स्वरूप धार्मिक होते हुए भी ऐतिहासिक है । क्योंकि इनमें मानव की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का जो सृष्टि विषयक वर्णन है, वह मानव के इतिहास पर पूर्ण प्रकाश डालता है। पुराणों का सर्ग–प्रति–सर्ग वर्णन जहाँ धार्मिक रहस्यों पर प्रकाश डालता है, वहीं इनका वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित वर्णन इतिहास की रहस्यमयी बातो पर प्रकाश डालता है ।

१–तथान्य ते प्रवक्ष्यामि इतिहासं पुरातनम् । यथा रामेण यै तीर्थ पुष्कर तु विनिर्मितम् –पदम पुराण, १–१५/१
२–वदन्तु भगवन्तो मां कथयामि कथान्तु याम् ।
पुराण चेतिहासं वा धर्मामय पृथग्विधान् ।। –पद्मपुराण, १–१/१६
३–त्वया सूत महाबुद्धे भगवान् ब्रह्मवित्तमः ।
इतिहास पुराणार्धं व्यासः सस्यनुपालितः ।। –पद्म पुराण, १–१/२०
४–इतिहास–पुराणानि वेदाछस्त्राणि चास्कृतः ।
विचार्योद्धृततत्सार मह्यं व्यासेन भाषितम् ।। –शिवपुराण २–कोटिसद्र संहिता–१२/४३

पुराणों का रचना–स्थान तथा समय

प्राचीन काल में तीर्थ स्थानों में पुराणों की कथा हुआ करती थी जिसे सुनने के लिए दूर–दूर से लोग आया करते थे। यह प्रसिद्ध है कि नैमिषारण्य, जो उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में नेमिसार अथवा नीमसार के नाम से प्रसिद्ध है, में साठ हजार ऋषियों को 'सूत्र' ने पुराणों की कथा सुनायी थी। इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि ये तीर्थ स्थान ही पुराणों की रचना तथा श्रवण के स्थान रहे होंगे। सभी पुराणों की रचना एक ही तीर्थ अथवा क्षेत्र में हुई इसे स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। पौराणिक विवरणों से ज्ञात होता है कि वे निश्चयतः भारत के विभिन्न भागों में अनेक कालों में रचे गये होंगे। विभिन्न पुराणों में किसी एक विशेष तीर्थ स्थान, नग अथवा नदी का विशद् तथा विस्तृत वर्णन पाया जाता है। उस तीर्थ के माहात्म्य की बृह्द प्रशंसा की गई है। कहीं–कहीं किसी स्थान विशेष के प्रति पक्षपात पूर्ण विवरण भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए पद्मपुराण में पुष्कर क्षेत्र की महिमा का अत्यन्त भव्य वर्णन मिलता है। इसमें इसे समस्त तीर्थों में श्रेष्ठ तथा महत्वपूर्ण कहा गया है। अतः विद्वानों ने इन उल्लेखों के आधार पर पुराणों के रचना–स्थल का अनुमान लगाने का प्रयास किया है। दीक्षितार के मतानुसार वायु पुराण की रचना गया, ब्रह्मवैवर्त्त की उड़ीसा, मार्कण्डेय पुराण की रचना नर्मदा की घाटी में मानी जा सकती है।[1] एक अन्य उल्लेख के अनुसार पुराणों के रचनास्थल निम्नांकित हैं–ब्रह्म–पुराण की रचना उड़ीसा, पद्म पुराण की पुष्कर, अग्नि पुराण की गया, कूर्म पुराण की वाराणसी, वाराह पुराण की मथुरा, वामन पुराण की स्थाणेश्वर और मत्स्य पुराण की नर्मदा की घाटी में हुई ।[2]

पुराणों की रचना कब हुई इस विषय पर काफी मतभेद है । कुछ विद्वान यहाँ तक कि पुराण स्वयं अपनी रचना को वेदों के साथ–साथ या इससे पूर्व की बतलाते है। इस विषय में मत्स्य

१–दीक्षितार, दि पुराणः ए स्टडी, इ० हि० क्वा०, भाग –८, पृष्ठ, ७४७

२–एस० भीमशंकर राव, हिस्टारिकल इम्पार्टेंस आफ दि पुराणाज, क्वा० ज० आ० हि० रि० सो०, भाग २, पृष्ठ८०

पुराण कहता है कि ब्रह्मा जी के मुख से वेदों का अविर्भाव हुआ ।[1] पद्मपुराण ने पुराणों की रचना को सभी शास्त्रों से पूर्व की बताते हुए इस कथन का समर्थन किया है। यदि हम इन कथनों का, निरुक्त द्वारा प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार विवेचन करे तो यह कथन अचरितार्थ होता है, क्योंकि निरुक्त के अनुसार पुराण की परिभाषा 'पुरा नवं भवति' है। पुराणों ने सृष्टि के सर्जन का स्रोत ब्रह्मा को कहा है, और वेदों को ब्रह्मा के मुख से उच्चरित कहा है। यदि हम यह मान लें कि ब्रह्मा ने वेदों के पूर्व पुराण की रचना की, तो वेद तो अपौरुषेय एवं आदि ग्रन्थ हैं, और पुराण प्राचीन गाथाओं का स्वरूप। तो फिर कौन सी वे बातें थीं जो वेदों से भी पूर्व विद्यमान थीं, जिनका वर्णन ब्रह्मा ने पुराण के रूप में किया। वेदो की रचना तो ब्रह्मा ने स्वयं धर्म के समन्वय एवं मानवहित के लिए की थी, और उन्हीं वेदो के उपवृंहण हेतु हमारे मनीषियो ने पुराणों की रचना की। सम्भवतः पुराणवेत्ताओ ने पुराणों की महत्ता के प्रतिपादन हेतु ही ऐसा कहा है, अन्यथा पुराण वेदों के साथ की रचना नही है ।

आनन्द स्वरूप गुप्त ने पुराणों का रचनाकाल निर्धारण करते हुए लिखा है–'वर्तमान पुराण ग्रन्थों को प्राचीन पुराण–ग्रन्थों का संशोधित रूप ही समझना चाहिए, और कुछ प्रक्षिप्तांशो को छोडकर कोई भी पुराण–ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी के बाद का नहीं है, क्योंकि अरब के विद्वान अल्बरूनी ने १०३० ई० में अपने ग्रन्थ में इन सभी अठारह महापुराणों तथा कुछ उप–पुराणों का भी उल्लेख किया है।[2] पुराण के समय निर्धारण के विषय में डा० आर० सी० हाजरा ने लिखा है –"पुराणों के काल निर्धारण की कोई निश्चित तिथि नहीं बतायी जा सकती है।"[3] फिर भी उन्होंने `पुराणों का रचनाकाल २०० से १००० ए० डी० किया है। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि 'भारतीय साहित्य का कोई विशेष साहित्य जो अपने होने का दावा करता है, तो वह पुराण है।[4]

१– पुराणां सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यों वेदास्तस्य विनिर्गताः ।। –मत्स्य पुराण, ५३/१ तथा पद्म पुराण–सृष्टि० १/४५

२– वामनपुराण भूमिका, पृष्ठ–८ (अल्बरूनी का भारत भाग–एक, पृष्ठ १३०–१३१)

३– हाजरा, स्टडीज इन दि पुरानिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृष्ठ–३

४– हाजरा, वही

डब्ल्यू० जे० विकिन्स ने अपनी पुस्तक हिन्दू माइथोलॉजी' में पुराणों का समय निर्धारण करते हुए कहा है–"कोई भी पुराण आठवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं है।"[1]

पुराणों की रचना को वेदों के साथ की रचना मानने वाले विद्वानों ने सम्भवतः पुराणों में वर्णित सर्ग–प्रतिसर्ग एवं अथर्ववेद में कथित उस यज्ञ के परिणामस्वरूप उत्पन्न परमात्मा ने वेदों की रचना के साथ–साथ पुराणों की भी रचना की,[2] इस वाक्य को आधार मानकर कहा है । किन्तु पुराणों की रचना को वेदों की रचना के साथ–साथ मानना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता है, क्योंकि पुराणों में वर्णित सृष्टि के सर्जक विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी भी पौराणिक देव जैसे शिव, ब्रह्मा आदि का विवरण वेदों मे नहीं है । यदि पुराणों की रचना वेदों के साथ–साथ हुई होती तो मात्र विष्णु, ही नाम सर्जक के रूप में हुआ होता, अन्य देवताओं का नहीं । अतः स्पष्ट है कि पुराणों की रचना वेदों के काफी पश्चात् हुई।

पुराणों में वर्णित अतिप्राचीन एवं अत्याधुनिक विवरणों को देखकर इनके रचनाकाल का निर्धारण करना अति कठिन हो जाता है । उपर्युक्त कथित विद्वानों के अतिरिक्त अन्य कई विद्वानो ने अनेक प्रकार के प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए इनका समय निर्धारण करने का प्रयास किया है, किन्तु अभी तक कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं कर सके हैं । भाषा विज्ञान विदों ने पुराणों की रचना के विषय में जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनमें महाकवि–बाण–विरचित हर्षचरित, महाभारत–कालीन व्यास के कुछ श्लोक, मतस्य वायु और ब्रह्माण्ड पुराण के कुछ आभ्यान्तर साक्ष्य तथा आपस्तम्ब सूत्र आदि का उल्लेख हुआ है । इन उल्लेखों के .आधार पर पुराणों को भिन्न समयों की रचना स्वीकार किया गया है । इतिहासकारों ने ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करते

१–डब्ल्यू० जे० विकिन्स, हिन्दू माइथोलोजी, पृष्ठ–६०

२–श्रव. सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषां सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रताः ।।

अथर्ववेद–११–७ / २४

हुए आन्ध्रों के पतन का वर्णन एवं समुद्रगुप्त की विजय आदि को आधार मानकर मत्स्य एवं भविष्य पुराण की रचना को २३६ ई० से ३३० ई० के बीच माना है । चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वायुपुराणगत वक्ष्यमाण श्लोक की तरफ ध्यानाकर्षित करते हुए इनका समय गुप्त काल के अवसान का समय बताया है[१] जो ५०० ई० के बाद का है । भागवत पुराण का रचनाकाल निर्धारित करते हुए वैद्यजी ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है और इस परिणाम पर पहुँचें है कि भागवत पुराण नवीं शताब्दी के पश्चात् और 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव (११६४ ई०) के पूर्व का है । कुछ विद्वानों जैसे आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि ने पुराणों की रचना को ईसा की दूसरी शताब्दी पूर्व से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी तक माना है । महाभारत में भी कई स्थलों पर 'पुराण' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो इस बात को प्रमाणित करता है कि कुछ पुराणों की रचना महाभारत से पूर्व हो चुकी थी । यथा महाभारत के आदि पर्व सर्प यज्ञ में कथित वाक्य "यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है"[२] तथा 'सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति पुराणानुसार है' आदि ।

इस प्रकार वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि विविध ग्रन्थों तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों पर विचार करने से पता चलता है कि पुराणों की रचना ईसा पूर्व ईसा की बारहवीं शताब्दी तक होती चली आयी है, जो अपने आप में एक अद्भुत बात है । विश्व का कोई भी ग्रन्थ अथवा साहित्य ऐसा नहीं है जिसकी रचना इतने दीर्घकाल तक निरन्तर होती चली आयी हो । विभिन्न विद्वानो द्वारा प्रस्तुत मतों के आधार पर पुराणों की रचना को ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की बारहवीं शताब्दी तक मानना ही न्याय–संगत है, क्योंकि मत्स्य तथा भविष्य पुराण की रचना ईसा की दूसरी शताब्दी के आस–पास तथा भागवत पुराण की रचना बारहवीं शताब्दी के लगभग हुई ।

१–अनुगंग प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा ।
  एताञ्जनपदान् सर्वान् मोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ।। –वायुपुराण

२–महाभरत–आदि पर्व–सर्प यज्ञ, पृष्ठ–३० गीता प्रेस, गोरखपुर ।

पुराणों के कर्त्ता

पुराणों की संख्या अठारह है। किन्तु इन पुराणों में वर्णित विषयों का अध्ययन करने पर हमें कई स्थलों पर परस्पर विरोधी आख्यानों को देखकर यह प्रश्न सहाज ही उठ खडा होता है कि पुराण एक व्यक्ति की रचना है, अथवा कई व्यक्तियों की?

पुराण कर्त्ता के सम्बन्ध में पुराणो का यह कथन सत्य है कि पुराणों की संख्या का निर्धारण विवादास्पद है और जब पुराणों की संख्या का निर्धारण विवादग्रस्त है तब उनकी रचना का विषय भी स्वाभावतः विवादग्रस्त हो गया। वास्तव में पुराणों की संख्या अठारह न होकर पूर्व में एक ही रही होगी जिसे हम 'पुराण संहिता' कह सकते हैं, किन्तु स्कन्द पुराण में पुराणों के कर्त्ता वेद व्यास जी को सत्यवती का पुत्र बतलाया गया है। उक्त पुराण में यह भी कहा गया है कि "विभिन्न युगों में भगवान ने स्वंय व्यास का रूप धारण कर अष्टादश पुराणें को संसार में प्रकाशित किया।[1]" पुराण के अनुसार भी पुराणों के कर्त्ता सत्यवती के पुत्र व्यास जी हैं।[2] मत्स्य पुराण में वर्णित है कि अष्टादश पुराणों के रचयिता सत्यवती के पुत्र व्यास हैं, जिन्होंने इसके पश्चात् महाभारत की रचना की।[3] परन्तु वेद–व्यास सभी पुराणों के कर्त्ता नहीं माने जा सकते। गरुड़ पुराण के अनुसार गरुड ने वरदान प्राप्त किया था कि उन्हें पुराण संहिता का कर्त्ता माना जाय। इसी प्रकार पुराणों के प्रणयन के लिए महर्षि पराशर को भी वरदान मिला था।[4] पुराण में पुराणों के रचयिता मनु कहे गए हैं।[5] इन उल्लेखो से ज्ञात होता है कि व्यास सभी पुराणों के रचयिता नहीं थे। पद्म पुराण में यह वर्णित है कि ब्रह्मा ने विभिन्न युगों में व्यास का रूप धारण कर पुराणों की रचना की।[6] जिससे ज्ञात होता है कि व्यास एक नहीं, अनेक थे।

१– " व्यास रूप विभु कृत्वा संहरेत् स युगे –युगे।
तदेष्टादशधाकृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाशते।। " – स्कन्द पु०, रेवाखण्डे, १.२३.३०

२– पद्म पु०, सृष्टि खण्ड, १–५०

३– " अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः" –मत्स्य पु०, ५३–७०

४– हरप्रसाद शास्त्री, द० महापुराणाज, बि० ओ० रि० सो० भाग १४, पृ० ३२३

५– अष्टादश पुराणानां व्यास कर्त्ता तु भवेन्मनुः।" –पद्म पु० पातला खण्ड, १११, ६८

६– पद्म पु०, सृष्टि खण्ड १.५०

यदि हम अठारह पुराणो को ज्यों का त्यों व्यास–रचित मान लें और उस व्यास को व्यक्ति विशेष मान लें तब फिर पुराणों के विविध वर्णन, उनके विचारों में सृष्टि के सम्बन्ध में भिन्नता जैसे–ब्रह्मा से सम्बन्धित पुराणों में ब्रह्म की महत्ता, शिवसम्बन्धी पुराणों में शिव की महत्ता तथा विष्णु से सम्बन्धित पुराणों में विष्णु की महत्ता तथा उन विविध देवों द्वारा सृष्टि का सर्जन आदि से परस्पर विरोधी कथन इस बात के द्योतक है कि वास्तव में पुराण आरम्भ में एक ही रहा होगा और एक व्यक्ति–विशेष द्वारा रचा गया होगा, जिसे व्यास कहते हैं, किन्तु उत्तरोत्तर शिष्यों की संख्या में वृद्धि होने से उनकी रचनाओं में परस्पर विरोधी वर्णन तथा वर्णनों की आवृत्ति आना स्वाभाविक है। पुराणो की रचना को शिष्य–परम्परा के अग्रसर होने का वर्णन करते हुए विष्णु पुराण कहता है कि प्रत्येक द्वापर युग में भगवान विष्णु व्यास के रूप में अवतीर्ण होते हैं, और संसार के कल्याणार्थ एक वेद के अनेक भेद कर देते हैं।[1] यद्यपि सभी वेद व्यास नारायण के ही स्वरूप है, फिर भी यह स्वाभाविक है कि भिन्न–भिन्न समयों में अवतीर्ण वेदव्यास भिन्न–भिन्न हैं, अतः विचारों में भिन्नता स्वाभाविक है। यही कारण है कि पुराणों के लक्षणों में साम्य होते हुए भी विचारों में साम्य नहीं है। कहीं तो सृष्टि का वर्णन बह्मा, विष्णु और शिव को नारायण या विष्णु का स्वरूप मानकर उद्‌भव, स्थिति एवं प्रलय रूप मान लिया गया है। यही वास्तव में सत्य भी है, क्योंकि नारायण अपनी त्रिगुणात्मिका शक्ति के कारण ही सर्जन, पालन एवं संहार में प्रवृत्त होता है। विष्णु पुराण आगे कहता है कि ब्रह्मा जी की प्रेरणा से जब व्यास जी ने वेदों का विभाजन किया तो उन्होंने वेदों के अध्ययन हेतुवार शिष्यों को चुना, उन शिष्यों में से सूत जातीय बुद्धिमान रोम हर्षण को महामुनि व्यास जी ने अपने इतिहास–पुराण विधार्थी के रूप में ग्रहण किया।[2] तदनन्तर पुराण विशारद व्यास जी ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्प शुद्धि सहित पुराण–

१– द्वापरे–द्वापरे विष्णु व्यास रूपी महामुने।
वेदमें सुबहुधा कुरूते जगतों हितः।।
वीर्य तेजों बलं वाल्पं मनुष्याणमवैक्ष्याद।
हिताय सर्वभूतानां वेद भेदान्करोति स।। –विष्णुपुराण अंश ३–३/५. ६

२– रोमहर्षण–नामनानं महाबुद्धि महामुनिः।
सूतं जग्राह शिष्यं स इतिहासपुराणयोः।। –विष्णु पुराण अंश– ३–४/१०

संहिता की रचना की। पुराण संहिता की रचना कर व्यास जी ने उन संहिताओं को अपने शिष्य सूत जी को पढाया और अपने शिष्यों सुमति अग्नि वर्मा, सावर्णि आदि को बताया।

इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास किसी व्यक्ति–विशेष का नाम नहीं, बल्कि, भगवान के विभिन्न अवतारों का ही नाम व्यास है। जैसा कि व्यास शब्द से ज्ञात होता है। व्यास का शाब्दिक अर्थ विस्तार करने वाला होता है। अतः व्यास किसी व्यक्ति–विशेष का नाम नहीं माना जा सकता। व्यास का अभिप्राय भी पौराणिक विद्धानों से है, जिन्होंने समय–समय पर पुराणों में संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया। पुराणों में उपलब्ध के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनके रचयिता किसी– व्यक्ति– विशेष को नहीं स्वीकार किया जा सकता। विभिन्न पुराणों की भाषा, शैली, वर्णन–पद्धति, छन्द–योजना तथा रस–निरूपण में इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि इन्हे किसी एक ही व्यक्ति की रचना स्वीकार करना सन्दिग्ध प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए भागवत, स्कन्द एवं पद्म पुराणों को लिया जा सकता है। भागवत पुराण की भाषा बड़ी क्लिष्ट है। इसकी समास–बहुल पदावली तथा विभिन्न छन्दों की योजना अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती इसके विपरीत पदम् पुराण की भाषा सरल तथा सहज है। इस वैषम्य एवं शैली विभेद से स्पष्ट है कि एक ही रचयिता के द्वारा सभी पुराणों का प्रणयन नहीं हुआ है।

व्यास कोई अन्य प्राणी नहीं बल्कि कथावाचक थे, जिन्होंने ईश्वर स्वरूप व्यास द्वारा प्राप्त कथा, कहानी, अथवा इतिहास (जिसका समन्वित स्वरूप पुराण के नाम हैं, जाना जाता है) को अपने शिष्यों को पढ़ाया और शिष्यों ने अपनी–अपनी बुद्धि के अनुसार देवों की आंराधना की। शिष्यो के विचारों में भिन्नता होने के कारण पुराणों में कुछ भिन्नता स्वाभाविक है, किन्तु पूर्ण भेद असम्भव है। पुराणकारों के अनुसार पुराण के आदि ज्ञाता तो व्यास हैं अतः मूल कथा में परिवर्तन होना असम्भव है। ईश्वर स्वरूप व्यास ने अथवा उनके शिष्यों ने जो कुछ परिवर्तन किया होगा वह युग विशेष के अनुसार ही किया होगा। व्यवहार में भी देखा जाता है कि वागिन्द्रिय (जिह्वा) तथा श्रवर्णेन्द्रिय (कान) की भिन्नता के कारण वर्ण्य–विषयों में वक्ता एवं श्रोता के क्रम से कुछ न कुछ

भेद हो ही जाता है। अतः पुराणों में यह परिवर्तन, गुरू एवं शिष्य की परम्परा तथा सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के परिणाम का फल है। पुराण–रचना के विषय में ब्रह्मवैवर्त पुराण कहता है कि सर्वप्रथम भगवान विष्णु ने पुराणों को ब्रह्मा से पढ़ाया, ब्रह्मा ने धर्म को, धर्म ने नारायण को और नारायण ने नारद को तथा नारद ने व्यास को अपना परम शिष्य समझकर पुराण का उपदेश दिया।[1] ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की यदि समीक्षा की जाय जो वह कथन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता । ऐसा सम्भवतः विष्णु को श्रेष्ठ सिद्ध करने हेतु ही कहा गया है। पुराणाकार अपने आराध्य देव विष्णु की प्रशंसा करने में यह भूल गया कि आदि पुरूष नारायण हैं और नारायण ही ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव रूप में अवतीर्ण होते हैं। अतः विष्णु द्वारा पुराण का उपदेश दिया जाना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। भविष्यत् पुराण ने तो यहाँ तक कह दिया है कि अलग–अलग पुराणों के रचयिता भी अलग–अलग है, यथा–

विष्णु पुराण–पराशर, स्कंद पुराण–शिव

पद्म पुराण–ब्रह्मा:, भागवत पुराण–शुक्र

ब्रह्म पुराण–ब्रह्मा, गरुड़ पुराण–हरि

मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, अग्नि, शिव तथा वायु पुराण–व्यास मुनि ।

मार्कण्डेय, वाराह–मार्कण्डेय मुनि, अग्नि पुराण–अंगिरा ।।

अतः अनुमान किया जा सकता है कि व्यास व्यक्तिवाचक शब्द न होकर जातिवाचक था, जो पुराणों के सम्पादक तथा संशोधनकर्त्ता के लिए प्रयुक्त होता था। आजकल भी पुराणों के ज्ञाता कथावाचक को व्यास कहा जाता है।

१.– श्री विष्णुर्भगवान साक्षाद् ब्रह्माञ्च स्वभक्तान्।
ब्रह्मा धर्मञ्च धार्मिक धर्मो नारायणम् मुनिम्।।
नारायणो नारदञ्च नारदो ना व भक्तान्।
ब्रह त्वा' व मुनिश्रेष्ठ वरिष्ठं कथयामि तत्।।
ब्रह्म वैवर्त्तपुराण भाग/–११०/१६,१७

पुराणों के भेद, संख्या तथा कम

पुराणों का विभाजन कई प्रकार से किया जा सकता है। जैसे–सृष्टि–सर्जना के आधार पर, वर्ण्य–विषय के आधार पर, ज्ञान एवं कर्म योग के आधार आदि पर। सृष्टि–सर्जना की दृष्टि से पुराणों का विभाजन राजस, सात्विक एवं तामस तीन श्रेणियों में किया जा सकता है। पुराणों में वर्णित विविध प्रकार के उपाख्यानों को आधार मानकर यदि पुराणों का भेद–प्रभेद किया जाय तो कुछ पुराण ऐसे हैं जिनमें मानव जीवन के आचार–विचार एवं रहन–सहन का वर्णन प्रमुख एवं अन्य वर्णन गौण है, जैसे–मार्कण्डेय पुराण । पुराणों का तृतीय भेद उनके अन्दर निहित ज्ञान एवं कर्म–योग के आधार पर किया जा सकता है । ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कराना ही कुछ पुराणों का प्रमुख उद्देश्य है, जिसमें नारदीय पुराण उल्लेखनीय है । पुराणों के विभाजन पर अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए पद्म पुराण ने कहा है कि पुराणों में पॉच प्रकार का वर्णन मिलता है–सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर देव ऋषि, राजवंश एवं उनका इतिहास तथा आचार–विचार एवं सद्असद् वर्णन। यदि पद्म पुराण के इस कथन को आधार मानकर पुराणों का भेद–प्रभेद किया जाय तो इस श्रेणी में केवल वायु पुराण आता है। दूसरी श्रेणी के वे पुराण हैं जिनमें किसी देवता अथवा अवतार का वर्णन है। इस श्रेणी में लिंग–पुराण, शिव–पुराण, ब्रह्मवैवर्त–पुराण आदि है। तीसरी श्रेणी उन पुराणों की है जिनका सम्बन्ध तीर्थों एवं व्रतों से हैं। इस श्रेणी में मत्स्य एवं स्कन्दपुराण हैं। चौथी श्रेणी उन पुराणो की है, जिनका सम्बन्ध विद्याओं एवं विभिन्न विषयों की जानकारी से है। इस श्रेणी में अग्नि, गरुड़ एवं नारद पुराण हैं। पाँचवीं और अन्तिम श्रेणी उन पुराणों की है, जिनका उद्देश्य विशेष उपाख्यानों के वर्णन से है। इस श्रेणी के पुराण मार्कण्डेय एवं पद्म पुराण है।

पुराणों में उपलब्ध विभिन्न वर्णनों की समीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि पुराण मुख्यतया भौतिक जगत् तथा आध्यात्मिक जगत् की चर्चा करते है । अपने पंच लक्षणों सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित के अतिरिक्त पुराणों ने मुख्यतः जीवन के दो पहलुओं का विशद वर्णन किया है–कर्म सम्बन्धी और ज्ञान सम्बन्धी ।

कर्म से सम्बन्धिपत विवेचनाओं में पुराणों में मानव–जीवन के उचित एवं अनुचित कर्मों की सम्यक् व्याख्या करते हुए उनके परिणाम स्वरूप होने वाले फलों के भोग का वर्णन किया गया है, तथा अध्यात्म–ज्ञान सम्बन्धी वर्णनों में विविध देवताओं की उपासना, ब्रह्मचर्य जीवन, जप–तप संयम और नियम आदि की चर्चा की गयी है। अन्वीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों का ज्ञान सम्बन्धी तथा कर्म सम्बन्धी भेद अत्यधिक उपयुक्त एवं युक्ति–संगत है।

महाभारत तथा पुराणकार पुराणों की कुल संख्या अठारह ही स्वीकार करते है। इनमें 'अष्टादश पुराणानि' का उल्लेख प्रायः मिलता है। यद्यपि पुराणकार इनके क्रम के विषय में एकमत नहीं है तथा विविध पुराणों[1] में इनका क्रम भिन्न–भिन्न है, तथापि सामान्यतः इनका प्रचलित क्रम निम्नोक्त है :

१. ब्रह्म	७. मार्कण्डेय	१३. स्कन्द
२. पद्म	८. अग्नि	१४. वामन
३. विष्णु	६. भविष्य	१५. कूर्म
४. शिव	१०. ब्रह्मवैवर्त्त	१६. मत्स्य
५. भागवत	११. लिंग	१७. गरुड़
६. नारद	१२. वाराह	१८. ब्रह्माण्ड

पद्म पुराण के आदि, पाताल तथा उत्तर खण्डों में अठारहों पुराणों के नाम–क्रम को कुछ अन्तर के साथ दिया हुआ है । इस पुराण के उत्तर खण्ड में ही दो स्थानों में पुराणों का उल्लेख किया गया है, जिनके नाम–क्रम में अन्तर है ।[2]

१–विष्णु पु०, ३.८, भागवत पु०, १२ १३, पद्म पु०, १.६२ वाराह पु०,११२; मत्स्य पु०, ५३, अग्नि पु०, २७२; नारद पु०, ६२

२–पद्म पु०, उत्तर खण्ड, २१६–२५–२७; २६१.७७.८१

आदिखण्ड	पातालखण्ड	उत्तर खण्ड
१. पद्म	ब्रह्म	ब्रह्म
२. ब्रह्म	पद्म	पद्म
३. विष्णु	विष्णु	विष्णु
४. शिव	शिव	शिव
५ भागवत्	भागवत्	भागवत्
६. नारद	भविष्य	नारद
७. मार्कण्डेय	नारद	मार्कण्डेय
८. अग्नि	मार्कण्डेय	अग्नि
९. भविष्य	अग्नि	भविष्य
१०. ब्रह्मवैवर्त	ब्रह्मवैवर्त	ब्रह्मवैवर्त
११. लिङ्.ग	लिङ्.ग	लिङ्.ग
१२. वाराह	वामन	वाराह
१३. स्कन्द	स्कन्द	वामन
१४. वामन	मत्स्य	कूर्म
१५. कूर्म	कूर्म	मत्स्य
१६. मत्स्य	वाराह	गरुड़
१७. गरुड़	गरुड़	स्कन्द
१८. ब्रह्माण्ड	ब्रह्माण्ड	ब्रह्माण्ड

वायु पुराण में पुराणों की गणना जिस कम में की गयी है, उसमें बड़ा अन्तर है।[१] यद्यपि इसमें पुराणों की संख्या अठारह बतालाई गई है, परन्तु इसकी सूची में केवल सोलह पुराणों के

१–वायु पुराण, १०४.१

नाम ही उपलब्ध होते है। उनका क्रम इस प्रकार है–

१. मत्स्य	९. आदिक
२ भविष्य	१०. अनिल अर्थात् वायु
३. मार्कण्डेय	११. नारदीय
४. ब्रह्मवैवर्त्त	१२. वैनतेय
५. ब्रह्माण्ड	१३. पद्म
६. भागवत	१४. कूर्म
७. ब्रह्म	१५. शौकर (वाराह)
८. वामन	१६. स्कन्द

उक्त सूची में 'आदिक' नामक एक नये पुराण का उल्लेख हुआ है जो अठारह पुराणों की प्रचलित संख्या में परिगणित नहीं है। प्रसंगतः उल्लेखनीय है कि आदि पुराण की चर्चा वामन पुराण में भी प्राप्य है। इस पुराण में आदि पुराण का क्या तात्पर्य है, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

पद्म पुराण में केवल पुराणों के क्रम में अन्तर नहीं पाया जाता, बल्कि इनकी संख्या में भी बड़ा अन्तर मिलता है।[१] पाताल खण्ड में बाईस पुराणों का उल्लेख किया गया हैः

१. ब्रह्म	१२. स्कन्द
२. पद्म	१३. मत्स्य
३. विष्णु	१४. नृसिंह
४. मार्त्तण्ड	१५. कपिल
५. नारद	१६. वाराह
६. मार्कण्डेय	१७. ब्रह्मवैवर्त्त

---

१. पद्म पुराण, पाताल खण्ड, १०,५१,५३

७. अग्नि	१८. शिव
८. कूर्म	१६. भागवत्
६. वामन	२०. दुर्गा
१०. गरुड़	२१. भविष्योत्तर
११. लिङ्.ग	२२. भविष्य

इस सूची में सम्भवतः जिन बाईस पुराणों की गणना है, उनमें नृसिंह और कपिल उपपुराण हैं। मार्त्तण्ड और भविष्योत्तर पुराणों का नाम नया जुडा हुआ प्रतीत होता है। ये चारों ही सम्भवतः उपपुराण हैं। पद्म पुराण का यह स्थल उस समय का है जब इन उपपुराणों का प्रणयन हो चुका था।

देवी भागवत में उक्त सामान्य एवं सर्व–प्रचलित अष्टादश पुराणों के नामों का अल्लेख सूत्र रूप में दिया गया है।[1]

"मद्वयं, भद्वयं चैव ब्रत्रयं, वचतुष्टयम्।"

नालिङ्.गाग्निपुराणानि कूस्कं गारुड़मेव च।।

अर्थात् दो पुराण म अक्षर, दो भ अक्षर, तीन ब्र, चार व तथा अ, ना, पा, लि, ग, कू और स्क से एक–एक पुराण का नाम प्रारम्भ होता है। यथा–

प्रथम अक्षर से प्रारम्भ	पुराण संख्या	प्रथम अक्षर से प्रारम्भ	पुराण संख्या
म	१. मत्स्य	व	१०. विष्णु
	२. मार्कण्डेय		११. वायु
भ	३. भागवत	अ	१२. अग्नि
	४. भविष्य	ना	१३. नारद
ब्र	५. ब्रह्म	पा	१४. पद्म

१–देवी भागवत् पु०, १.३.२

	६. ब्रह्माण्ड	पा	१४. पद्म
	७ ब्रह्मवैवर्त्त	लि	१५. लिड्.ग
व	८. वाराह	ग	१६. गरुड
	६. वामन	कू०	१७. कूर्म
		स्क	१८. स्कन्द

पुराणों के विभाजन

मत्स्य पुराण के अनुसार पुराणों का त्रिविध विभाजन माना गया है—सात्विक, राजस, तामस। सात्विक पुराणों में विष्णु का माहात्म्य अधिक रूप से वर्णित है, राजस पुराणों में ब्रह्मा का तथा अग्नि का माहात्म्य अधिकांश वर्णित है। तामस पुराणो में शिव का।[1] इन तीनों से भिन्न एक संकीर्ण भेद भी है जिसमें सरस्वती तथा पितृ—गणों का माहात्म्य अधिकतर विद्यमान है। पद्म पुराण में सात्विक पुराणों की गणना भी निर्दिष्ट है—वैष्णव, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म तथा वाराह। किन्तु ध्यान देने की बात है कि इस विभाजन में अन्य पुराणों के साथ एकमत नहीं हैं, आश्चर्य तब होता है जब निश्चित रूप से शिवभक्ति के प्रतिपादक वायु पुराण को गरुड़ पुराण सात्विक पुराणों के अन्तर्गत रखता है। फलतः इस विभाजन में वैज्ञानिकता की आशा करना दुराशामात्र है। गरुड़ पुराण[2] एक पग आगे बढकर सात्विक पुराणों के भीतर तीन प्रकार का विभाग मानता है—(क)—सत्त्वाधम—मत्स्य तथा कूर्म, (ख)—सात्विक मध्यम—वायुः (ग)—सात्विक उत्तम—विष्णु, भागवत् तथा गरुड। देवता के प्राधान्य से पुराणों का विभाजन विद्वानों ने किया है। ग़रुड़ पुराण के पूर्वोक्त

१— सात्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः ।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ।।६७।।
तद्वदग्नेर्माहाम्य तामसेषु शिवस्य च
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणा च निगद्यते ।।६८।। —मत्स्य, अ० ५३१ ।

२— सत्त्वाधमे मात्स्यकौर्म तदाहुर्वायुं चाहुन्सात्विकं मध्यम च ।
विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्वोत्तमे गारुड़ प्राहुरार्याः ।। —गरुड़ पुराण

कथन में कूर्म भी सात्विक अर्थात् विष्णु–माहात्म्य प्रतिपादक पुराणों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, परन्तु इसके प्रकाशित अंश (ब्राह्मी संहिता) में शिव–शिवा के माहात्म्य का ही पूर्णतः प्रकाशन है। महेश्वर ही परमतत्व माने गए हैं। शक्ति का भी यहाँ विशिष्ट वर्णन है। श्री कृष्ण भी शिव की स्तुति करते हुए दिखाए गए हैं। ऐसी दशा में इसे 'सात्विक' क्यों कहा जा सकता है? वायु पुराण का स्वरूप निश्चयेन शिव–माहात्म्य–परक है और इसलिए यह स्कन्द पुराण में (शैव) नाम से भी अभिहित किया गया है।

उपाय देवों की विभिन्नता से पुराणों का विभाजन किया गया है। स्कन्द पुराण के केदार खण्ड के अनुसार दश पुराणों में शिव, चार में भगवान ब्रह्मा, दो में देवी और दो में हरि–इस प्रकार विभाजन किया गया है, परन्तु तत् तत् पुराणों के नाम निर्देश न होने से इस विभाजन की वैज्ञानिकता मापी नहीं जा सकती। इसी पुराण के 'शिव रहस्य' नामक खण्ड के अन्तर्गत सम्भव–काण्ड में एक दूसरा ही विभाजन किया गया है, जो इस प्रकार है–

१– शैव = शिव विषयक

शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिङ्.ग, वाराह, स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन तथा ब्रह्माण्ड (१०)।

२– वैष्णव = विष्णु विषयक

विष्णु, भागवत, नारदीय तथा गरुड. (४)

३– ब्राह्म = ब्रह्मा–विषयक (२)

ब्रह्म तथा पद्म

४– आग्नेय = अग्नि–विषयक (१)

अग्नि पुराण

५– सावित्र = सूर्य–विषयक (१)

ब्रह्मवैवर्त्त

स्कन्द पुराण के अनुसार प्रतिपाद्य देवानुसारी यह विभाजन वैज्ञानिक रीत्या शोभन नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'पद्मपुराण' तो निश्चयेन भगवान् विष्णु की महिमा का विशिष्ट भाव से प्रतिपादन करता है। इसीलिए गौडीय वैष्णवों के सिद्धान्तों का विकास विशेषतः राधा का, इसी पुराण के आधार पर है । यह विभाजन सामान्य रीत्या ही मान्य है

स्कन्द पुराण का विभाजन दो प्रकार से उपलब्ध होता है–

क– खंडात्मक विभाजन	ख– संहितात्मक विभाजन
क– माहेश्वर खंड	१– सनत्कुमार संहिता = ५५ हजार श्लोक
ख– वैष्णव खंड	२–सूत संहिता = ६ हजार श्लोक
ग– ब्रह्म खंड	३– शाङ्करी संहिता = ३० हजार श्लोक
घ– काशी खंड	४–वैष्णवी संहिता = ५ हजार श्लोक
ड.–अवन्ती खंड	५– ब्राह्मी संहिता = ३ हजार श्लोक
च– नागर खंड	६– सौरी संहिता = १ हजार श्लोक
छ– प्रभास खंड	————————————
	= १ लक्ष[1]
इस खंडों के अन्तर्गत अनेक अवान्तर खण्ड भी वर्तमान हैं।	इन संहिताओं के भी अनेक अवान्तर खण्ड हैं।
श्लोकों की संख्या ८१ हजार है।	

१– यह नाम सहिताओ का तथा उनकी श्लोक संख्या सूत संहिता (१अ० श्लो० १६–२४) के आधार पर है, जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि (ग्रन्था. २५) में पूना से प्रकाशित है । (१६२४ ई०) इसके ऊपर माधवाचार्य रचित 'तात्पर्य–दीपिका' व्याख्या भी यही प्रकाशित है। ध्यातव्य है कि ये माधव सायणाचार्य के अग्रज माधवाचार्य से नितान्त भिन्न हैं। ये मन्त्री होने के कारण माधव मन्त्री के नाम से प्रख्यात हैं, परन्तु हैं उनके समकालीन ही–१४वीं का मध्य भाग। विशेष द्रष्टाव्य "आचार्य सायण और माधव" (प्रकाशक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

सूतसंहिता शैवदर्शन के सिद्धान्तों की विस्तार से प्रकाशिका है। माधव की यह व्याख्या गम्भीर रहस्यों को सरलतया प्रकट करती है।

पुराणों का वर्गीकरण

अठारहो पुराणों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। अलग–अलग पुराणों ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की दृष्टियॉ अपनाई हैं। पुराण के पञ्च लक्षण को आधार मानकर प्राचीन और प्राचीनोत्तर ये दो विभाग किए जा सकते हैं। वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु प्राचीन पुराण मालूम पड़ते हैं, क्योंकि इन चारों में पुराण के पाँचों विषय उचित परिमाण में वर्णित हैं। इससे भिन्न को प्राचीनोत्तर वर्ग के अन्तर्गत जानना चाहिए। देवता के विचार से पुराणों का अन्य वर्गीकरण है। पद्म पुराण के अनुसार मत्स्य, कूर्म, लिङ्.ग, स्कन्द, अग्नि–ये छः पुराण तामस हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्राह्म–ये छः राजस पुराण हैं तथा विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म तथा वाराह–ये छः सात्विक पुराण माने गए हैं। यह वर्गीकरण विष्णु को सात्विक देव मानकर किया गया है। यहॉ तामस, राजस तथा सात्विक पुराणों की समान संख्या निर्धारित है।[1] मत्स्य पुराण के अनुसार विष्णु के वर्णनपरक पुराण सात्विक बह्मा और अग्नि के प्रतिपादक पुराण राजस, शिव के प्रतिपादक तामस, सरस्वती और पितरों के माहात्म्य का वर्णन करने वाले पुराणों को संकीर्ण कहा गया है ।[2] स्कन्दपुराण की दृष्टि में दशपुराणों में तो केवल शिव की स्तुति है,

---

१– मत्स्य कौमं तथा लैङ्.ग शैवं स्कान्द तथैव च ।
आग्नेय च षडेतानि तामसानि निबोध मे ।।
वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् ।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ।।
सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानिवै ।।
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त मार्कण्डेयं तथैव च ।
भविष्य वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ।। –पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २६३/८१ – ८४

२– साात्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः
राजसेषु च माहात्म्यमाधिकं ब्रह्मणो विदुः ।
तद्वदग्नश्च, माहात्म्य तामसेषु शिवस्य च
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणा च निगद्यते ।। –मत्स्य ५३ अ०, ६८–६६ श्लो०

चार में ब्रह्मा की और दो में देवी तथा हरि की है ।[1] सम्प्रदायों के अनुसार पुराणों का विभाजन इस प्रकार है,"

(क) शैव पुराणः	१—शिव	६—स्कन्द
	२—भविष्य	७—मत्स्य
	३—मार्कण्डेय	८—कूर्म
	४—लिङ्.ग	९—वामन
	५—वाराह	१०—ब्रह्माण्ड

(ख) ब्रह्म पुराण : ब्रह्मवैवर्त्त, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड तथा पद्म

(ग) शाक्त पुराण : देवी भागवत

(घ) वैष्णव पुराण : विष्णु, भागवत

स्कन्द पुराण के शिव रहस्य—खण्ड के अन्तर्गत सम्भव काण्ड में पुराणों का जो विभाजन किया गया है, उसके अनुसार शैव पुराण दस, वैष्णव पुराण चार और ब्रह्म पुराण दो है ।[2] अग्नि और सूर्य की पूजा की प्रधानता एक—एक पुराण में दी गयी है । इसके अनुसार पुराणों का वर्गीकरण इस प्रकार है.

(क) शैव पुराणः १—शिव, २—भविष्य, ३—मार्कण्डेय, ४—लिङ्.ग, ५—वाराह, ६—स्कन्द, ७—मत्स्य, ८—कूर्म, ९—वामन, १०—ब्रह्माण्ड ।

१—अष्टादश पुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः
चतुर्भिभगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः ।।
—स्कन्द पुराण, केदार खण्ड, अध्याय १—दृष्टव्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ६२

२—स्कन्द पु०, शिव रहस्य खण्ड,सम्भव काण्ड, २.३०.३८

(ख) वैष्णव पुराण· ११–विष्णु, १२–भागवत, १३–नारद, १४–गरुड ।

(ग) ब्रह्म पुराणः १५–ब्रह्म, १६–पद्म

(घ) अग्नि पुराण १७–अग्नि

(ड)सविता या सूर्यः १८–ब्रह्मवैवर्त्त ।

ऊपर दिए गए दोनों उल्लेखों की तुलना करने पर पता चलता है कि पहले उल्लेख में ब्रह्मा की प्रधानता चार पुराणों मे है, तो द्वितीय मे, यह स्थान विष्णु को प्राप्त हो गया है तथा इसके अतिरिक्त अग्नि और सविता इन दो देवताओं को भी एक–एक पुराण से सम्बन्धित बताया गया है।

तमिल ग्रन्थों के अनुसार पुराणों का विभाजन अधोलिखित है:[1]

(क) शैव पुराणः १–शिव, २–स्कन्द, ३–लिड्.ग, ४–कूर्म, ५–वामन ६–वाराह ७–भविष्य, ८–मत्स्य, ९–मार्कण्डेय, १०–ब्रह्माण्ड ।

(ख) वैष्णव पुराणः ११–नारद, १२–भागवत, १३–गरुड १४–विष्णु

(ग) ब्रह्म पुराणः १५–ब्रह्म, १६–पद्म

(घ) अग्नि पुराण· १७–अग्नि

(ड.) सौर पुराणः १८–ब्रह्मवैवर्त्त

पुराणों का तीसरा विभाजन वर्ण्य–विषय को दृष्टि में रख कर किया गया है। कतिपय पुराणों में इतिहास–वृत्तो (वंशानुचरित) पर विशेष बल दिया गया है तथा कुछ में साहित्यिक सामग्री के उल्लेख को विशिष्टता प्रदान की गयी है। कुछ एक पुराणों में साम्प्रदायिक विषयों की अधिक चर्चा है तो किसी में तीर्थ और व्रत का वर्णन अधिक हुआ है। इस दृष्टि से पुराणों का विभाजन छः वर्गो में किया जा सकता है।[2]

१–पुसाल्कर, कल्याण, हिन्दू सस्कृति अंक वर्ष २४, न० १, सन् १९५०, पृ० ५५१

२– पुसाल्कर, कल्याण, हिन्दू सस्कृति अ , वर्ष २४, जिल्द सख्या १, १९५० ई०, पृ० ५५०

१–साहित्यिक सामग्री प्रधान पुराण	: अग्नि, गरुड, नारद
२–तीर्थ–व्रत प्रधान पुराण	: पद्म, स्कन्द, भविष्य
३–इतिहास प्रधान पुराण	. ब्रह्माण्ड, वायु
४–साम्प्रदायिक साहित्य प्रधान पुराण	: लिङ्ग, वामन, मार्कण्डेय
५–प्रक्षिप्तांश बहुल पुराण	: ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त्त, भागवत
६–ऐसे पुराण जिसमें आमूल परिवर्तन हो गया है	: वाराह, कूर्म, मत्स्य

विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार पुराणों के वर्गीकरण की पद्धति ही अधिक वैज्ञानिक है । तीन गुणों के आधार पर इसका विभाजन किसी न किसी विशेष सम्प्रदाय से द्वेष–बुद्धि के द्वारा प्रेरित जान पडता है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से किया गया श्रेणी विभाजन भी कुछ विशेष सन्तोषजनक नहीं है।

पुराण संरचना का उद्देश्य

पुराण के निर्माण का मूल उद्देश्य वेद को जानने के लिए धर्म, ज्ञान, आचार–दर्शन आदि को लोगों के मस्तिष्क में प्रवेश कराना था। वेदों में अनन्त ज्ञान–राशि सूत्र रूप में निहित तो थी, किन्तु वे बहुत गहराई से सोचने वाले व्यक्तियों के लिए ही बोधगम्य थे। इसका पठन–पाठन केवल ब्राह्मण वर्ग तक ही सीमित था। इसलिए अधिकांश जनता वेदों के ज्ञान से रहित थी।[1] पुराणों का ज्ञान सम्भ्रान्त एवं निम्न वर्गों में भी लोक शिक्षा के माध्यम से बढ़ता गया। (इतिहास, पुराण पंचम–वेदानीवेदम, छान्दोग्य उपनिषद् ७.१.२) वासुदेव शरण अग्रवाल ने प्रतिपादित किया है कि किस प्रकार पुराण वेदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की विशद व्याख्या करते हैं।[2] वैदिक

१– ''स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनाम त्रयी न श्रुतिगोचराः ।'' –भागवत पुराण,१.४.२५

२– वासुदेव शरण अग्रवाल, 'पुराण विद्या,'' पुराणम् पत्रिका, भाग १, अंक १, पृ० ८६–१००

आख्यानों, उपाख्यानो कथाओं तथा अध्यात्म–तत्वो को यथार्थ सन्दर्भ में समझने के लिए इतिहास–पुराण की सहायता लेना अत्यन्त आवश्यक है। इन ग्रन्थों के अभावमें वैदिक तत्व–ज्ञान का बोध सुगम नहीं है। महाभारत और वायु पुराण में पुराणों का मूल उद्देश्य वेदोपवृंहण बताया गया है।[1]

कुछ समय बीतने के पश्चात् वैष्णव, रौद्र, शाक्त आदि का उदय हुआ। उन्हीं के साम्प्रदायिक विचारों तथा सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अनेक प्रकार के पुराणों की रचना हुई। तीर्थयात्रा, व्रत, दान, श्राद्ध आदि की महिमा हिन्दू धर्म का सन्देश पुराणों के माध्यम से ही साधारण जनता तक पहुँचाया गया है। यदि पुराणों की संरचना न हुई होती तो सर्वसाधरण लोग वेदोक्त पौराणिक धर्म–ज्ञान से वञ्चित हो जाते। इसलिए पुराण संरचना के मुख्य दो उद्देश्य दिखाई देते हैं।

१–वेदों का उपवृंहण तथा २–लोकप्रिय हिन्दू धर्म का प्रचार।

पुराण–साहित्य के कतिपय आधुनिक समीक्षकों ने पुराणों की रचना का उद्देश्य समाज में ब्राह्मणो की सत्ता स्थापित करना स्वीकार किया है[2] किन्तु यह उनका भ्रम है, क्योंकि वैदिक काल से ही ब्राह्मणों का स्थान समाज में सर्वश्रेष्ठ रहा है। इसीलिए उन्हें पुराणों की रचना कर अपनी सामाजिक तथा धार्मिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करने की आवश्यकता तथा धर्म की परम्परा के कारण मानी जा सकती है।

१– ''इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपवृहयेत्।'' –महाभारत,१.१.२६७, वायु पु० १.२०१
२–वी० वेकटाचल्ल अय्यर, क्वा० ज० मि०सो०, भाग १३, नं० २, १९२३

पुराण का लक्षण

अमर कोश और कतिपय प्रारम्भिक पुराणों की विशिष्टता द्योतित करने के लिये या कोटि के साहित्य के लक्षण पर्याय के रूप में 'पञ्च लक्षणम्' शब्द का प्रयोग किया है–

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशों मन्वन्तराणि च।

वंश्यानुचरित चेति पुराण पञ्चलक्षणम्।।[1]

पुराण की सर्वत्र मान्य परम्परा के अनुसार ये ही पाँच विषय वर्णनीय माने गये हैं :–

१–सर्गः–सर्ग में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बताया गया है । ''सर्ग' से तात्पर्य यह है कि पृथ्वी और पृथ्वी के नाना पदार्थों एवं जीवों की सृष्टि। भागवत पुराण में सर्ग की परिभाषा इस प्रकार है–

''अव्याकृत गुण क्षोभात् महतास्त्रिवृताऽहमः।

भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते।।''

इसका तात्पर्य है कि जब मूल प्रकृति में जो गुण होते हैं, वे क्षुब्ध पड़ जाते हैं, तब महत् तत्व से ही तीन प्रकार तामस, राजस और सात्विक अहंकार की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति क्रम का नाम ही सर्ग है।

२–प्रतिसर्गः–प्रलय एवं सृष्टि का पुनः प्रादुर्भाव ही प्रतिसर्ग कहलाता है। विष्णु पुराण में प्रतिसर्ग के स्थान पर 'प्रतिसंचार' शब्द का प्रयोग मिलता है।[2] प्रतिसर्ग विलय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जिसमें सभी गुणों में समरूपता आ जाती है और क्षुब्धता समाप्त हो जाती है। (गुणानां साम्यावस्था विलयः) श्रीमद्भागवत में इस शब्द के स्थान पर 'संस्था शब्द का प्रयोग देखने के लिए मिलता है– नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिकोलयः।

संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः।।

१–यही लक्षण किञ्चित् पाठ भेद से या ऐक्यरूपेण इन पुराणों में प्राप्त होता है–विष्णु पुराण ३/६/२४, मार्कण्डेय १३४/१३, अग्नि १/१४, भविष्य २/५, ब्रह्मवैवर्त्त १३३/६, वाराह २/४, स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड, २/८४), कूर्म (पूर्वार्ध १/१२) मत्स्य ५३/६४, गरुड़ (आचार काण्ड २/२८) ब्रह्माण्ड (प्रक्रियापाद १/३८) शिव पुराण (वायवीय सहिता १/४१) ।

२–विष्णु १/२/२५

इस ब्रह्माण्ड शब्द का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और यह प्रलय चार प्रकार का है—नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक। यही संस्थान शब्द से पुकारा जाता है।[1]

वशः—पुराणों में देवो और ऋषियों की वंशावली का विवरण देखने के लिए मिलता है। ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न भूत, भविष्य और वर्तमान कालिक नृपति, कुल—परम्परा को वंश अभिधा प्रदान की गयी है—

"राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः"[2]

वंश के अन्तर्गत राजाओं के अतिरिक्त प्रमुख देवों, कुलपतियों और विषयों के वंशो का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु वंश को राजाओं तक ही सीमित रखना उचित नहीं है।

मन्वन्तरः—भागवत के अनुसार मनु, देव, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान, अंशावतार छः प्रकार की घटनाओं तथा उनके समय के मान को मन्वन्तर कहा गया है—

"मन्वन्तरं मनुर्देवा,मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोऽंशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते।।[3]

अर्थात् भुक्त काल को मन्वन्तर कहते हैं पुराणों में मन्वन्तर तथा घटनाओं का वर्णन भी बहुत किया गया है, जो इस प्रकार है—

१—स्वायम्भुव २—स्वारोचित ३—उत्तम ४--तामस ५—रैवत ६—चाक्षुष ७—वैवश्वत ८—सावर्णिक ९—दक्षसावर्णिक १०—ब्रह्मसावर्णिक ११--धर्मसावर्णिक १२—रुद्रसावर्णिक १३—देवसावर्णिक १४—इन्द्रसावर्णिक।

इनमें से ६ मन्वन्तर बीत चुके और सातवॉ मन्वन्तर वर्तमान काल है।

१—भागवत (३/१०/१४) मे प्रलय के लिए प्रयुक्त प्रति संकम शब्द प्रतिसर्ग के समान ही संकम (सर्ग) से विपरीत तत्व का द्योतक है—

काल—द्रव्य—गुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः ।।

विष्णु पुराण का "प्रतिसचर" शब्द इसी शैली का शब्द है ।

२—भागवत, १२/७/१६

३—भागवत, १२/७/१५

वंशानुचरितं

"वशानुचरित तेषा वृत्तं वंशधराश्च ये।"[1]

पूर्वोक्त वंशो में उत्पन्न हुए वंशधरों का तथा मूल रूप राजाओं का विशिष्ठ विवरण जिसमें वर्णित होता है वह 'वंशानुचरित' कहलाता है। यहाँ पर मनुष्य वंश में उत्पन्न और राजाओ का चरित्र भी समाविष्ट समझना चाहिए।

राजनीति शास्त्र में 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' का एक नया ही संकेत उपस्थित किया गया है जो पूर्वनिर्दिष्ट लक्षण से पूर्ण रूपेण अलग है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (१–५) की व्याख्या में जयमंगला ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया है–

सृष्टि–प्रवृत्ति–संहार–धर्म–मोक्षप्रयोजनम्।

ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तम् पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

यहाँ पर 'पञ्च लक्षण' की अत्यन्त नवीन व्याख्या दी गयी है। इसमें धर्म पुराण का एक अविभाज्य लक्षण स्वीकार किया गया है। जिसका तात्पर्य है कि पुराणों में धर्म का विशेष उल्लेख किया गया है। 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः कहकर भागवत ने भी मन्वन्तर के भीतर धर्म का उपन्यास न्याय्य माना है।

पुराण का दश लक्षण

श्रीमद्भागवत में और ब्रह्म–वैवर्त में दश लक्षण महापुराण के बतलाए गए हैं और पहले कहे गए पाँच लक्षण को क्षुल्लक पुराण का लक्षण कहा गया है। श्रीमद्भागवत् में दो स्थानों पर महापुरुष के जो लक्षण बतलाए गए हैं। उन दोनों में शब्द भेद स्पष्ट दिखलायी देता है, किन्तु उनके अभिप्राय से कोई भेद दृष्टिगत नहीं होता है। भागवत में बतलाये गये द्वादश स्कन्द में जो महापुराण के दश लक्षण बतलाए गए हैं, वे निम्नवत् हैं–

१–भागवत, १२/७/१६

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।

वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।।[1]

१—सर्गः	६—वंश
२—विसर्गः	७—वंशानुचरितम्
३—वृत्तिः	८—संस्था
४—रक्षा	९—हेतुः
५—अन्तराणि	१०—अपाश्रयः

सर्ग

पूर्ववर्णित सर्ग से भिन्न नहीं है।

विसर्ग

जीव की उत्पत्ति। परमेश्वर की इच्छा से ब्रह्मा को सृष्टि का निर्माण करने की शक्ति प्राप्त हो गयी। जिससे महत् तत्व आदि पहले किये गये अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार जो यह चराचर शरीरात्मक उपाधि से विशिष्ट जीव को उत्पन्न करते हैं। इसे ही विसर्ग कहते हैं।[2] इस प्रकार विसृष्टिः—विविधा सृष्टिः, न तु वैपरीत्येन सृष्टिः प्रलयः।

वृत्ति

जीवन निर्वाह करने के लिए आवश्यक सामग्री ही वृत्ति है।[3] भागवत क़े अनुसार चर पदार्थों

१— भागवत, १२/७/९

२— पुरुषोनुग्रहीतानामेतेषा वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीज चराचर।। —भाग० १२/७/१२
इसका स्वरूप द्रष्टव्य देवी भागवत व स्कन्द, —३ अ०।

३—वृत्तिर्भूतानि भूताना चराणामचराणि च।
कृता स्वेन नृणा तत्र कामाच्चोदनयापि वा।। —तत्रैव, श्लो० १३

की अचर पदार्थ वृत्ति है। मानव जीवन को चलाने के लिए गेहूँ चावल आदि जिन–जिन वस्तुओं का मनुष्य उपभोग करता है, वही उसकी वृत्तियॉ कहलाती है। कुछ वृत्तियाँ मनुष्य अपने स्वभाव तथा कामना के अनुसार ग्रहण कर लेता है तो कुछ शास्त्र के आदेशानुसार ग्रहण कर लेता है दोनो **का उद्देश्य एक ही है–मानव जीवन धारण करना और उसकी रक्षा करना।**

रक्षा

भगवान् प्रत्येक युग में किसी न किसी रूप में चाहे (मनुष्य, पशु–पक्षी, ऋषि, देवता आदि) रूपो में अवतार लिया करते है तथा अपनी लीलाएं दिखाया करते हैं। इन अवतारों में भगवान् वेदधर्म का विरोध करने वालों को दण्ड दिया करते हैं तथा सहार भी कर देते है, क्योंकि विश्व की रक्षा के लिए ही भगवान् अवतरित होते है। इसलिए इसका नाम करण रक्षा[1] किया गया है।

अन्तराणि

पहले बताये गये मन्वन्तर के समान ही अन्तराणि भी है।
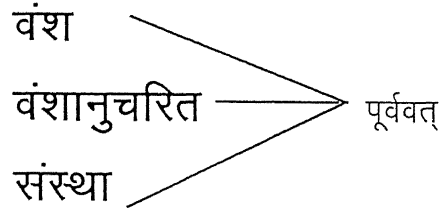
पूर्व में बताये गये प्रतिसर्ग के अनुसार है ।

हेतु

हेतु शब्द से जीव का ग्रहण अभीष्ट है। वह अविद्या के माध्यम से कर्म का कर्त्ता है। सांसारिक दृष्टि से जीव अदृष्ट के द्वारा प्रयुक्त होता है, इसलिए विश्व का सर्ग प्रतिसर्ग आदि होता है। जीव अपने अदृष्ट के द्वारा विश्व सृष्टि या प्रलय का कारण बनता है। इसी कारण भागवत में 'हेतु'[2] जैसे सार्थक शब्द के द्वारा पुकारा गया है, जो व्यक्ति उसे चैतन्य प्रधान की दृष्टि से देखते

१–रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे–युगे।
तिर्यङ्–मर्त्यर्षि–देवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः।। –भाग०१२/७/१४

२–हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।
त चानुशयिन प्राहुख्याकृतमुतापरे।। –भाग० १२/७/१८

हैं उसे अनुशयी–प्रकृति में शयन करने वाला कहते हैं और जो उपाधि की दृष्टि से कहते हैं, वे उसे 'अव्याकृत' अर्थात् प्रकृतिरूप कहतें है।

अपाश्रय

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति जीव की तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन अवस्थाओं में ही चैतन्य का निवास है जो विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ नाम से जाने जाते हैं। इन मायावी वृत्तियों में जो सन्तत रूप पाया जाता है वही अधिष्ठान रूप अपाश्रय तत्व है वह इन अवस्थाओं के बाद तुरीय तत्व के रूप में लक्षित होता है इसलिए इसे अपाश्रय कहते हैं।

पुराणों के वर्ण्य–विषय

पुराण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित आदि वर्ण्य–विषयों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के वर्णनों का समावेश है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार पुराणों में भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों की प्रमुख घटनाओं का वर्णन रहता है। सूत सुमन्त्र ने महाराज दशरथ को पहले ही बता दिया था कि किस प्रकार उन्हें पुत्र प्राप्त होने वाले हैं। यह बात सुमन्त को पुराणों की कथा सुनकर ही ज्ञात हुई थी।[1] इसके अतिरिक्त आचार–विचार, मानव के प्रति मानव का सहज स्नेह, राजा एवं प्रजाके मधुर सम्बन्धों आदि का विशद वर्णन भी पुराणों में प्राप्त है। अपने वर्ण्य विषय सम्बन्धी वर्णनों में कुछ पुराणों ने जहाँ बाह्याडम्बरों की प्रशंसा की है, वहीं कुछ पुराणों ने उसकी भर्त्सना भी की है। श्राद्ध कर्म में मृत्यु के उपरान्त पितरों को दिए जाने वाले तर्पण को व्यर्थ कहा गया है। पद्म पुराण इस विषय पर कटाक्ष करते हुए कहता है कि यदि अन्न के खाने से पितृगणों की तृप्ति होती है, तो प्रवास में रहने वाले को भी श्राद्ध दिए जाने से उस प्रवासी को भी उसे प्राप्त कर तृप्त हो जाना चाहिए, जहाँ पर अनेक यज्ञों से देवत्व को प्राप्त

१– एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमबर्वीत् ।

श्रूयता यत् पुरावृत्तं पुराणेषु मया श्रुतम ।। –वाल्मीकीय रामायण–बालकाण्ड

करके इन्द्र के द्वारा स्वर्ग का भोग किया जाता है।[1]

पुराणों में प्राप्त विविध वर्ण्यविषयों के कारण ही इनकी महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इन वर्ण्यविषयों में प्रायः सभी पुराणों ने इस वसुन्धरा पर पाए जाने वाले रमणीक स्थलों के वर्णन के साथ–साथ पवित्र नदियों एवं उनके निर्मल जल में स्नान की महत्ता का वर्णन किया है। गंगा के जल की महत्ता को पुराण ही क्या, वैज्ञानिक भी उसी भावना से स्वीकार करते हैं, जिस भावना से धर्मानुयायी। सूर्य की महिमा का वर्णन हमारे पुराणों ने जीवनदाता ईश्वर के रूप में किया है। विश्व का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो इस तथ्य को अस्वीकार करे।

तीर्थ स्थानों का वर्णन हमारे पुराणों की अपनी विशेषता है। ये तीर्थ वर्णन हमें उस स्थान की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान तो कराते ही हैं, साथ–साथ हमें उस स्थान विशेष की प्राकृतिक एवं उस काल विशेष की राजनैतिक दशा का भी पूर्ण–रूपेण ज्ञान कराते हैं।

आचार–विचार की पवित्रता एवं आचरण की शुद्धि पर हमारे पुराणों ने अधिकाधिक बल दिया है। इनमें वर्णित विषय हमारे पूर्वजों की नैतिकता का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। ''सर्वेभवन्तु सुखिन.'' ही हमारे पुराणों का आदर्श रहा है। तभी तो उनके वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में कहा गया है–

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

पुराणों में इतिहास के समावेश के कारण ही पुराणों को कहीं–कहीं इतिहास की संज्ञा से विभूषित किया गया है। अतः ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन स्वाभाविक है । जैसे–मन्वन्तर वर्णन,

---

१–दद्याच्छाद्धं प्रवसतो न वहेयु· प्रवासिन·।
यज्ञेरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते।। –पद्मपुराण भाग १–अ–७/१११

हरिश्चन्द्र की कथा, द्वापर के मनुवंशीय राजाओं का वर्णन, कृतयुगीय महाराजाओं का वंशानुचरित आदि। पुराण अपनी धार्मिक प्रभुसत्ता के साथ–साथ भारत के प्राचीन इतिहास को भी भली–भाँति प्रभावित किए हुए है। इस प्रकार पुराण इतिहासकारों के लिए भी अमूल्य निधि स्वरूप हैं।

नैतिक आचार–विचार में बताया गया है कि प्राणी अपने आचार–विचार, खान–पान एवं परस्पर सद्भाव से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मनुष्य पुराण विहित कार्य करता हुआ स्वर्गगामी तथा उससे रहित आचरण कर नरक का भागी बनता है। प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा का त्याग कराकर सत्कर्म में प्रवृत्त करना और दुष्कर्म से निवृत्त करना ही पुराणों के वर्ण्य विषय की प्रमुख विशेषता है। अपने वर्ण्य विषय को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए पुराणकारों ने विभिन्न प्रकार के उदाहरणों का प्रयोग किया है जो काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक प्रतीत होते हैं। पद्म पुराण में वर्णित नृत एवं अनृत का भेद तथा उसके दोष एवं गुण मानव हेतु अत्युत्तम शिक्षा प्रदान करते हैं। इसमें कहा गया है कि स्वर्ग, अपवर्ग और नरक सब कुछ सत्य वचन से ही सुलभ हो सकता है।[१] आत्मा एवं मन की शुद्धि पर भी पुराणों ने काफी बल दिया है। पुराणों ने बताया है कि जो पुरुष सदाचारी एवं जितेन्द्रिय है वह कल्याण का भागी एवं इसके विपरीत लक्षणों वाला दुःख का भागी बनता है। प्राणी सत्कर्मों से अपने गृह को तपोवन या स्वर्ग बना लेता है और इसके विपरीत दुष्कर्म से नरक। इस प्रकार प्राणी सुख–दुःख की सर्जना अपने आप करता है।[२]

पुराणों में वर्णित दैनिक जीवन की शिक्षाएं न केवल धार्मिक दृष्टि से, बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि से भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं। यथा हस्त प्रच्छालन करके भोजन करना दाँतों एवं केशों की

१–सत्येन संस्थितो विंध्यः प्रबन्धंनातिवर्तते ।
स्वर्गापवर्गनरका सत्यवाचि प्रतिष्ठता ।। –पद्म पुराण भाग–एक सृष्टि–खण्ड ११/११०

२–सुकर्मधर्मार्जितजीविताना सदा च संतुष्य गृहे रतानाम् ।
जितेन्द्रियाणामतिथिप्रियाणां गृहेऽपि धर्मो नियम स्थितानाम् ।। –पद्मपुराण, वही, १२/१४२

सफाई आदि।[1] पुराणों में गुरू एवं शिष्य के सम्बन्धों का भी युक्तियुक्त विवेचन पाया जाता है। यही कारण है कि गुरूकुल एवं ऋषिकुल में निवास करने वाले शिक्षार्थी अपनी सतत साधना एवं गुरू की सेवा कर सब प्रकार के सभी ज्ञानों का मनन कर लेते थे, यद्यपि उस समय साधनों का अभाव था। अतः हम देखते हैं कि पुराण हमें सदाचार का पाठ पढ़ाने के साथ-साथ हमें सच्चे मानव धर्म की प्रेरणा प्रदान कर सन्मार्ग पर प्रवृत्त करते हैं।

मानव द्वारा ग्राह्य एवं त्याज्य कर्मो का विवेचन करना पुराणों की अपनी विशेषता है। उदाहरणार्थ, पुराणकार ने मानव से अनुरोध किया है कि किसी भी कर्म के फल को ध्यान में रखकर कार्य स्वरूप होने वाले फल को पहले स्वयं अपने आप पर लागू कर विचार करना चाहिए कि यदि उस कर्म का फल स्वयं के ऊपर पड़े तो उसका आभास कैसा होगा, ठीक वैसा ही आभास दूसरे की आत्मा द्वारा भी होगा। यदि प्राणी पुराणों द्वारा वर्णित इस सत्य का पालन करे तो वह चोरी, हत्या एवं अपराध सम्बन्धी जघन्य कर्मों को कदापि नहीं करेगा। दम, संयम, नियम एवं अस्तेय का वर्णन करते हुए पद्म पुराण कहता है कि परायी स्त्री अथवा पराये धन को कभी भी ग्रहण न करना ही अस्तेय है। इन्द्रियों को विषयों की तरफ भागने से रोकना ही सबसे बड़ा दम है।[2]

वेदों तथा पुराणों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो ऐसा लगता है कि इन दोनों ग्रन्थों के वर्ण्य विषयो में काफी समानता है। जैसे वेदों का सृष्टि-वर्णन पुराणों के पारिभाषिक शब्दों में वर्णित है। वेदों की त्रयी विद्या पुराणों के सूर्योपासना प्रकरण में ज्यों की त्यों पायी जाती है। वेदों ने जहाँ हिरण्यगर्भ का वर्णन किया है, वहाँ पुराणों ने अण्डस्वरूप सृष्टि का वर्णन किया है।

१-सस्कारं केशदन्तानां प्रातरेव समाचरेत्।
गुरूणा च नमस्कार नित्यमेव समावरेत्।। -पद्म पुराण, भाग-एक -२३१/१२

२-दममेव प्रक्ष्यामि तवाग्रे द्विजसत्तम ।
दमनादिन्द्रियाणा वै मनसोऽपि विकारिणः।। -पद्मपुराण भाग-एक, -३३/२७

वेदों के त्रिगुणात्मक स्वरूप को तो पुराणों ने पूर्ववत् स्वीकार किया है।[1]

पुराणों में क्षेपकों की संख्या अधिक है। सम्भवतः ऐसा इसलिए हुआ है कि पुराणों का प्रचार एवं प्रसार गुरू एवं शिष्य की परम्परा से हुआ। पुराण संहिता के नाम से विख्यात था और उसके रचयिता सत्यवती के पुत्र व्यास थे।[2] कालान्तर में उस व्यास ने अपने शिष्यों को पुराण का पाठ पढ़ाया और उन शिष्यों ने गुरू द्वारा प्रदत्त ज्ञान में कुछ वृद्धि कर अपने–अपने मतानुसार अलग–अलग पुराणों की रचना की। अथवा पद्म पुराण में जैसा कहा है कि हर युग में एक व्यास पैदा होते हैं और वेदों के विभाग कर उनका प्रचार करते हैं।[3] इस कथन द्वारा भी एक पुराण के कई भागों का प्रतिपादन हो जाता है। पुराणों में उपलब्ध कुछ प्रसंग तो ऐसे हैं जो लगभग सभी पुराणों में एक ही प्रकार से वर्णित हैं, किन्तु कुछ प्रसंग ऐसे भी है जो परस्पर विपरीत हैं। ये विरोधी कथन भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि व्यास के बाद के पौराणिक जो उनके शिष्य व प्रशिष्यों में से थे, कुछ ऐसे भी मेधावी हुए जो अपने आराध्य की श्रेष्ठता हेतु कुछ रोचक प्रसंगों को अपनी तरफ से जोड देते थे। ये संयुक्त प्रसंग कालान्तर में उस पुराण विशेष में गृहीत कर लिये गये। अतः स्पष्ट है कि आरम्भ में पुराण एक था जो कालान्तर में अठारह हो गया।

पुराणों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पुराण वस्तुतः वैदिक कथाओं, जनश्रुतियों एवं सर्ग, प्रतिसर्ग, प्रलय–मन्वन्तर, आचारवर्णन तथा राजवंश वर्णन के प्रतीक है पद्मपुराण में तो सदाचार वर्णन सम्बन्धी एक पूर्ण अध्याय ही है। सदाचार से ही प्राणी पूज्य होता है। वह सुख

१– एतएव त्रयोवेदा एतएव त्रयोग्नयः।
एतएव त्रयोवेदा एतएव त्रयोगुणः।।

२– अष्टादशपुराणानां वक्ता सत्यवती सुतः। –शिवपुराण रेवाखण्ड ।

३– कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः।
व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्य युगे–युगे।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे जगौ।
तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन प्रकाशितम्।। –पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, अ० १/५१, ५२

तथा मोक्ष का भागी बनता है। सदाचार से रहित प्राणी दुःख और नरक का भागी होता है।[1] सांख्य शास्त्र का सुन्दर उदाहरण जो मनुष्य को परोपकारी एवं ईर्ष्या रहित तथा प्राणियों के प्रति समभाव का उपदेश देता है, वह पद्म पुराण के भूमि के पृष्ठ में मिलता है। अपनी शोक सन्तृप्त पत्नी अदिति को उपदेश देते हुए कश्यप ने कहा था–"हे शुभे, न तो इस विश्व में कोई किसी की माता है और न पिता, न भाई है और न ही बन्धु। यह पार्थिव शरीर जिसे तुम साथ लिये फिरती हो वह भी अपना नहीं है। यदि इस विश्व में कुछ अपना है तो वह है नारायण के अंश स्वरूप उत्पन्न अपनी जीवात्मा।[2] कर्म की प्रधानता पर बल देते हुए पुराणों में कहा गया है कि कृषक जिस वस्तु का बीज अपने क्षेत्र में वपन करता है, उसी वस्तु की फसल काटता है। ठीक उसी प्रकार प्राणी जैसा कर्म करता है उसका फल इस जन्म में एवं शेष कर्मों के फलस्वरूप पुर्नजन्म लेकर उनका फल भोगता है।[3]

जाति–पॉति के भेदभाव का खण्डन करते हुए पुराणों ने सभी प्राणियों के शरीर को एक ही मिट्टी से निर्मित बताया है। जिस प्रकार से कुम्भकार चाक पर मिट्टी का लोंदा रख देता है और फिर नाना प्रकार के बर्तनों का निर्माण कर लेता है, उसी प्रकार से भगवान नारायण क्षिति जल, पावक, गगन और वायु नामक पंच तत्वों का एक लोंदा बनाकर अपनी बुद्धि से अलग–२ प्राणियो की रचना कर अलग–२ प्रकाश स्वरूप जीवात्मा प्रदान करता है। परमात्मा की एक मात्र प्रभुसत्ता को व्यक्त करते हुए पद्म पुराण कहता है कि जिस प्रकार भिन्न–भिन्न घटों में स्थित

१–आचारल्लभते हयायुराचाराल्लभते सुखम् ।
आचारोत्स्वर्गममोक्षं च आवारोहन्त्य लक्षणम् ।।
अनाचारों हि पुरूषः लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽपायुरेव च ।।–पद्म पुराण, /१–२३/२.३

२–नक. कस्य भवेत्पुत्रो न माता न पिता शुभे ।
न भ्राता बन्धवः कस्य न च स्वजनबान्धवः ।
एवं ससारसम्बन्धो माया मोहसमन्वितः ।। –पद्मपुराण, भूमिखण्ड (२) अ० ३०/२.३

३–कृषिकारो यदा देविच्जन्नं बीजं सुसंस्थितम् ।
यादृशं तु भवत्येवत दृशं फलनश्नुत ।। –वही, अ० ३०/६

जल में चंद्रमा का प्रतिबिम्ब भिन्न जान पडता है किन्तु वास्तव में चन्द्रमा तो एक ही होता है, ठीक उसी प्रकार परमात्मा एक होते हुए भी भिन्न प्राणियों में रूप एवं रचना की भिन्नता के कारण भिन्न–भिन्न जान पडता है।[1] हिंसा पर तीव्र प्रहार एवं अहिंसा पर बल देते हुए पुराणों ने दान तथा दया भाव को श्रेष्ठ कहा है।[2] परोपकार की महत्ता को व्यक्त करते हुए शिव पुराण में कहा गया है कि इस विश्व में परोपकार से बड़ा कोई धर्म नही है।[3]

पुराणों में सर्ग एवं प्रलय का वर्णन भी उनके लक्षणों के अनुसार विशद रूप से हुआ है। प्रलय अथवा यहॉ महाप्रलय का वर्णन प्रत्येक पुराण में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। शिव पुराण में महाप्रलय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि महाप्रलय के समय सम्पूर्ण स्थावर जंगम और सब कुछ जो दृश्य है वह सब नष्ट हो गया था। चारों तरफ अंधकार ही अधकार था। इस पूर्णरूपेण तमोमय समय में मात्र ब्रह्मा ही था, उसी को सत् कहा गया है।[4] पद्मपुराण का कथन है कि सहस्त्र युगपर्यन्त ब्रह्मा जब सृष्टि को पूर्ण विस्तृत देखता है तब प्रलय रूप में जगत् का संहार करता है।[5] और उस पूर्ण प्रलय के समय परमात्मा सम्पूर्ण सांसारिक प्राणियों को अपने में धारण कर जलमग्न हो सहस्त्र युगों तक शयन करता है।[6] भविष्य पुराण में तो प्रतिसर्ग नामक एक पूर्ण अध्याय ही है जिसमें प्रजापति ब्रह्म से लेकर उनके अन्तिम वंशज षट्वांग तक वर्णन है। पुराणकार ने प्रलय वर्णन हेतु यद्यपि कल्पना का आश्रय लिया है, किन्तु इस तथ्य को इतनी चतुराई के साथ प्रस्तुत किया है कि किसी भी प्राणी को सहज विश्वास हो जाता है। पुराणकार ने कहा है कि एक

१– यथा घटसहस्त्रेषु सोदकेषु विराजते।
एकश्चन्द्रो हि सर्वत्र भवास्तद्द्विराजते।। –पद्म पुराण भूमिखण्ड ३१/४१, ४२, ४७

२– दयादापरो नित्यं जीवमेव प्रक्षेयत् । –वही, ३६/३८

३– परोपकारसदृशो नास्ति धर्मोऽपरः खलु। –शिवपुराण.–१–विद्येश्वरसंहिता १/३६

४– महाप्रलयकाले च नष्टे स्थावरजंगमे।
आसीत्तमोमयं सर्वममर्कग्रहतारकम्।। –पद्मपुराण, रुद्रसंहिता–सृष्टि खण्ड ३/४

५–सहस्त्रयुगपर्यन्ततद्ब्रहिमुच्यते।
ततोऽनिगदत तस्मिसर्वेषामेव जीविनाम्।। –वही, १–१७/२६

६–एकार्णवजले व्यापी योगमुपासितः।
अनेकानि सहस्त्राणि युगान्येकार्णवाम्यसि।। –वही–१–१७/५५

दिन सर्ग की अधिष्ठात्री देवी ने षट्वांग को हिमालय पर जाने का आदेश दिया और जब देवी की आज्ञा से षट्वांग हिमालय पर चला गया तब तुरन्त वसुन्धरा जलमग्न हो गयी। वसुन्धरा का जलमग्न हो जाना ही लय या प्रलय कहलाया। यही कृत युग के लय का वर्णन है। जब सम्पूर्ण लय हो गया तब पुनः सर्ग स्वाभाविक हो गया और यही प्रतिसर्ग कहलाया। विष्णु पुराण का कथन है कि जब वसुन्धरा पर अत्याचार हुआ तब उस विराट पुरूष ने मां वसुन्धरा के उद्वार हेतु पुनः प्रतिसर्ग की कामना की। अतः पुनः प्रलय हुआ और प्रलय के बाद द्वापर युग का आविर्भाव हुआ जिसमें भगवान् नारायण ने कृष्ण के रूप में अवतार लिया। उस प्रलय के समय प्रधानं पुरुष ब्रहम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था।[१]

पुराणों का मुख्य विषय सर्ग प्रतिसर्ग वंश मन्वन्तर एवं वंशानुचरित है। पुराणों के अतिरिक्त भारतीय साहित्य के प्रसिद्ध ऐतिहासिक धर्म ग्रन्थ महाभारत में भी पुराणों के इन पञ्च लक्षणो का उल्लेख किया गया है। इसी को महाभारत ने पुराण विद्या कहा है।[१] देश–काल एवं परिस्थितियों के अनुसार पुराण में भी परिवर्तन एवं परिवर्धन हुए जिनके फलस्वरूप पुराणों का रूप जो हमें उपलब्ध है, उसमें से कई पुराण ऐसे हैं जिनमें पञ्च लक्षणों का समुचित समावेश नहीं हो पाया है। वस्तुस्थिति यह है कि हमारे पौराणिकों ने सृष्टि रचना के समय को कई प्रकार से मिला दिया है तथा अबोधगम्य को सहज ही बोधगम्य बनाने के प्रयास में कई बातों को छोड़ दिया है।

यदि हम सृष्टि के मूल रूप पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ में जाति–पाँति का भेद–भाव नहीं था। हमारे उपनिषद् एवं पुराण मानव के प्रति सहज प्रेम् एवं परस्पर उपनषिद एवं पुराण मानव के प्रति सहज प्रेम एवं परस्पर समन्वय का पाठ पढ़ा रहे थे। वे ''सर्वजनहिताय'' की भावना से कार्यरत थे, किन्तु कालान्तर में जैसा कि आज भी देखा जाता है कुछ लोगों ने अपनी प्रभुता को बढाने के लिए जन समुदाय में नाना प्रकार की व्यवस्था कर जाति–पाँति का

१– नाहो न रात्रिर्नभो नभूमिर्नासीस्तमोज्योतिरभूच्च नान्यतृ।
श्रोतादिबुद्धयानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं बह्म पुनांस्तदासीत्।। –विष्णु पुराण १–२/२३

२– पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाय धीमताम् –महाभारत आदि पर्व ५/२

भेदभाव बनाकर कलह का बीज बो दिया, और जब उन्होंने देखा कि उस युग का समाज उनकी उस दुष्प्रवृत्ति का विरोध कर रहा था तब उन्होंने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए साधारण जनता को अपना लक्ष्य बनाया, अपनी स्वार्थ–लोलुप बातों को पुराणों में सम्मिलित कर दिया, जिससे साधारण जनता जिनकी आस्था पुराणों में थी, को सहज ही विश्वास हो गया। अतः आज जो पुराणों का स्वरूप हमें उपलब्ध है वह वास्तव में पुराणों का परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप है। हमारे मनीषियों ने वास्तव में उपनिषदों एवं पुराणों के वास्तविक अर्थ को समझा था, उनका मन्थन किया था, तभी तो उन्होंने कहा था कि जो सभी प्राणियों को अपने समान देखता है, वही सच्चा पण्डित है। जैसे –जैसे समय व्यतीत होता गया, धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तन होते गये। इन्हीं परिवर्तनों के परिणामस्वरूप पुराणों में भी विकास अथवा विकार आते गए। पुराण में होने वाले इस विकार अथवा विकास के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए डा० आनन्द स्वरूप गुप्त ने कहा है कि 'पुराणों का विकास देश काल के अनुसार होता रहा है। प्राचीन पुराण–ग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन तथा धर्मशास्त्र सम्बन्धी आख्यानों का ही प्राधान्य था। पुराणों का ध्येय तो आख्यानादि के द्वारा धर्म का प्रतिपादन है।'[१]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि हमारे पुराणों में वेदार्थ का उपवृंहण कर उसे जनसाधारण तक पहुँचाया। अतः हम कह सकते हैं कि पुराण वे काव्य हैं जिनमें भारतीय धर्म ग्रन्थ एवं वैदिक साहित्य का आख्यानों एवं उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक पुराणों में प्रक्षिप्तांशों की सख्या अधिक है फिर भी भारतीय प्राचीन शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान हेतु पुराणों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। वेदों के सार की भली–भाँति व्याख्या हेतु हमारे पुराणकारों ने अनेक स्थलों पर कल्पना शक्ति का सहारा लिया है, फिर भी मूल सामग्री में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है, बल्कि वर्ण्य–विषय अत्यधिक रुचिकर एवं सरल हो गया है।

१– वामन पुराण भूमिका–पृ० २५ –सं० डा० आनन्द स्वरूप गुप्त।

पुराणों का महत्व

धार्मिक क्षेत्रों में पुराणों का बहुत अधिक महत्व है। पुराणों को तो सनातन धर्म का प्राण कहा गया है। अठारह पुराणों में से लगभग सभी पुराणों में धर्म की चर्चा की गयी है, मुख्य रूप से गरुड पुराण, शिव पुराण, विष्णु पुराण तथा देवी पुराणों में ईश्वर की कथाओं की वृहद् रूप से चर्चा की गयी है। ऐसा कोई प्रसंग नहीं है जिसमें धर्म की आस्था व्यक्त न की गई हो। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश तथा सूर्यदेवता की उपासना करने की पद्धति का बोध पुराणों के माध्यम से ही होता है। विष्णु पुराण में कर्म के द्वारा सूर्य की उपासना से इसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

पुराणों में ऐतिहासिक विषयों की भी चर्चा की गई है। पुराणों के माध्यम से ही हमें राजा परीक्षित से लेकर पद्मानन्द तक अज्ञात इतिहास प्राप्त होता है जिससे हमें राजा परीक्षित कौन थे। तथा उनका वंश किस तरह से निरन्तर आगे की ओर बढ़ता रहा, इसका ज्ञान हमें पुराणों के माध्यम से ही प्राप्त हुआ है। पुराणो में मुख्य रूप से मौर्य वंशावली के लिए मत्स्य पुराण और गुप्त वंश के लिए वायु पुराण अत्यन्त प्रामाणिक है। इन वंशावलियों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अन्य वंशों का भी वर्णन पुराणों में प्राप्त हुआ है। वे हैं– आभीर, गर्दभ, शक्, यमन, तुषार, हूण आदि। राजवंशों की भी वंशावली प्राप्त होती है।

पुराणों में कुछ प्रमुख भौगोलिक स्थितियों का भी वर्णन किया गया है। पुराणों में चतुर्द्वीपा वसुमति, सप्तद्वीपा वसुमति, ८ द्वीप, १४ भुवन, क्षीर सागर आदि भू–विभाजन, तीर्थों समुद्रों, नदियों, पर्वतों एवं भौगोलिक महत्व के स्थानों का यत्र–तत्र वर्णन मिलता है। ब्रह्म पुराण में सृष्टि को ही ब्रह्म का विवर्त्त माना गया है। अतः इसका नाम ब्रह्म वैवर्त्त है। इस ब्रह्म–वैवर्त्त पुराण के खण्ड किए गए हैं। ये चार खण्ड हैं–ब्रह्म खण्ड, प्रकृति खण्ड, गणेश खण्ड और कृष्ण जन्म खण्ड। बह्म–पुराण में भूगोल का विशेष वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु उड़ीसा में स्थित कोणदित्य (कोर्णाक) नामक तीर्थ–स्थल का वर्णन किया गया है। पद्म पुराण के मूलभूत पाँच खण्डों मे से प्रथम सृष्टि खण्ड के तीर्थ पर्वो में पर्वतद्वीप तथा सातों सागरों का वर्णन किया गया है। विष्णु

पुराण के द्वितीय खण्ड में भूगोल का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। वायु पुराण में भौगोलिक दृष्टि बहुत ही वांछनीय है। जम्बुद्वीप का वर्णन विशेष रूप से वायु पुराण में किया गया है। स्कन्द पुराण में जगन्नाथ जी के मन्दिर का भी वर्णन किया गया है। इस पुराण में नर्मदा की सहायक नदी तापी के किनारे स्थित नाना प्रकार के तीर्थों का वर्णन मिलता है। ब्रह्माण्ड पुराण के प्रथम खण्ड में विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बु द्वीप और उसके पर्वत, नदियों का वर्णन अनेक अध्यायों में हैं।[१] भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्रद्वीप किंपुरुष वर्ष, कैलाश, शाल्मलि, द्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाक–द्वीप, पुष्कर द्वीप आदि सम्पूर्ण वर्षों और द्वीपों का भिन्न–भिन्न अध्यायों में बडा ही रोचक और विशद वर्णन किया गया है।

पुराणो में सामाजिक महत्व की भी चर्चा की गयी है। पुराणों मे वर्णाश्रम के गुण–कर्म अनेक प्रकार के संस्कार, पारिवारिक सम्बन्ध, गुरू–शिष्य सम्बन्ध राजधर्म आदि की महत्वपूर्ण विवेचना की गई है। पद्म पुराण को पॉच खण्डों में विभाजित किया गया है। तृतीय खण्ड में देवता, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष आदि का वर्णन किया गया है। इसमें महाभारत से भिन्न शाकुन्तलोपाख्यान का वर्णन किया गया है, जिसमें शकुन्तला का आश्रम में रहना तथा आश्रमवासियों से प्रेम के साथ–साथ वहॉ वन, लताओं, पशु, पक्षियों का सम्बन्ध भी दिखाया गया है। शकुन्तला का अपने पिता कण्व ऋषि तथा सखियों का प्रेम शकुन्तला के विदाई के समय स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। पद्म पुराण के चौथे पाताल खण्ड में रावण की कथा के पूर्व ही राम की कथा बतलायी गयी है। जो सामाजिक महत्व का मुख्य अङ्ग है। इसमें राम की पितृ भक्ति, माताओं का वात्सल्य भाव तथा राम की कर्त्तव्य पारायणता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

विष्णु पुराण के तृतीय अंश में चातुर्वर्ण्य धर्म का वर्णन किया गया है साथ ही कुछ प्रमुख संस्कारों का वर्णन किया गया है। ये संस्कार हैं–जातकर्म, नामकरण और विवाह संस्कार की विधि, इसके अलावा पूरे सोलह संस्कारों का वर्णन भी उपलब्ध है। ब्रह्मचर्य आश्रम का वर्णन करते

१– ब्रह्माण्ड पुराण, (आ० ६६–६२ तक)

समय गुरू और शिष्य के कर्तव्यों की बृहद् रूप से चर्चा की गयी हे। विष्णु पुराण के अतिरिक्तपुराणों में भी समाज की अच्छाइयों और बुराइयों से सम्बन्धित कथाएँ पुराणों में उपलब्ध हैं। जैसे देवी पुराण, शिव पुराण, भागवत पुराण आदि। समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए देवी–देवताओं ने अवतार लिया तथा पारिवारिक कर्त्तव्य, गुरू–शिष्य के कर्तव्यों का ज्ञान कराया।

पुराणों में व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, धर्म–शास्त्र, दर्शन, आयुर्वेद, शरीर विज्ञान आदि शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विषयों का महत्वपूर्ण विवेचन है। गरुड़ शास्त्र के प्रथम खण्ड में ज्योतिष शास्त्र का वर्णन किया गया। ज्योतिष शास्त्र का वर्णन करते हुए बताया गया है कि शनि की दश (१०) गुरू की उन्नीस (१६) और राहु की बारह वर्ष (१२) और शुक्र की इक्कीस वर्ष (२१) की दशा होती है।[१] प्रत्येक ग्रह अपनी–अपनी दशाओं में क्या फल प्रदान करते हैं, इसको भी स्पष्ट किया गया है प्रत्येक राशि के स्वामी, नक्षत्र, यात्रा करते समय शुभता और अशुभता को भी स्पष्ट किया गया है। यात्रा करते समय विप्र की कन्या, मृतदेह, शंख, भेरी, वसुन्धरा, वेणी, पूर्णकुम्भ दिखाई दे तो शुभ फल होता है। जम्बूक, ऊँट और खर आदि यात्रा में बायीं ओर हों तो शुभ कहे गये हैं।[२] इसमें हिचकी के भी लक्षण बतलाए गये हैं। चन्द्र शुद्धि कथन में चन्द्रमा के प्रथम भाव मे रहने से तृष्टि प्रदान करता है। द्वितीय भाव में होने पर आनन्द प्रदान नहीं करता है। तृतीय भाव में होने से चन्द्रमा राजसम्मान का दान करने वाला होता है। चतुर्थ चन्द्र कलह कराता है। पंचम चंद्र स्त्री का लाभ देने वाला है। षष्ठ चन्द्र से धन–धान्य आदि का आगमन होता है। सप्तम चन्द्रमा से रति और पूजा होती है। अष्टम चन्द्रमा मारक होता है इसे प्राणों का भी सन्देह रहा करता है। दशम भाव में चन्द्रमा होने से कार्यपूर्ण हो जाते हैं। एकादश चन्द्रमा के द्वारा प्रत्येक कार्यों में विजय

१– शनैश्चरे दश ज्ञेयागुरोरेकोनविंशति :
राहुद्वादशवर्षाणि एकविंशति भार्गवे। –गरुड़ पुराण – १/२

२– मृगाहिकपिमाजरिश्वानः शुकरपक्षिणः।
नकुलो मुषिकश्चैव यात्राया दक्षिणे शुभः।। –गरुड पुराण–१/१२

मिलती है। द्वादश चन्द्रमा बहुत अशुभ होता है। इसमें होने से निश्चित ही मृत्यु होती है। इसमें कोई सन्देह नही है।[1] इसके पश्चात् यात्रा करते समय नक्षत्रों की शुभता अशुभता बतलायी गयी है। किस नक्षत्र में किस दशा की यात्रा करनी चाहिए, बतलाया गया है। प्रत्येक ग्रह किस भाव में शुभ होते है किस भाव में अशुभ होते हैं, यह भी बतलाया गया हे। गरुड पुराण में ही द्वादश राशि वर्णन मे लग्न राशि के अनुसार इस प्रकार के फल बतलाए गये हैं कि लग्न में मेष राशि होने से कन्या बन्ध्या होती है। वृष लग्न में कामिनी, मिथुन लग्न में जन्म लेने वाली परम् सुभग और कर्क लग्न में जन्म लेने वाली वेश्या वृत्ति वाली अल्प पुत्रों वाली होती है। कन्या लग्न में उत्पन्न कन्या रूप, लावण्य से युक्त होती है। तुला लग्न में जन्म लेने वाली के रूप और ऐश्वर्य दोनों ही होते हैं। वृश्चिक लग्न में उत्पन्न कन्या बहुत ही कर्कशा होती हे। धनु लग्न में उत्पन्न कन्या स्वभावशालिनी होती है। मकर लग्न में पैदा होने वाली कन्या नीच का गमन करने वाली होती है। कुम्भ में उत्पन्न कन्या अल्पपुत्र वाली और मीन लग्न में उत्पन्न कन्या वैराग्य से युक्त होती है।

तुला, कर्क, मेष और मकर ये चार राशियाँ काम वाली हैं। क्योंकि ये चर स्वभाव वाली हैं। सिंह, वृष, कुम्भ और वृश्चिक ये स्थिर राशियाँ हैं। इनमें स्थिर गति से कार्य करना चाहिए। कन्या, धनु, मीन और मिथुन ये द्विस्वभाव वाली राशियँ होती हैं।[2] इन राशियों में उत्पन्न व्यक्तियों को द्विस्वभाव वाले ही कार्य करने चाहिए। यात्रा हमेशा चार लग्नों में और गृह प्रवेशादि कार्य हमेशा स्थिर राशियों में करना चाहिए। देवता की स्थापना और वाहय कार्य द्विस्वभाव वाली लग्नों में करनी चाहिए।[3] गरुड़ पुराण में स्त्री और पुरुष के शारीरिक लक्षणों के फल बतलाते हुए कहा गया है

१– दशमेकाम्यंनिष्पत्तिध्रुवमेकादशे जय।
द्वादशेन शशांकेन मृत्युरेव न संशयः।। –गरुड़ पुराण, चन्द्रशुद्धि कथन–१/८

२– पञ्चाननो वृष कुम्भो वृश्चिक स्युस्थिराणि हि।
कन्या धनुश्च मीनश्च मिथुन द्विस्वभावत।। –गरुड़ पुराण– १/६

३– गरूड़ पुराण, खण्ड (क) द्वादश राशि वर्णन, –श्लोक सं० ८–६–१०

इनके चरणों की अंगुलियां एक दूसरे से श्लिष्ट अर्थात् सटी हुई हुआ करती हैं। इन चरणों के नाखून ताम्र के समान होते हैं। शिर से उज्झित एवं सुन्दर गुल्फों वाले होते हैं। चरण कूर्म के समान उन्नत हुआ करते हैं।[1] विशेष रूप से रुक्ष पाण्डर वर्ण के नखों वाले शिरोन्नम वक्त्र सूप के समान फैले हुए आकार वाले संशुष्क अंगुलियों वाले चरण जिनके होते हैं, ये लक्षण दुःख और दरिद्रता देने वाले हैं। इसमें तनिक भी विचार करने की आवश्यकता नहीं हैं।[2] हाथी के सूढ के समान उतार–चढ़ाव वाली और बहुत कम रोमों वाली जांघ श्रेष्ठ होती है। बहुत महान आत्मा वाले नृपों के रोमकूपों में एक ही रोम होता है।[3] सद् एवं असद् बुद्धि वाले पंडितों और क्षत्रियों के रोम छिद्रों में दो–दो रोम हुआ करते हैं। जो दरिद्र होते हैं उनके रोम छिद्रों में तीन–तीन रोएं हुआ करते हैं। बिना मांस वाले जिनके घुठने हुआ करते हैं वे रोगी होते हैं। स्वल्प लिड्.ग वाला धनी किन्तु पुत्र आदि से रहित हुआ करता है। जो स्थूल लिड्.ग धारी पुरुष हुआ करता है। वह दरिद्र हुआ करता है। जिसके एक ही वृषण होता है। वह दुःखी होता है।असम होने पर स्त्री के समान चंचल होता है तथा सम वृषण होने पर वह पुरुष नृप होता है। जिनके वृषण लम्बे हों वह मनुष्य अल्पायु होता है, द्रव्य हीन ओर कुमाणि होता है। पाण्डर और मलिन प्राणियों में मनुष्य सुखी होता है।[4]

निश्वास लेकर शब्द युक्त मूत्र वाले नृप निःशब्द धारी होते हैं। भोगों से युक्त समान जठर वाले निःस्वघट के समान होते हैं। सर्प के समान उदर वाले मनुष्य दरिद्र होते हैं। इसके पश्चात रेखाओं के द्वारा आयु बतलायी गयी है। जिसके ललाट में समाहित तीन रेखाएं दिखाई दिया करती

१– गरुण पुराण,खण्ड (क) पुरुष और स्त्री लक्षण –श्लोक स० २
२– गरुड़ पुराण वही पुरुष और स्त्री लक्षण –श्लोक स० ३
३– गरुड़ पुराण वही पुरुष और स्त्री लक्षण –श्लोक सं० ४
४– विषमे स्त्री चंचली वै नृपः स्यादवृषणे समे।
प्रलम्बवृषणोऽल्पायुर्निद्रव्यः कुमणिभवेत।
पाण्डरैमलिनैश्चैव मणिभिश्र्च सुखी नरः।। गरुड़ पुराण, वही–१/७

हैं वह मनुष्य परमसुखी पुत्रों से युक्त साठ वर्ष तक जीवित रहा करता है जिसके ललाट पर दो रेखाएं दिखलाई देती हैं वह चालीस वर्ष तक जीवित रहता है और केवल एक ही रेखा वाला व्यक्ति जीवित रहता है। कर्ण पर्यन्त जो रेखाएं होती है वह शतायु होता है जिसके तीन रेखाएं अकर्णान्तरित होती है वह शतायु अर्थात् सौ वर्ष की आयु वाला पुरुष होता है।[१] इसी प्रकार की यदि दो रेखाएं हो तो सत्तर वर्ष (७०) की आयु होती है और तीन रेखाओं से युक्त यदि ललाट होता है तो साठ (६०) वर्ष तक जीवित रहता है। जिसके ललाट में भिन्न रेखाएँ होती हैं उस मनुष्य की अपमृत्यु होती है।[२] जिस मनुष्य के ललाट में विशाल और पट्टिका का चिह्न दिखाई देता है वह धन, पुत्रों से युक्त सौ (१००) वर्ष तक जीवित रहता है।[३]

गरुड़ पुराण में स्त्री के लक्षण के आधार पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है अर्थात् उसका फल क्या है, इसे बताते हुए भगवान् विष्णु ने कहा है कि जिस कन्या के केश कुंचित (घुँघराले) हों और मुख परिमण्डल वर्तुलाकार हो और नाभि दक्षिण की ओर आवर्त्त वाली हो वह कन्या कुल को बढ़ाने वाली है।[४] जिस कन्या का रंग स्वर्ण की तरह हो और हाथ लाल कमल के समान हो वह हजारों नारियों में एक अत्यन्त पतिव्रता धर्म वाली होती है।[५] जिस कन्या के टेढ़े तिरछे बाल हों और मण्डलवत गोल नेत्र हो उसका स्वामी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है और वह निश्चय ही दुःख भोगने वाली होती है।[६] जो कन्या पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख वाली और प्रातः कालीन सूर्य

१– गरुड़ पुराण, सम्पादक प० श्रीरामजी शर्मा आचार्य खण्ड (क)।
–पुरुष और स्त्री लक्षण पृ० स० १७६ श्लोक सं० १०

२– गरुड़ पुराण, वही, पृ० सं०–१७६, –श्लोक सं०–१२

३– गरुड पुराण, वही, पृ० सं०–१७६, –श्लोक सं०–१३

४– यस्यास्तु कुञ्चिताः केशाः मुखञ्च परिमण्डलम् ।
नाभिश्च दक्षिणावर्त्ता सा कन्या कुलवर्द्धिनी ।।१।। –गरुड पुराण, स्त्री लक्षण, श्लोक सं० १ पृष्ठ सं० १७८

५– या च काञ्चनवर्णाभा रक्तहस्तसरोरुहा ।
सहस्राणान्तु नारीणा भवेत्सापि पतिव्रता ।।२।। –गरुड़ पुराण, स्त्री लक्षण, पृ० सं० १७८

६– वक्रकेशा च या कन्या मन्डलाक्षी च या भवेत् ।
भर्त्ता च म्रियते तस्या नित्यं दुःखभागिनी ।।३।। –गरुड पुराण, स्त्री लक्षण, पृ० सं०–१७८

की प्रभा वाली हो जिसके विशाल (बड़े) नेत्र हों और बिम्ब के समान लाल ओष्ठ हो वह कन्या परम सुखों का उपभोग किया करती है।[1] बहुत सी रेखाओं के होने से क्लेश प्राप्त होता है और बहुत कम रेखाओं के होने पर धन की कमी रहती है। लाल रेखाओं से सुख मिलता है और कृष्णवर्ण वाली रेखाओं से प्रेष्यता प्राप्त होती है। कार्य को करने में वह पत्नी मंत्रों के समान होती है और साधनों में वह सुखी और मित्र के समान होती है। स्नेह में पत्नी माँ और शयन में शुभ वेश्या के समान होती है।[2] जिसके हाथ में अंकुश मण्डल चक्र के चिह्न होते है ऐसी स्त्री पुत्र का प्रसव किया करती है और वह राजा को अपना स्वामी प्राप्त करती है।

जिस स्त्री के पार्श्व भाग रोम वाले हों और स्तन भी रोमों से युक्त और अधरोष्ठ उन्नत हों वह कन्या शीघ्र ही अपने पति को मारने वाली होती है।[3] जिस कन्या के हाथ पैर की रेखाओं का आकार तोरड जैसा हो वह दास कुल में उत्पन्न होकर भी रानी के पद को प्राप्त करती है।[4] जिस स्त्री के रोमों की पंक्ति उद्‌वृत्त और कपिल होती है वह चाहे राजकुल में उत्पन्न हुई हो, अन्त में दासी के पद को प्राप्त किया करती है। जिस कन्या के अनामिका और पैर का अंगूठा भूमि पर नहीं टिकता है वह कन्या शीघ्र ही पति को मारने वाली होती है और स्वेच्छाचारिणी होती है। जिसके गमन करने से भूमिकम्प होता है। वह भी शीघ्र पति को मारने वाली होती है। फिर वह म्लेच्छों जैसे आचार वाली हो जाती है।

१–पूर्ण चन्द्रमुखी कन्या वालसूर्य्यसमप्रभा
विशाल नेत्रा बिम्बोष्ठी सा कन्या लभते सुखम् ।।४।। –गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, सम्पादक पं० श्रीराम जी शर्मा, स्त्री लक्षण पृ०सं०–१७८

२–कार्येपि मन्त्री पत्नी स्यात्मखी स्यात्करणेषु च ।
स्नेहेषु भार्या माता स्यात् वैश्या च शयने शुभा ।।६।। –गरुड़, पुराण, वही

३–यस्यास्तु रोमशौ पार्श्वो रोमशौ च पयोधरौ ।
उन्नतौ चाधरोष्ठौ चक्षिप्रं मारयते पतिम् ।। –गरुड़, पुराण, वही श्लोक सं० ८

४–यस्याः पाणितले रेखा प्रकारं तोरणं भवेत् ।
अपि दासकुले जाता राज्ञात्वमुपच्छति ।। –गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, स्त्री लक्षण, श्लोक स० ६

पुराणों में योग के सिद्धान्तों की चर्चा भी विधिवत् की गयी है। हमारे पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थों में से हम तीन पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिये आजीवन संघर्ष करते रहते हैं। जब संघर्ष करते—करते थक जाते हैं तो आराम की आवश्यकता पड़ती है। आराम हमें मोक्ष के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसको ध्यान में रखते हुए इन चारों पुरुषार्थों की चर्चा कुछ पुराणों में की गयी है। वस्तुतः पुराण एक ऐसा साधन है जिसके ज्ञान से मनुष्य इस भवसागर को पार कर सकता है। पुराणों में हमारे जीवन की सभी आवश्यकताओं तथा उपयोगी विषयों के विषय में जानकारी दी गयी है। इसलिए पुराणों का महत्व अविस्मरणीय है। पुराण हमारे जीवन का अत्यन्त मूलभूत अङ्.ग है समाज सम्भवतः कोई ऐसा विषय नहीं है जिसके मूलभूत सिद्धान्तो की चर्चा पुराणों में न की गयी हो।

प्राचीनता को अद्यतन स्वरूप देने के कारण ही पुराणों की महत्ता वेदों से कहीं अधिक ऑकी गयी है।[1] पुराण—प्रणयन का लक्ष्य, मात्र धर्माचार का नियमन एवं आदर्श स्थापन ही नहीं था, प्रत्युत उसके मूल में भारतीय मनीषा—प्रदत्त विधाओं एवं मूल्यों का यथासमय समुचित संग्रह एवं प्रकाशन तथा सामयिक परिप्रेक्ष्य में कलेवर—निर्धारण की अवधारणा आदि भी सन्निहित थे। यही कारण है कि पुराणों के वर्ण्य—विषयों के आधार धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त राजनीति शास्त्र, समाज व्यवस्था, इतिहास, भुवनकोश, खगोल, ज्योतिष एवं शिल्पशास्त्र आदि भी थे। इस दृष्टि से प्रत्येक पुराण वस्तुतः अपने समकालीन समाज भाषा एवं संस्कृति का दर्पण है। सहज भाषा एवं बोधगम्य शैली में संरचित पुराण जन—संस्कृति के द्योतक होने के कारण ऐतिहासिक उपादेयताओं से भरपूर है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी के लिए पुराण के अध्ययन और पुनर्मूल्यांकन की महती आवश्यकता है। पुराण भारतीय संस्कृत का मेरुदण्ड है—वह आधार पीठ है जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को

१—वेदार्थदधिकं मन्ये पुराणार्थ वरानने, —नारदीय पुराण, २/२४/१७

प्रतिष्ठित करता है। पुराण वे काव्य हैं जिनमें भारतीय धर्म ग्रन्थ एवं वैदिक साहित्य को आख्यानों एवं उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । वेदों के सार की भलीभाँति व्याख्या हेतु पुराणकारों ने अनेक स्थलों पर यद्यपि कल्पना शक्ति का सहारा लिया है, फिर भी मूल सामग्री में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है, बल्कि वर्ण्य–विषय अत्यधिक रुचिकर एवं सरल हो गया।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

भारतीय दर्शन और योग—संक्षिप्त परिचय

संसार के मर्म, जीवन रहस्य, सुख—दुःख तथा पुरुष और प्रकृति के विषय में स्पष्टीकरण ही दर्शन कहलाता है। दर्शन का अर्थ होता है देखना अर्थात् किसी तथ्य या ज्ञान को भलीभॉति समझना। किसी वस्तु को देखने मात्र से उस विषय की पूर्ण जानकारी असम्भव है। वस्तुतः उसे जानने और समझने के लिए हमें इन्द्रियों की सहायता लेनी पड़ती है, जिनमें पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियॉ हैं। तब किसी भी तथ्य या घटना विशेष को देखते हैं और सुनते हैं, तदुपरान्त उस विषय पर बुद्धि का प्रयोग करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

'दर्शन' शब्द हमारे जीवन में एक अनिवार्य पहलू है। प्रायः व्यापारों के द्योतक शब्दों बौद्ध प्रत्यय, 'मेन्टल आइडियाज', 'कान्सेप्ट्स' आदि नामकरण विभिन्न भाषाओं में हो रहा है। निःसन्देह ज्ञान, विस्पष्ट, प्रत्यक्ष, अपरोक्ष अनुभव को ही दर्शन कहते हैं। किसी घटना या तथ्य को देखने का कार्य ऑख के द्वारा होता है और इसीलिए दर्शन शब्द का अर्थ ऑख भी माना गया है। आँखों के द्वारा ही हम कुछ नया देख सकते हैं जिसके द्वारा हमें कोई नया ज्ञान प्राप्त होता है और सब कुछ उस समय हमें नया दिखाई देने लगता है। 'मेधाऽसि देवि विदिताऽखिल—शास्त्र सारा' अर्थात् सब शास्त्रों के सार को, वास्तविकता को समझने की शक्ति उत्पन्न हो जाये, समदर्शी होना अर्थात् असंख्य मत, धर्म, रुचियों का विरोध परिहार और सच्चा परस्पर समन्वय होना और सब बातों में एक ही रूप दिखाई देना ही सच्चा दर्शन कहलाता है। जिसके कारण असंख्य दृष्य एक दृष्टा के अन्दर दिखाई देने लगें जिससे सब देश को सभी वंश और धर्म, रूप रंग आदि को अपने ही समान समझने लगे अर्थात् उसी में स्वयं भी समाहित हो जाय तो संसार के सम्पूर्ण दुःख ही समाप्त हो जाय, यही सच्चा दर्शन है।

आचार—विचार को एक रूपता प्रदान करने के लिए लगातार प्रयास में जिन विद्वानों ने सम्पूर्ण जीवन ही लगा दिया है उनके विचारों की यह महानता ही थी कि उन्होनें सत्य की खोज

के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन दांव पर लगा दिया। सत्य क्या है ? इसकी वास्तविकता को जानने के लिए वे निरन्तर प्रयत्न में लगे रहे। निरन्तर चिन्तन करने के बाद उनकी जो धरणाएं बनती थी वह एक निश्चित धारणा होती थी। उस धारणा की सत्यता के लिए मनीषीगण उसे व्यवहार में उतारते थे। आचार के साथ उनका समन्वय करके उसको परखते थे। उनका ऐसा विश्वास था कि मनुष्य जो कुछ भी अपनी ऑखों से देखे, उसी को सत्य माने ''चक्षुर्वै सत्यम्''। चक्षुरिन्द्रिय और उससे होने वाला दर्शन यद्यपि मुख्य रूप से बाह्य वस्तुओं से सम्बन्धित है फिर भी लक्षण से उत्पन्न वेदों में अनुभव प्राप्त करने के लिए ही प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में जिसे दर्शन कहते हैं वह जीवन की प्रयोगशाला में अनुभव किया गया सत्य है, चाहे वह साध्य विषयक हो या साधन विषयक। विभिन्न समय तथा परिस्थितियों के मध्य विभिन्न मनीषियों द्वारा किये गये सत्य की खोज एवं अनुभव यद्यपि सर्वथा अनुरूप या एक से नहीं हैं और वैयक्तिक एवं अन्य प्रकार की विषमताओं के कारण एक से हो भी नहीं सकते थे, फिर भी वे सब सत्य की खोज के विभिन्न प्रयोग तथा अनुभव हैं। इसलिए उनकी 'दर्शन' संज्ञा और उनके द्रष्टाओं की 'ऋषि' संज्ञा सर्वथा सार्थक है।[१]

दर्शन शब्द की उत्पत्ति 'दृश' शब्द से होती है, 'दृश' का अर्थ है देखना। दर्शन को ही ग्रीक भाषा में फिलॉसफी कहा गया है। फिलॉसफी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है। पहला शब्द है फिलॉस तथा दूसरा शब्द हैं, 'सोफिया'। 'फिलॉस'शब्द का अर्थ है प्रेम और 'सोफिया' शब्द का अर्थ है ज्ञान। इस प्रकार 'फिलॉसफी' शब्द का अर्थ हुआ ज्ञान का प्रेम यां ज्ञानानुराग या ज्ञान का अन्वेषण ।मानव मन में स्वयं को बाह्य संसार को जानने की इच्छाएं होती हैं। यद्यपि मानव की उत्पत्ति, स्थिति और लय इसी संसार में होता है, फिर भी मानव केवल शरीरिन्द्रय–प्राण संघात के अलावा और भी कुछ है और इस 'और कुछ' को जानने की इच्छा भी है। दार्शनिक चिन्तन

१–तर्कसंग्रहः, व्याख्याकार डा० आद्या प्रसाद मिश्र की भूमिका, पृष्ठ–३ व ४

मानव की मूल प्रवृत्तियों में सम्मिलित है। प्रत्येक व्यक्ति का कोई न कोई जीवन दृष्टि, जीवन मूल्य या जीवन दर्शन अवश्य होता है इसलिए मानव के लिए चुनाव जैसा डा० हक्सले महोदय का कथन है–'दर्शन या अदर्शन के बीच न होकर हमेशा अच्छे या बुरे दर्शन के लिए होता है।'

पाश्चात्य दर्शन ने प्रायः बौद्धिक चिन्तन को ही महत्वपूर्ण माना है यद्यपि कुछ दार्शनिको ने अपरोक्ष ज्ञान की महत्ता को भी स्वीकार किया है। भारतीय दर्शन प्रायः अपरोक्षानुभूति या आत्मसाक्षात्कार को प्रधान और बौद्धिक चिन्तन को गौण मानता है। दर्शन शब्द का अर्थ ही है–साक्षात् देखना अर्थात् परमतत्व का साक्षात्कार या अपरोक्षानुभव। दर्शन शब्द के अन्तर्गत साक्षात्कार के साधनों को भी ले लिया गया है।[1] ये साधन हैं श्रुति और तर्क। 'आत्मा को जानो'(आत्मानं विद्धि)–यह भारतीय दर्शन का उद्घोष है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों का आत्यन्तिक नाश एवं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति भारतीय दर्शन का लक्ष्य है।[2] प्राचीन और अर्वाचीन, हिन्दू और अहिन्दू ,आस्तिक और नास्तिक–जितने प्रकार के भी भारतीय हैं उन सभी के दार्शनिक विचारों को भारतीय दर्शन कहते है। कुछ विद्वान् भारतीय दर्शन को हिन्दू दर्शन का पर्याय मानते हैं। किन्तु यदि हिन्दू , शब्द का अर्थ वैदिक धर्मावलम्बी हो तो भारतीय दर्शन का अर्थ केवल हिन्दुओं का दर्शन समझना अनुचित होगा। इस सम्बन्ध में माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन–संग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। माधवाचार्य स्वयं वेदानुयायी हिन्दू थे। उन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ में चार्वाक, बौद्ध और जैन मतों को भी दर्शन में स्थान दिया है। इन मतों के प्रवर्त्तक वैदिक धर्मानुयायी हिन्दू नहीं थे। फिर भी, इन मतों को भारतीय दर्शन में वही स्थान प्राप्त है जो वैदिक हिन्दुओं के द्वारा प्रवर्तित दर्शनों को है।

१– दर्शनं साक्षात्कारणम्; अपि च, दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। उद्धृत भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ० १३।

२ – भारतीय दर्शन, वही – पृ० सं० – १

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दर्शन के विषय में यह बताया गया है कि 'दर्शन' वह विद्या है जिसके द्वारा सत्य का साक्षात्कार (Vision of Truth) हो जाने पर व्यक्ति वास्तविक और मिथ्या (Real and Unreal) का अन्तर समझ लेता है। दर्शन से हमें सम्यक दृष्टि प्राप्त होती है। विषयों का वास्तविक ज्ञान हमें इसी शास्त्र के द्वारा होता है। व्यक्ति तभी तक बन्धन में रहता है, जब तक उसे सत्य ज्ञान नहीं होता। सत्य ज्ञान मिलते ही व्यक्ति सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और उसे मोक्ष (Salvation) मिल जाता है। इस प्रकार भारतीय विचारकों के अनुसार दर्शन का उद्देश्य बन्धन काटकर व्यक्ति को मोक्ष दिलाना है। इसलिए भारतीय दर्शन को 'मोक्ष दर्शन कहा जाता है। दर्शन को ही शास्त्र भी कहा जाता है। डॉ० गजानन शास्त्री ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया है। अपने 'न्याय सिद्धान्त मुक्तावलि' में उन्होंने वर्णन किया है कि शास्त्र शब्द दो धातुओं से मिलकर बना है। पहला 'शास, जिसका अर्थ है।– 'आज्ञा करना ' और दूसरा है शंस। शंस का अर्थ है प्रकट करना या वर्णन करना।[१] शासक शास्त्र (वेद धर्म शास्त्र आदि) किया (अनुष्ठान) परक होता है और शंसक शास्त्र (दार्शन) ज्ञान परक होता है। दर्शन शब्द के साथ 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग शंसक शास्त्र (बोधक शास्त्र) के अर्थ में ही किया जाता है। धर्म शास्त्र और वेद का कर्म काण्ड भाग कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मुख्य रूप से विधान करता है, इसलिए यह पुरुष–परतंत्र है और दर्शन शास्त्र वस्तु स्वरूप का वर्णन करता है, इसलिए वह वस्तु तंत्र है।[२]

भारतीय दर्शन को मुख्यतः दो भागों में बाँटा गया है– पहला आस्तिक दर्शन और दूसरा नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत छः दर्शन आते हैं मीमांसा और वेदान्त, न्याय और

१– न्याय सिद्धान्त मुक्तावलीः डा० गजानन शास्त्री ,मुसलगॉवकर,
वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १६८४, पृष्ठ संख्या ६।

२– 'शासनात् शंसानात् शास्त्र शास्त्रंमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न कियापरम्।
–न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, वही, पृ० ७

वैशेषिक तथा सांध्य और योग। इन छः दर्शनों को षड्दर्शन के नाम से भी पुकारा जाता है आस्तिक दर्शन का तात्पर्य यह है कि ये छहों दर्शन ईश्वरवादी दर्शन नहीं हैं, अर्थात् ये ईश्वर को नही मानते हैं। फिर भी इन्हें आस्तिक दर्शन कहा गया है क्योंकि ये सभी दर्शन वेद को प्रमाण मानते हैं। इससे यह अर्थ निकलता है कि आस्तिक का अर्थ है वेदानुयायी अर्थात् वेदों को मानने वाले और नास्तिक का अर्थ है कि वेद विरोधी अर्थात् वेदों को न मानने वाले। इसी प्रकार जो लोग परलोक में विश्वास करते हैं उन्हें भी आस्तिक माना गया है और जो लोग परलोक में विश्वास नहीं करते हैं उन्हें नास्तिक माना गया है। चूँकि इन दोनों परिभाषाओं के अन्तर्गत चार्वाक दर्शन नहीं आता है इसलिए उसको एक नास्तिक दर्शन के रूप में माना गया है। इन छहों दर्शनों में से सांख्य और मीमांसा नास्तिक दर्शन में चले जाते हैं। क्योंकि ये दोनों ही दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन हैं। किन्तु वेदों की प्रामाणितकता को मानने के कारण इन्हें आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत रखा गया है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य मीमांसा, वेदान्त और योग दर्शनों को दोनों ही अर्थो में आस्तिक कहां गया है, उन्हें आस्तिक दर्शन इसलिए कहा गया है, क्योंकि वे वेदों की प्रमाणिकता में विश्वास करते हैं इसके अतिरिक्त इन्हें इसलिए भी आस्तिक कहा गया है क्योंकि ये परलोक की सत्ता में विश्वास करते हैं। चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शनों को दोनों ही अर्थो में नास्तिक कहा गया हैं, पहला वे वेदों को न मानने के कारण नास्तिक कहे गए हैं और इसके अलावा ईश्वर के विचारों का खण्डन करने के कारण अर्थात् अनीश्वरवाद को अपनाने के कारण भी इन्हें नास्तिक दर्शन कहा गया हैं भारतीय दर्शन के प्रत्येक भागों का विभाजन इस प्रकार से किया गया है।
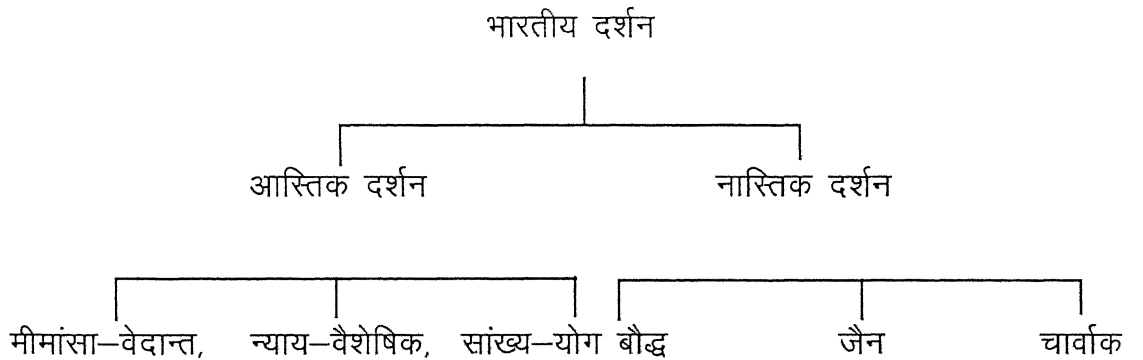
मीमांसा दर्शन

कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड तथा ज्ञान काण्ड के वेदार्थ विषयक ज्ञान को मीमांसा कहा गया है मीमांसा शब्द 'मान् ज्ञाने' से जिज्ञासा अर्थ में 'माने र्जिज्ञासायाम्' वार्तिकी की सहायता से निष्पन्न होता है। मीमांसा शब्द का अर्थ है पूजित विचार या पूजित जिज्ञासा।[1] सबसे पहले मीमांसा शब्द कर्मकाण्ड सम्बन्धी जिज्ञासा के लिए प्रयोग किया जाता था। वेदों के पारस्परिक विरोध का निराकरण करके उनमें एक वाक्यता स्थापित करने के लिए जो विचार–विमर्श किया जाता था उसे मीमांसा कहते थे। तत्पश्चात मीमांसा शब्द का प्रयोग किसी भी विषय के समीक्षात्मक विवेचन के लिए होने लगा एवं जिज्ञासा, मीमांसा तथा समीक्षा पर्यायवायी शब्द हो गये। मीमांसा के दो भेद माने गये हैं पहला पूर्व मीमांसा और दूसरा उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा में कर्म काण्ड पर विचार किया गया है, जबकि उत्तर मीमांगस में ज्ञान काण्ड पर विचार किया गया है वस्तुतः ये दोनों दर्शन एक ही ग्रन्थ के दो भाग माने जाते है। पूर्व मीमांसा की रचना श्री वेद व्यास के शिष्य जैमिनी मुनि ने प्रवृत्ति मार्ग गृहस्थियों और कर्मकाण्डियों के लिए की गयी है। उसका प्रसिद्ध नाम मीमांसा दर्शन है। मीमांसा दर्शन को जैमिनीय दर्शन भी कहा जाता है इसके बारह अध्याय हैं जो मुख्य रूप से कर्मकाण्ड से सम्बन्धित हैं। उत्तर मीमांसा निवृत्ति मार्ग वाले ज्ञानियों और सन्यासियों के लिए श्री व्यास महाराज ने स्वयं रचा है। वेदों के कर्मकाण्ड प्रतिपादक वाक्यों में जो विरोध दिखाई देता हैं केवल उसके वास्तविक अविरोध को दिखाने के लिए।पूर्व–मीमांसा की और वेद के ज्ञान काण्ड में समन्वय साधन और अविरोध की स्थापना के लिए उत्तर मीमांसा क़ी रचना गयी है। अतः पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा दोनों ही दर्शनों में शब्द प्रमाण को ही मुख्य माना गया है। महर्षि

जैमिनि मीमांसा सूत्र के रचयिता अवश्य हैं, किन्तु उसके प्रर्वतक नही हैं। जैमिनि ने स्वयं

१– भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा पृष्ठ–१६।

भी कई पूर्व मीमांसा के आचार्यो का उल्लेख तो किया है किन्तु उनकी रचनाएं उपलब्ध नही हो पायी हैं। मीमांसा सूत्र दार्शनिक सूत्रों में सबसे बडा सूत्र हैं मीमांसा–सूत्रों पर शबर स्वामी का भाष्य भी उपलब्ध है। शाबर भाष्य पर प्रभाकर मिश्र की 'बृहती' टीका है जिस पर शालिक नाथ ने 'ऋजुविमला' टीका लिखी है एवं उनका 'प्रकरण पञ्चिका' नामक मौलिक ग्रन्थ भी बहुत ही प्रसिद्ध है।

प्रामाण्यवाद

प्रभाकर के अनुसार प्रमा अर्थात् ज्ञान एक मात्र हमारा अनुभव है अनुभव को ही अनुभूति भी कहा गया है अनुभूति स्वयं में एक प्रकाश हैं अर्थ की अनुभूति हमेशा यथार्थ ही होती है और स्वतः प्रकाशित होती है उसके लिए किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। प्रमा अज्ञात और सत्य पदार्थ का ज्ञान है[1] 'अज्ञात' पद से स्मृति की व्यावृत्ति और 'सत्य' पद से भ्रम और संशय की व्यावृत्ति हो जाती है । इस प्रमा के कारण को ही प्रमाण कहा जाता है। जिस ज्ञान को उत्पन्न करने वाली कारण सामग्री में कोई दोष न हो, जो ज्ञान अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो और जो ज्ञान सत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो वह ज्ञान ही प्रमा है और उसका कारण प्रमाण है।[2]

प्रभाकर और कुमारिल दोनों को ही स्वतः प्रामाण्यवादी कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों ही मीमांसक थे और मीमांसक स्वतः प्रमाण वाद को मानते हैं और ज्ञान स्वतः प्रमाण होता हैं मीमांसकों के अनुसार प्रामाण्य की उत्पत्ति और प्रामाण्य का ज्ञान दोनों ज्ञान के साथ ही उदित होते हैं और उसी सामग्री से उत्पन्न होते हैं जिससे ज्ञान उत्पन्न होता हैं।[3] किन्तु मीमांसकों के कहने के अनुसार ज्ञान का अप्रमाण्य 'परतः' होता है और बाहर से आता है। अप्रामाण्य का केवल अनुमान

१– प्रमा चाऽज्ञाततत्वार्थज्ञानम्– मानमेयोदय ,१,२।

२– कारणदोष–बाधक ज्ञान–रहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् १ –शास्त्रदीपिका –१,१,५।

३– प्रामाण्यं स्वतः उत्पद्यते स्वतः ज्ञायते च।
उत्पत्तौ स्वतः प्रामाण्यं ज्ञातौ च स्वतः प्रामाण्यम्। –भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० १६३

द्वारा ही पता लगाया जाता सकता है यह अनुमान कारण–सामग्री में उत्पन्न किसी दोष के कारण या बाधक बनने वाले किसी ज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। लेकिन सांसारिक जीवन में हमारा जो व्यावहार होता है वह स्वतः प्रमाण और यथार्थ को मान कर ही होता हैं लेकिन कभी–कभी वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता है। उसमे सफल प्रवृत्ति की शक्ति नहीं रह जाती है उस समय हमें सोचने के लिए विवश होना पडता है और ज्ञान अप्रमाण्य का परतः अनुमान किया जाता है। सत्य को ही सामान्य व्यावहार माना जाता है और भ्रम असामान्य बना रहता है। जैसे–कोई व्यक्ति पीलिया का रोगी है पीलिया का रोगी होने के कारण सफेद शंख उसको पीला दिखाई देता हैं तो ऐसा केवल कारण दोष से ही होता है नेत्रों में पित्त दोष उत्पन्न होने के कारण ही उस व्यक्ति को सफेद शंख पीला दिखाई देता हैं इसके अप्रामाण्य का अनुमान दोष के कारण होता है। मान लीजिए किसी व्यक्ति को पडी हुई रस्सी में रात के अन्धेरे में सॉप का ज्ञान हो जाता है तब उस व्यक्ति को वह रस्सी साँप दिखाई देने लगती है, किन्तु जैसे ही वह व्यक्ति यह जान जाता है कि वह सॉप नहीं, बल्कि रस्सी है वैसे ही रस्सी में सर्प का ज्ञान रस्सी का ज्ञान होते ही बाधित हो जाता है। इसके अप्रामाण्य का अनुमान केवल बाधक ज्ञान के कारण ही हो जाता है।

प्रत्यक्ष

मीमांसा दर्शन के प्रवर्त्तक जैमिनि ने मात्र तीन ही प्रमाण स्वीकार किए हैं वे प्रमाण हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। किन्तु प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति नामक दो प्रमाणों को और मानकर इनकी संख्या तीन से बढाकर पाँच कर दी है। इन प्रमाणों को देख़ते हुए कुमारिल ने भी इन पॉच प्रमाणों के अलावा अनुपलब्धि नामक एक छठें प्रमाण को स्वीकार किया है प्रभाकर और कुमारिल नामक मीमांसकों ने शब्द प्रमाण के दो रूप स्वीकार किए हैं– पहला परोक्ष ज्ञान और दूसरा अपरोक्षज्ञान। दोनों ने ही प्रत्यक्ष ज्ञान की सविकल्पक और निर्विकल्पक अवस्थाओं को भी स्वीकार किया है। प्रभाकर के अनुसार प्रत्यक्ष साक्षत् प्रतीति है (साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्) कुमारिल के अनुसार कारण दोष रहित और अबाधित इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है।

अनुमान

अनुमान के विषय में दो तथ्यों को छोड़ कर दोनों दार्शनिक न्याय दर्शन से सहमत हैं और वह है व्याप्ति तथा अनुमान के विषय में। नैय्यायिकों ने अनुमान में पॉच अवयव माने थे–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। किन्तु मीमांसक निगमन को प्रतिज्ञा में और उपनय को हेतु में समाहित करके तीन ही अड़्.ग मानते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण या उपनय तथा निगमन। किन्तु मीमांसक निगमन को प्रतिज्ञा में तथा उपनय को हेतु में समाविष्ट करके केवल तीन अड़्.ग मानते हैं–प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण, उपनय तथा निगमन (न्याय दर्शन में स्वीकृत अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्तियों में से मीमांसक केवल अन्वय व्याप्ति को स्वीकार करते हैं।

उपमान

मीमांसा दर्शन में भी न्याय की ही तरह उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु मीमांसा तथा न्याय दोनों ही दर्शनों में उपमान का प्रयोग अलग–अलग अर्थो में किया गया है। मीमांसा दर्शन के अनुसार पहले देखी गई वस्तु के समान, किसी दूसरी वस्तु को देखकर, स्मृत वस्तु, देखी गई वस्तु के समान है। इस प्रकार के प्राप्त ज्ञान को ही उपमान जन्य ज्ञान माना गया हैं यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, स्मृति जन्य ज्ञान भी नहीं है तथा अनुमान जन्य ज्ञान भी नहीं है। शब्द प्रमाण से भी यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है इसलिए यह स्वतन्त्र ज्ञान है।

न्याय दर्शन में उपमान प्रमाण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि गाय के समान गवय होता है, जंगल में गाय के समान ही किसी दूसरे जन्तु को देखकर व्यक्ति को यह ज्ञात होता है कि ''यह गवय है'' , यही उपमान कहलाता हैं। परन्तु मीमांसक न्याय के इस मत से सन्तुष्ट नहीं है उनका विचार है कि ''यह जन्तु गाय के सदृश है'' का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है तथा "गाय के सदृश जन्तु गवय है'' का ज्ञान स्मृति के द्वारा होता है। यह अनुमान के द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है तब नैय्यायिक जिसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मानते है। वह वास्तव में स्वतन्त्र नहीं है।

मीमांसकों के अनुसार— "किसी व्यक्ति को किसी भी आप्त (ज्ञानी) पुरुष के द्वारा बताना जरूरी नही है कि नील गाय, गाय के समान होती है।"

सादृश्य के कारण उसे गाय के स्मरण द्वारा गवय का ज्ञान प्राप्त होता है या स्मृत गाय इस दृश्यमान जन्तु के समान है मीमांसा के अनुसार स्मृत गाय का दृश्य गवय से सादृश्य का ज्ञान उपमान है इस प्रकार मीमांसा दर्शन के द्वारा तीन बातें स्पष्ट होती हैं— १— नील गाय का प्रत्यक्ष होना, २— गाय का स्मरण होना और ३— दोनों का सादृश्य ज्ञान होना, उपमान के लिए आवश्यक माना गया है। उपमान ज्ञान का आधार 'व्याप्ति' को नहीं माना गया है। परिणाम स्वरूप यह अनुमान से बिल्कुल अलग होता है इसे प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सादृश्य वस्तु (गाय) का प्रत्यक्ष नहीं होता है प्रत्यक्ष तो केवल गवय का ही होता है यह स्मृति ज्ञान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि स्मृति ज्ञान में सादृश्य ज्ञान नहीं आता है। इसलिए उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में माना गया है।[1]

शब्द

पौरुषेय और अपौरुषेय के भेद से शब्द प्रमाण के दो भेद माने गये हैं पौरुषेय को ही आप्त वाक्य के रूप में माना गया है जबकि अपौरुषेय वेदवाक्य के ही अन्तर्गत आते हैं। पौरुषेय वाक्य में प्रामाण्य वक्ता की आप्तता के कारण ही अनुमित होता है पौरुषेय वाक्यों में संशय और विपर्यय की सम्भावना अधिक रहती है, किन्तु अपौरुषेय वेद वाक्य स्वतः ही प्रमाण हैं, नित्य और अपौरुषेय हैं क्योंकि ये पुरुष के द्वारा रचित नहीं है। इसलिए इन्हें स्वतः प्रमाण माना गया है, क्योंकि इसका कोई रचयिता नहीं है न जीव और न ही ईश्वर। इसलिए वेद अपने में स्वयं ही प्रमाण माना गया है इसका कोई और प्रमाण न होने के कारण। कुमारिल के अनुसार वेद वाक्य विधायक वाक्य हैं। वेद हमें कर्म करने या न करने का आदेश देता हैं[2] वेद के विधि वाद और अर्थवाद नामक दो भेद किए जा सकते हैं। इनमें मुख्य भाग को विधिवाद कहते हैं जो कर्म करने का आदेश देता

१— अभिहितान्वयवाद (भारतीय दर्शनः आलोचन और अनुशीलन, अनूदित, चन्द्रधर शर्मा) पृ० सं०—१६७
२— अन्विताभिधानवाद (भारतीय दर्शनः आलोचन और अनुशीलन, अनूदित, चन्द्रधर शर्मा) पृ० सं०—१६८

हैं। अर्थवाद को वर्णनात्मक कहा गया है, क्योंकि यह किसी वस्तु का पूर्ण वर्णन करता हैं। प्रभाकर के अनुसार अर्थवाद भी कर्म का सहायक बनकर ही प्रामाणिक हो सकता है।[1]

अर्थापत्ति

जिस अर्थ के अभाव में दृष्ट या श्रुति की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उस अर्थ की कल्पना ही अर्थापत्ति है।[2] किसी अर्थ की उपपत्ति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहते है। दोनों तथ्यों में विरोधाभास है तो उस विरोधाभास को दूर करने के लिए जो कल्पित अर्थ निकालते हैं, उसी को अर्थापत्ति कहा जाता है। कुमारिल तथा प्रभाकर नामक दोनों ही मीमांसकों ने अर्थापत्ति को बहुत महत्वपूर्ण प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है जैसे–जीवित देवदत्त घर में नहीं है; इस वाक्य के दो तथ्यों में अर्थात् देवदत्त के जीवित होने में और उसके घर मे न होने में असङ्गति या विरोधाभास स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, किन्तु उसका उपाय देवदत्त के घर से बाहर होने के अर्थ की कल्पना से हो जाता है, इसी को अर्थापत्ति कहते है। अर्थापत्ति को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि "देवदत्त नाम का एक व्यक्ति है जो दिन में भोजन नही करता है फिर भी वह दिनोदिन स्वस्थ होता जा रहा है।" उपर्युक्त वाक्य में दिखाया गया है कि दिन में भोजन न करना तथा स्वस्थ होना ये दोनों ही बातें एक दूसरे के ठीक विपरीत हैं। दोनों की उपपत्ति को उस समय समझा जा सकता है, "जब कल्पना की जाय कि यदि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है तब रात्रि में खूब भोजन करता होगा।" ऐसी कल्पना करने से दोनों अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। इसलिए इसे अर्थापत्ति कहा जाता है।

अनुपलब्धि

अभाव का साक्षात् ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा माना गया है। जैसे–"कमरे में घट नहीं है" इसका ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव ही नहीं है, क्योंकि अभाव वस्तु नहीं है। इसका इन्द्रियों के

१– भारतीय दर्शनः आलोचन और अनुशीलन, अनूदित, चन्द्रधर शर्मा पृ० सं०–१६८
२– अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना।। –शाबरभाष्य–१,१,५

साथ कोई भी सम्पर्क नहीं होता है। घट का ज्ञान घट की अनुपलब्धि के कारण है। घट का अदर्शन अर्थात् घट के अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता है। अतः इसे अनुमान भी नही माना जा सकता है। यह ज्ञान शब्द ज्ञान भी नहीं हैं, क्योंकि घट का अभाव आप्त वाक्य नहीं है। घटाभाव (घट नहीं है) का साक्षात् ज्ञान हमें होता है, इसकी उत्पत्ति के लिए अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण मानना आवश्यक है। न्याय दर्शन और मीमांसक प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते हैं। प्रभाकर न तो अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं, न ही अभाव को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। न्याय दर्शन में अभाव को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में तो स्वीकार किया गया है, किन्तु इस अभाव के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया है। न्याय दर्शन के अनुसार– जिस इन्द्रिय द्वारा हमें भाव पदार्थ का ज्ञान प्राप्त होता है उसी के द्वारा अभाव पदार्थ का भी ज्ञान प्राप्त होता है तथा जिस अनुमान से भाव पदार्थ की प्रतीति होती है उसी से अभाव की भी प्रतीति होती है। इसलिए अभाव प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा होता है, इसके लिए अनुपलब्धि जैसे किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती है परन्तु कुमारिल न्याय दर्शन के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि–अभाव का किसी भी इन्द्रिय से सम्पर्क सम्भव नहीं है, जिसके कारण यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है और अभाव के द्वारा किसी की व्याप्ति का भी ज्ञान नहीं होता है। अतः यह अनुमान भी नहीं हो सकता है। अभाव का ज्ञान उपमान, शब्द (अर्थापत्ति) से भी सम्भव नहीं है। कुमारिल के अनुसार–अभाव के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण मानना आवश्यक है, क्योंकि यह अनुमान और प्रत्यक्ष को भी विषय नहीं है। इन्होंने स्पष्ट किया है कि अभाव अधिकरण से अभिन्न है। 'कमरे में घट नहीं है' इससे घटाभाव का ज्ञान नहीं होता है, बल्कि कमरे का ज्ञान होता है। इसलिए अभाव का ज्ञान केवल अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण द्वारा सम्भव है।

आत्मा तथा ज्ञान

कुमारिल और प्रभाकर नामक दोनों मीमांसकों ने आत्मा की अनेकता, नित्यता सर्वगत विभु, व्यापक द्रव्य और ज्ञान के आश्रय को स्वीकार किया है। आत्मा को शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से

अलग ज्ञाता कर्ता और भोक्ता के रूप में स्वीकार किया गया हैं शरीर भोग प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है और इन्द्रियाँ भोग प्राप्त करने का साधन मात्र हैं तथा बाहरी पदार्थ को भोग का विषय माना गया है। ज्ञान को आत्मा में बाहर से आने के कारण आगन्तुक धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है,[1] यह आत्मा का स्वरूप नहीं है और न ही इसका कोई अलग धर्म है। प्रभाकर के अनुसार– 'आत्मा एक जड़ द्रव्य है ज्ञान का आश्रय है और आत्मा का आगन्तुक गुण हैं धर्म–अधर्म के समाप्त होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है जिससे शरीर और इन्द्रियों के सम्बन्ध में आत्यन्तिक विलय हो जाता है। इस आत्यन्तिक विलय के कारण ज्ञान, सुख–दुःख, प्रयत्न, इच्छा आदि गुण आत्मा में उत्पन्न ही नहीं होते हैं।

प्रभाकर के विपरीत मत कुमारिल का है, कुमारिल के मत के अनुसार–ज्ञान को आत्मा की किया माना गया है या उसका परिणाम स्वीकार किया गया है। इसी के माध्यम से आत्मा पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करती है। आत्मा नित्यानित्य, भेदाभेद, चिद्‌चिद् द्रव्य–गुण–कर्म–रूप हैं। द्रव्य के रूप में आत्मा नित्य, अभेद और अचिद् रूप है परन्तु गुण कर्म में आत्मा अनित्य भेदात्मक और चिद्‌रूप है। कुमारिल ने आत्मा को जड़ माना है। कुमारिल के अनुसार–जिस प्रकार सुषुप्त अवस्था में आत्मा का ज्ञान, सुख–दुःख आदि का अनुभव नहीं होता। उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति की अवस्था में भी आत्मा को इसका ज्ञान नहीं रहता है, किन्तु इस अवस्था में भी आत्मा शुद्ध द्रव्य के रूप में रहता है और शरीर इन्द्रिय सम्बन्ध विलय के कारण गुण और किया से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है परन्तु ज्ञान शक्ति स्वरूप इस अवस्था में भी बना रहता है।

तत्व मीमांसा

मीमांसा को बहुत्ववादी वस्तुवाद के रूप में माना गया हैं संसार में जड़ पदार्थ और अनेक जीवात्मा बुद्ध और मुक्त सभी को सत्य माना गया है। इस संसार की न ही सृष्टि हुई है और

१–चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन , पृ० स० २००

मनुष्य आते और जाते रहते है बदलते रहते हैं किन्तु संसार हमेशा उसी क्रम में चलता ही रहता हैं।[1] मीमांसा में नित्य और अपौरुषेय वेद को स्वीकार किया गया है। मीमांसा दर्शन में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है यद्यपि आपदेव और लौगाक्षिभास्कर जैसे बाद के मीमांसकों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है, लेकिन कुछ मीमांसक केवल परमाणुवाद को ही मानते हैं और इस संसार को परमाणु संघात निर्मित स्वीकार करते हैं। कुमारिल के अनुसार मीमांसकों के लिए परमाणुवाद को मानना जरूरी नहीं है।[2] मीमांसा में धर्म, कर्मवाद, अपूर्व स्वर्ग और मोक्ष का विवेचन प्राप्त होता है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या नामक आठ पदार्थो का वर्णन प्रभाकर ने किया है। इनमें से द्रव्य, गुण और कर्म वैशेषिक के समान ही माने गये हैं सामान्य की सत्ता व्यक्तियों से अलग नहीं मानी गई है। सामान्य व्यक्तियों में ही रहता है परतन्त्रता समवाय के ही समान सामान्य और व्यक्ति का सम्बन्ध है, परन्तु प्रभाकर इसे नित्य रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वैशेषिक के विशेष पदार्थ को पृथकत्व गुण के अन्तर्गत मान लिया गया है और अभाव पदार्थ को नहीं माना गया है। इनकी जगह पर शक्ति सादृश्य और संख्या को पदार्थ माना है। न्याय वैशेषिक के अनुसार शक्ति प्रतिबन्धकाभाव है, सादृश्य और संख्या गुण है। कुमारिल ने पाँच पदार्थो को माना है जिनमें द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य को भाव पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु कुमारिल ने अन्धकार और शब्द दो नए द्रव्य माने हैं विशेष को प्रभाकर की तरह पृथकत्व गुण के रूप में मान लिया गया हैं।

धर्म

जैमिनि के प्रथम सूत्र में ही धर्म जिज्ञासा को प्रतिपाद्य विषय के रूप में माना गया है[3] और दूसरे सूत्र में धर्म का लक्षण बताया है कि 'चोदना' अर्थात् क्रियात्मक वचन या विधि वाक्य द्वारा

१– न कदाचिदनीदृशं जगत्, भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, सी० डी० शर्मा, पृ० सं० २०६

२– मीमांसकैश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः–श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४

३– अथातो धर्मजिज्ञासा। –मीमांसा सूत्र १,१,१

लक्षित अर्थ है।[1] वेद को कियापरक विधि वाक्य कहा गया है जो वेद वाक्य वास्तव में किया परक नही माने गये हैं वही अर्थवाद है और उसकी सार्थकता वास्तव में किया का अड्.ग बनकर ही है।[2] अच्छे कर्म अर्थात् शुभ कर्म सुख प्रदान करते हैं जबकि बुरे कर्म अर्थात् अशुभ कर्म दुःख प्रदान करते हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—पहला कर्त्तव्य कर्म है जिनके नित्य तथा नैमित्तिक रूप से दो भेद होते हैं। वेदविहित होने से ये कर्त्तव्य या करणीय कर्म हैं। नित्य कर्म के अन्तर्गत सन्ध्यावन्दनादि कर्म हैं और नैमित्तिक कर्म अवसर विशेष पर करने वाले व्रतादि या श्रद्धादि कर्म हैं कुमारिल के अनुसार इन कर्मो को करने से पापों का क्षय होता है और न करने से पाप लगता है प्रभाकर के अनुसार इन कर्मो को भगवती श्रुति द्वारा विहित कर्त्तव्य कर्म मानकर निष्काम भाव से करना चाहिए। दूसरे प्रकार के कर्म को काम्य कर्म माना गया है। ये कर्म किसी कामना या इच्छाओं की सिद्धि के लिए किए जाते हैं, अतएव व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह इस कर्म को करे या न करे। काम्य कर्म के विषय में कहा गया है कि 'स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञ करना' (स्वर्ग कामो यजेत्) जिसे स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा हो, वह यज्ञ करे, तीसरे प्रकार के कर्म प्रतिषिद्ध कर्म हैं, अतएव इन कर्मो का निषेध किया गया है इन कर्मों के करने से पाप मिलता है। इन तीन कर्मो के अलावा चौथा कर्म प्रतिषेध कर्म माना गया है । इन कर्मों के द्वारा पाप के वेग को कम किया जाता है।

१— चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। —मीमासा सूत्र १,१,२

२— आम्नायस्य कियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् वही १,२,१

वेदान्त दर्शन

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्त्तक शंकराचार्य जी तथा विशिष्टाद्वैत के प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य जी माने जाते हैं। अद्वैत वेदान्त के दो भाग हैं–पहला अद्वैत वेदान्त और दूसरा विशिष्ठाद्वैत वेदान्त। शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त वास्तव में उपनिषद दर्शन है। गौड़पादाचार्य की कारिका अद्वैत वेदान्त का पहला उपलब्ध ग्रन्थ है, यद्यपि शंकर से पूर्व कुछ आचार्यो का उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु उनकी रचनाएं उपलब्ध नहीं है। गौड़पादाचार्य ने अद्वैत वेदान्त का जो रूप कारिका में व्यवस्थित किया है उसी का विकसित रूप शंकराचार्य ने प्रस्तुत किया हैं।

आत्मा या ब्रहा

आचार्य शंकर ने दो दृष्टियों से ब्रहा सम्बन्धी विचार स्पष्ट किया है– पहला व्यावहारिक दृष्टि और दूसरा पारमार्थिक दृष्टि। व्यावहारिक दृष्टि से जगत सत्य है । इसका मूलकारण सृजन कर्ता, पालक, संहारक सभी ब्रह्म हैं और वह सर्वज्ञ तथा शक्तिमान है, परन्तु यह कर्तृत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं है। जैसे–रंगमंच पर गड़ेरिया द्वारा नृप का अभिनय करना, विजित्य इत्यादि प्रदर्शन करना, उसका तटस्थ लक्षण है, जबकि गडेरिया उसका स्वरूप लक्षण है। पारमार्थिक दृष्टि से बह्म सजातीय विजातीय और स्वगत भेदों से रहित है। ब्रह्म वह है जिसमें जगत् के सभी पदार्थ स्थित एवं जीवित रहते हैं तथा पुनः विलीन हो जाते हैं। जगत् का वह निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् ब्रह्म का कारण नहीं है, बल्कि विवर्त्त है। जगत् ब्रह्म की प्रतीति मात्र है, परिणाम नहीं है। ब्रह्म कूटस्थ नित्य है, परिणामी नित्य नहीं है। उनमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता है।

माया, अविद्या और अध्यास

ब्रह्म ही एक मात्र सत् है इसके अलावा सम्पूर्ण संसार मिथ्या है तथा जीव बह्म ही है उससे vyx ughagS[1] ब्रह्म तथा आत्मा एक ही है। दोनों परम तत्व के पर्याय हैं। जीव और जगत् दोनों

१–ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
भारतीय दर्शनः आलोचना और अनुशीलन, अनूदित चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० २३६

ही माया के द्वारा बनाए हुए हैं जिस प्रकार रज्जु भ्रम के कारण सर्प के रूप में दिखाई देता है तथा रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प का बाध हो जाता है। यही मोक्ष या आत्म स्वरूप का ज्ञान है। माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, अध्यारोप, विवर्त्त, भ्रान्ति, भ्रम, सद्सद्निर्वचनीयता आदि शब्दों का प्रयोग वेदान्त में प्रायः पर्यायवाची के रूप में किया जाता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार–सत्य वह है जिसका त्रिकाल में बाध न हो सके अर्थात् जो कूटस्थ नित्य है सदैव एक रस और परिणामी है–वह सत् है। असत् वह है जिसकी त्रिकाल में सत्ता न हो और जो सत् प्रतीत होने की सामर्थ्य नहीं रखता है, जैसे–बन्ध्यापुत्र शंकराचार्य यह मानते है कि भ्रम, भ्रान्ति या अविद्या दो प्रकार की है– पहला व्यक्तिगत और दूसरा समष्टिगत भ्रम। पहला भ्रम प्रतिभास और दूसरा भ्रम व्यावहार है व्यक्तिगत भ्रम के अन्तर्गत व्यक्ति विशेष का स्वयम् का भ्रम आता है और समष्टिगतभ्रम के अन्तर्गत सम्पूर्ण संसार का ही व्यावहार आ जाता है।

ज्ञान कर्म और उपासना

शंकराचार्य के मतानुसार ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। यह ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के लिए जो अज्ञान बाधा उत्पन्न करता है, उस अज्ञान को दूर करता है। कर्म और उपासना तो चित्त अर्थात् मन को शुद्ध तथा एकाग्र बनाते हैं जिससे मन किसी ज्ञान को ग्रहण कर सके। उपासना के द्वारा ध्यान किया जाता है जिससे हमारी मानसिक किया एकाग्रता को प्राप्त करती है फिर ज्ञान उत्पन्न होने पर कर्म तथा उपासना किया सम्पन्न नहीं हो पाती है जो अज्ञान की अवस्था में हो पाती है। ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान की समाप्ति हो जाती है। ब्रह्म ज्ञान की समाप्ति तो अपरोक्ष अनुभव के द्वारा ही होती है।[१] ज्ञान ब्रह्म को इदंतया विषय नहीं बनाता, वह ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्या कल्पित ज्ञातृ–ज्ञेय–भेद की निवृत्ति से अपरोक्षानुभूति गम्य प्रतिपादित

१–अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वात् च
ब्रहमज्ञानस्य।–शा० भा०–१–१–४
–उद्धृत भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन, अनूदित चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० २६१

करता हैं[1] शंकराचार्य ने पूर्व मीमांसा के इस मत का खण्डन किया है कि 'वेद कर्म परक है ' इनके अनुसार–ज्ञान काण्ड (उपनिषद) भाग ही वेद का मुख्य भाग है और कर्म एवं उपासना काण्ड गौण है वेद का अर्थ ज्ञान है। कर्म और उपासना तो चित्त की शुद्धि और एकाग्रता के लिए है वेद का एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म को प्रकाशित करना ही है।

मोक्ष

मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। आत्मा या ब्रह्म को नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप माना गया है। ब्रह्म का स्वरूप होना ही मोक्ष कहा गया है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और मोक्ष एक ही माना गया है। जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[2] वास्तव में जीव या ब्रह्म होने या बनने की वस्तु नहीं है, क्योंकि जीव ही ब्रह्म है बन्धन और मोक्ष तो केवल अज्ञान ही है, क्योंकि जब जीव ही ब्रह्म है तो मोक्ष किसका होगा अर्थात् मोक्ष अज्ञान ही है। बन्धन तथा मोक्ष दोनों को व्यावहारिक रूप में तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु वास्तव में ये मिथ्या ही है। अविद्या–निवृत्ति, ब्रह्म भाव या मोक्ष प्राप्ति में कोई अन्तर नहीं है।[3] आत्मज्ञान मोक्ष को फल या कार्य रूप में उत्पन्न नहीं करता है। मोक्ष–प्रतिबन्ध रूप अविद्या की निवृत्ति मात्र ही आत्म ज्ञान का फल है।[4] मोक्ष या ब्रह्म हेय और उपादेय से रहित है मोक्ष में न कुछ खोना है न पाना है[5] शंकराचार्य ने तो मोक्ष के तीन लक्षण ही बताए गए हैं–

१– मोक्ष अविद्या–निवृत्ति है (अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः)

२– मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्मसाक्षात्कार है (ब्रह्मभावश्च मोक्षः)

३– मोक्ष नित्य अशरीरत्व है (नित्यमशरीरत्वंमोक्षाख्यम्)

१– अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वात्। –भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, अनूदित चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० २६१

२– ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति–मुण्डक उप०
उद्धृत–भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, वही पृ० सं०–२५७

३– श्रुतयो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। शां० भा० , १–१–४

४– मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्। शा० भा० १–१–४

५– हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमात्–वही।

उदाहरण के लिए जिस प्रकार सॉप अपनी केंचुल उतार फेंकने के बाद उस पर कोई आसक्ति नहीं रखता, उसी प्रकार जीवन्मुक्ति की अपने शरीर में कोई आसक्ति नहीं रहती क्योंकि वह अशरीर अमृत ब्रह्म ही है।[1] जिस प्रकार एक शराबी व्यक्ति को यह चिन्ता नहीं रहती है कि उसका वस्त्र उसके शरीर पर है या गिर रहा है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त को यह बुद्धि और चिन्ता नहीं रहती कि उसका शरीर खड़ा है या पड़ा है।[2] यह महावाक्य जीव के आरोपित जीवत्व का निषेध करके उसके ब्रह्म–स्वरूप का विधान करता है–तुम ब्रह्म हो, जीव ब्रह्म ही है।

१– अथायम् अशरीरोऽमृतः ब्रह्मैव। –बृहदारण्यक उप० ४–४–७

२– देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।। –भागवत्, ११–१३–३६

न्याय–दर्शन और वैशेषिक दर्शन

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम को माना गया है। गौतम जी का एक नाम अक्षपाद होने के कारण न्याय दर्शन को अक्षपाद दर्शन के नाम से भी पुकारते हैं। 'न्याय' शब्द का अर्थ है कि प्रमाणों के आधार पर तत्वों का परीक्षण करना इसे तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या, वाद–विद्या और आन्वीक्षकी अर्थात् समीक्षात्मक परीक्षण भी कहा गया है।[1] इस दर्शन में प्रमाण शब्द को अधिक महत्व देने के कारण इसे प्रमाण शास्त्र भी कहते हैं।

कणाद मुनि के द्वारा लिखा गया वैशेषिक दर्शन और गौतम मुनि द्वारा प्रवर्तित न्याय दर्शन दोनों ही के सिद्धान्त एक जैसे हैं। न्याय दर्शन की एक तरह से वैशेषिक दर्शन की ही विस्तृत व्याख्या कहा जा सकता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि दोनों एक ही फिलॉसफी है जिसका पूर्णाड्.क वैशेषिक दर्शन है और उत्तरांग न्याय दर्शन है। न्याय तथा वैशेषिक दोनों ही दर्शनों में काफी समानता दिखाई देती है। अतः दोनों का ही उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। दोनों ही दर्शनों के अनुसार सम्पूर्ण दुःखों का मूल कारण अज्ञान है। दोनों ही दर्शनों को वस्तुवादी दर्शन कहा गया है। दोनों ही दर्शनों में इतनी अधिक समानता होते हुए भी केवल दो बातों को लेकर आपस में मतभेद हो गया है। पहली बात है कि न्याय दर्शन जहाँ चार प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) को मानता है वहीं वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान नामक दो प्रमाणों को ही मानता है। न्याय दर्शन में बताए गये शेष दो प्रमाणों को अनुमान के अन्तर्गत ही मान लेता है। दूसरी बात यह है कि न्याय दर्शन जहॉ सोलह पदार्थो[2] को मानता है वहीं पर वैशेषिक केवल सात

१– प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकीन्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।
उद्घृत–न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, डा० गजानन शास्त्री, मुसलगाँवकर पृ० सं०–०६

२– न्याय दर्शन के सोलह पदार्थ–१–प्रमाण २–प्रमेय ३–संशय, ४–प्रयोजन, ५–दृष्टांत, ६–सिद्धान्त ७–अवयव, ८–तर्क, ९–निर्णय, १०–वाद , ११–जल्प १२–वितण्डा, १३–हेत्वाभास, १४–छल १५, जाति , १६–निग्रह स्थान। –न्याय सिद्धांत मुक्तावली वही।

ही पदार्थो[1] को स्वीकार करता है। वैशेषिक दर्शन ने ज्ञेयत्व या अभिधेयत्व को ध्यान में रखते हुए सात पदार्थों को स्वीकार किया है। वैशेषिक दर्शन ने शब्दों के द्वारा जानने योग्य पदार्थो को दो भागों मे विभाजित किया है। पहले भाग को भाव पदार्थ कहते हैं और दूसरे भाग को अभाव नामक पदार्थ के नाम से पुकारते हैं। जिस वस्तु की सत्ता इस संसार में विद्यमान रहती है उसे भाव पदार्थ के नाम से पुकारा जाता है और जिसकी सत्ता इस संसार में नही होती है उसे अभाव पदार्थ के नाम से पुकारा जाता है। यह दर्शन भाव पदार्थ और अभाव पदार्थ दोनों को ही वास्तविक पदार्थ के रूप में जानता है। भाव पदार्थो में भी सत्ता और वृत्ति का अन्तर किया गया है। जो देश और काल में वर्तमान रहे वह सत्ता है और जिसका दैहिक या कालिक अस्तित्व नहीं है वह वृत्ति है। द्रव्य, गुण और कर्म ऐसे भाव पदार्थ हैं, जिनकी सत्ता कही गई है। न्याय दर्शन के अनुसार दूसरे पदार्थ को प्रमेय कहा गया है। प्रमाणों के माध्यम से जिसे जाना जाता है उसको प्रमेय के नाम से पुकारते हैं।

वैशेषिक और न्याय दर्शन दोनों के पदार्थो के विभाजन के पश्चात् सवाल उठाता है कि इनमें से कौन समीचीन ज्यादा होगा? वस्तुतः यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, किन्तु दोनों ही दर्शनों के दृष्टिकोण को समझने पर समाधान अपने आप ही हो जाता है। दोनों ही दर्शनों ने अलग अलग अर्थ में पदार्थ शब्द का प्रयोग किया है। वैशेषिक ने सत्ता पदार्थ की दृष्टि से 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। इस संसार में जो भी वस्तुएं विद्यमान हैं वे सभी ऊपर बताए गये छः पदार्थो में से किसी ने किसी पदार्थो के अन्तर्गत आ जाएगे। इसलिए वैशेषिक की दृष्टि से छः प्रकार की मूल सत्ताएं ही छः पदार्थ हैं और न्याय दर्शन ने पदार्थ शब्द का प्रयोग प्रमाणों के द्वारा बताये गये विषय के हिसाब से ही किया है।[2] उपर्युक्त भिन्नताएं ही न्याय और वैशेषिक के अनुसार बतलायी

१– वैशेषिक के सात पदार्थ–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय, अभाव। –न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, डा० गजानन शास्त्री मुसलगॉवकर, पृ० सं० ०६

२– न्या० सू० १/१/४– न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, वही, पृ. सं० १०

गयी हैं। दोनों की पदार्थ नामावली और संध्या में भेद होते हुए भी आपस में कोई विरोध नहीं है। इन्हें सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थ कहा गया है। फिर भी ये सत्तावान पदार्थ नहीं है। कहने का भाव यह है कि वे किसी भी द्रव्य, गुण और कर्म की भाँति किसी देश या काल विशेष में नहीं रहते हैं। अतएव उनमें सत्ता नहीं है, अर्थात् वे सत्ता से रहित हैं। केवल वृत्तियॉ ही उसमें हैं। इस विश्व के विषय में न्याय और वैशेषिक दर्शन के विचारों में समानताएं हैं।

न्याय दर्शन का तत्व विचार उसके प्रमाण विचार, पर ही आधारित हैं। न्याय दर्शन में बताए गये चार पदार्थो में से पहला पदार्थ प्रत्यक्ष है, इस पर भारतीय दर्शनों ने बहुत ही सूक्ष्म विचार किया है। उस असंदिग्ध अनुभव को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं जो इन्द्रियों के सम्बन्ध से होता है और यर्थाथ भी होता है।[1] प्रत्यक्ष के इसी लक्षण को अक्सर दार्शनिक स्वीकार किया करते हैं किन्तु कुछ दार्शनिक इसे स्वीकार नहीं करते हैं। वे दार्शनिक न्यायिक और वेदान्ती है। इनका कहना है कि इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। ईश्वर को सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान बिना इन्द्रिय के ही होता है, क्योंकि ईश्वर के पास इन्द्रियाँ हैं ही नहीं रज्जु को सर्प समझने में वास्तविक सर्प के साथ बाह्य इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं रहता है एवं सुख–दु:खादि मानसिक भावों का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना ही हुआ करता है। अतः स्पष्ट होता कि उक्त प्रत्यक्ष लक्षण (इन्द्रिय सम्बन्ध) प्रत्यक्ष ज्ञान के सभी भेदों का सामान्य लक्षण इन्द्रिय सम्बन्ध नही, बल्कि साक्षात् प्रतीति है। किन्तु वस्तु का प्रयत्क्ष ज्ञान उस समय होता है जिस समय उसका साक्षात्कार होता है। जब वस्तु का ज्ञान बिना किसी पुराने अनुभव या बिना किसी अनुमान के ही.होता है प्रत्यक्ष प्रमाण लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। लौकिक प्रत्यक्ष भी बाह्य तथा मानस दो प्रकार का होता है अर्थात् चाक्षुष श्रोत्र, स्पार्शन, रासन, घ्राणज तथा मानस भेद से लौकिक प्रत्यक्ष के छः भेद होते हैं और सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज भेद से अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है।

१– तर्कभाषा, सि० मुक्ता० तत्वचिन्तामणि। –न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, डा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, पृ० सं०,११

न्याय वैशेषिक नामक दानों ही दर्शनों के अनुसार छः ज्ञानेन्द्रियों में से पॉच ज्ञानेन्द्रिय और एक अन्तरिन्द्रिय है। घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र। इन पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है। इनमें से प्रत्येक इन्द्रियॉ भौतिक कहलाती हैं। मन अन्तरेन्द्रिय है, मन के द्वारा ही आत्मा को इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दुःख का प्रत्यक्ष होता है। यह वाह्य इन्द्रियों की तरह भूतों से बनी हुई नहीं है। लौकिक प्रत्यक्ष के वाह्य और मानस दो भेदों की तरह और भी दो भेद निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद किये गये हैं इन दो भेदों का आधार प्रत्यक्ष का अविकसित और विकसित रूप ही कहा गया है। इसके अलावा प्रत्यक्ष का एक प्रकार और है, जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। लौकिक प्रत्यक्ष तो हमेशा ही निश्चित और स्पष्ट होने से सभी सविकल्पक होते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में किसी वस्तु के अस्तित्व मात्र का ज्ञान होता है। वह वस्तु क्या है? इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है अतः अस्पष्ट ज्ञान को ही निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है। किसी भी वस्तु का स्पष्ट और निश्चित ज्ञान ही सविकल्पक ज्ञान कहलाता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत वस्तु के धर्मो का पूरा ज्ञान होता है। और निर्विकल्पक के अन्तर्गत उसका अस्तित्व मात्र ही ज्ञात रहता है। किन्तु सविकल्पक में यह वस्तु अमुक है, इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के हुए बिना सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। वस्तु क्या है? यह जानने के लिए सबसे पहले उसका अस्तित्व जानना आवश्यक हो जाता है।

प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में 'प्रत्यभिज्ञा' की व्युत्पत्ति 'अभिज्ञान प्रतिगता इति प्रतिभिज्ञा' होती है। जिस वस्तु को हम पहले कभी देख चुके हों उसको फिर से देखना ही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। साधारण रूप से प्रत्यक्ष इन्द्रिय से उत्पन्न होता है किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष इन्द्रिय और पूर्व संस्कार दोनों के योग से ही उत्पन्न होता है। साधारण रूप में प्रत्यक्ष केवल वर्तमान को जानने वाला होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में वर्तमान और भूत दोनों का मिला जुला रूप होता है। श्री गंगेशोपाध्याय ने पहले बताए गये अलौकिक प्रत्यक्ष के तीनों भेदों को यहॉ बताया है वह है सामान्य लक्षण, ज्ञान

लक्षण और योगज लक्षण। एक वस्तु को देखने से उसकी सजातीय वस्तु का भी जहॉ ज्ञान होता है, वहॉ सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति रहती है। एक वस्तु को देखकर उसकी सजातीय वस्तु का भी जहॉ ज्ञान होता है, वहाँ सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति रहती है। किसी भी वस्तु को देखकर उसके समान दूसरी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान सामान्य ज्ञान के आधार पर हो जाता है। इस मनुष्य जाति का ज्ञान या गो जाति का ज्ञान, आलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा हो जाता है, अर्थात् मनुष्य व्यक्ति या गो व्यक्ति को देखकर उसे कम से जानते हैं कि यह मनुष्य है और यह गो है। ऐसा जानते हैं इसलिए हमें यह स्वीकार करना ही पडता है कि हमें मनुष्य औरं गोत्व जाति का भी प्रत्यक्ष अवश्य ही होता है। यदि ऐसा न होता तो हम किसी मनुष्य को देखकर या किसी गाय को देखकर यह कभी न कह पाते कि यह मनुष्य है और यह गाय है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम जब किसी व्यक्ति का प्रत्यक्ष करते हैं तब उसके साथ ही साथ मनुष्यत्व और गोत्व जाति का भी अनुभव कर लेते हैं। इसीकारण बिना किसी के बताये ही इस संसार भर के मनुष्यत्व धर्म विशिष्ट या गोत्वधर्म विशिष्ट विषय को भी जान लेते हैं। इस प्रकार का प्रत्यक्ष सामान्य ज्ञान के ही द्वारा हो जाता है। इसलिए इसे 'सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष' कहते हैं।

ज्ञान लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष उस समय होता है जब नाना प्रकार की इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान, आपस में मिलकर एक हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान का भी अनुभव कर लेती है। जैसे नींबू को देखते ही कहा जाता है कि यह खट्टा है, किन्तु खट्टेपन का ज्ञान तो रसनेन्द्रिय के द्वारा होता है, चक्षु, इन्द्रिय से नहीं होता है फिर भी नींबू को देखते ही चक्षुरिन्द्रिय से ही जो उनके खट्टेपन का ज्ञान हो रहा है वह अलौकिक सन्निकर्ष के आधार पर ही हो रहा है। क्योंकि इससे पहले भी अनेक बार नींबू को देखा भी गया है और उसे चूसा भी गया है। इसलिए दोनों इन्द्रियों के अलग–अलग होने पर भी और उनके विषय अलग होते हुए भी दोनों इन्द्रियों में एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो गया है इसलिए नींबू को देखते ही उसके खट्टेपन का अनुभव भी उसके साथ ही हो जाता है। खटाई के इस

समय का अनुभव पहले हुए अनुभव पर ही आधारित है। इसलिए इसे ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष के नाम से पुकारते हैं। इनके एक इन्द्रिय दूसरे इन्द्रिय के ज्ञान का अनुभव करती है जो साधारणतया सम्भव नहीं है, यह इसकी अलौकिकता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष का तीसरा प्रकार योगज है। इस प्रत्यक्ष के द्वारा भूतकालीन भविष्यतकालीन गूढ़ और सूक्ष्म सभी प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। साधारणतया लोगों की इन्द्रिय शक्ति सीमित होती है। उस समिति शक्ति से वे लोग सार्वकालिक और गूढ़, सूक्ष्म वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। सार्वकालिक गूढ़–गूढ़तर, सूक्ष्म–सूक्ष्मतर वस्तुओं का प्रत्यक्ष, योग साधना सिद्ध सहज प्राप्त अलौकिक शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों को ही हो पाता है। जिन व्यक्तियों को अविनाशी योगज शक्ति प्राप्त रहती है उन व्यक्तियों को युक्तयोगी कहा जाता है और जिन्होंने योग मे आंशिक सिद्ध प्राप्ति की है, उन्हें युञ्जान योगी कहा जाता है। युञ्जान व्यक्ति को योगज शक्ति सहज प्राप्त नहीं हो पाती है। किन्तु उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए कुछ ध्यान और धारणा करनी पड़ती है। सामान्य लक्षण और ज्ञान लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष को नैयायिक तो मानते हैं किन्तु वेदान्ती इस अलौकिक प्रत्यक्ष को स्वीकार नहीं करते। वेदान्ती अलौकिक प्रत्यक्ष में से केवल योगज प्रत्यक्ष को ही स्वीकारते हैं।[१] अतः लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष के दो भेद बताए गये हैं। अन्य सभी प्रमाण इस प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ही आश्रित रहते हैं।

इन प्रमाणों के द्वारा ही 'प्रमेय' का सम्यक् ज्ञान हो जाता है और प्रमेय के सम्यक् यथार्थ ज्ञान होने पर ही मुक्ति का लाभ होता है। इसलिए न्याय वैशेषिक दर्शन का आग्रह है कि संसारी मानव का प्रमाणों का ज्ञान प्राप्त करके उनके द्वारा प्रमेय का ठीक–ठीक ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

१– अद्वैत सिद्धि, वेदान्त परिभाषा । –उद्धृत–न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, डा० गजानन शास्त्री, पृ० सं० १३

सांख्य दर्शन

सांख्य और योग को भारत की प्राचीन प्रसिद्ध वैदिक वेदान्त फिलॉसफी माना गया है जिसने सम्पूर्ण भूमण्डल को आश्चर्य में डाल दिया है। सांख्य और योग के सिद्धान्तों का संकेत छान्दोग्य १– प्रश्न, २–कठ, ३– और विशेषतया श्वेताश्वतर ४– उपनिषद् में भी प्राप्त होता है। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल को माना गया है, परन्तु 'सांख्य प्रवचन सूत्र' जिसे कपिल मुनि की रचना माना गया है वह महर्षि कपिल की रचना नहीं हो सकती क्योंकि अधिकांश विद्वान इसको चौदहवीं सदी की रचना मानते हैं। शकराचार्य और अन्य प्राचीन आचार्यो ने सांख्य प्रवचन सूत्र का नहीं उल्लेख किया है और न उसका कहीं पर जिक्र ही किया गया है। इसकी जगह पर ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका के ही उद्धरण प्राप्त होते है। वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यकारिका पर अपनी टीका सांख्य तत्व कौमुदी लिखा है। कपिल मुनि की उत्पत्ति बुद्ध से पहली की मानी गयी है।

'सांख्य' शब्द संख्या शब्द से बना हुआ है। साख्य शब्द का अर्थ है सम्यक् ज्ञान या विवेक ज्ञान। संख्या का अर्थ गणना की संख्या भी हैं सांख्य शब्द से दोनों अर्थ आ जाते हैं। सांख्य ही दर्शन ज्ञान का अनुभव है, प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान का दर्शन है और सांख्य दर्शन तत्वों की संख्या पॉच मानता है। यह पच्चीस संख्या वाले तत्वों का दर्शन है। महाभारत से ज्ञात होता है कि सांख्य के वक्ता परम ऋषि कपिल हैं और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ को माना गया है। इनसे पहले का वक्ता और कोई भी नहीं है। यद्यपि ये दोनों ही फिलॉसफी अलग–अलग नामों से पुकारी गई हैं किन्तु वास्तव में सांख्य और योग दर्शन दोनों एक ही हैं।[2]

१ –छा० उप०(१) –६,४,१, (२) –६,२, (३) –१,३,१०–१३, (४)– ४–५, १०, भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, डा० चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं०–१३६

२–सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः।।
–महाभारत, उद्धृत–पातञ्जल योग प्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ संख्या–६६

सांख्य दर्शन कार्यकारण–वाद का समर्थक है, क्योंकि सांख्य के कार्यकारण वाद पर ही उसका प्रकृतिवाद निर्भर करता है प्रकृति की सिद्धि कारण के रूप में उसके कार्यो द्वारा ही होती है। कार्य कारण के अनुसार हर कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है, क्योंकि बिना कारण के कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता है। कार्यकारणवाद से सम्बन्धित प्रश्न उठता है कि क्या कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में विद्यमान रहता है या नहीं जो यह मानते हैं उन्हें सत्कार्यवादी कहा जाता है और जो यह नहीं मानते हैं उन्हें असत्कार्यवादी कहा जाता है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पत्ति से पहले असत् रहता है अर्थात् अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता है। कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से ही आरम्भ होती है। इस मान्यता के अनुसार असत् कार्यवाद को ही आरम्भवाद भी कहते हैं।

सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी दर्शन माना गया है। उसके मत को प्रकृति परिणाम के नाम से भी पुकारा गया है। सृष्टि के सारे तत्व प्रलयावस्था में बीज रूप से या अव्यक्त रूप से प्रकृति के अन्दर उपस्थित होते हैं और सर्गावस्था में कार्य रूप से व्यक्त होते हैं। सांख्य ने सत्कार्य की सिद्धि के लिए पाँच युक्तियाँ बतायी हैं जो इस प्रकार हैं–

१– यदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले कारण में उपस्थित न हो तब वह असत् होगा जो शशश्रृंग या 'ख' पुष्प की तरह होगा और असत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं होगी क्योंकि अनेक व्यक्ति मिलकर भी आकाश को मथकर मक्खन तैयार नहीं कर सकते या बालू के कण द्वारा तेल नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

२– प्रत्येक कार्य अपने उपादान से मुक्त रहता है और इसका कारण इसकी उत्पत्ति होती है उपादान कारण के बिना कार्य हो ही नहीं सकता है मिट्टी के बिना घर तैयार नहीं किया जा सकता है या तिल के बिना तेल भी नहीं तैयार किया जा सकता है।

३– कार्य को अनिवार्यतः उत्पत्ति के पहले अपने अभीष्ट कारण में विद्यमान रहना होगा, अन्यथा किसी निश्चित कारण से किसी निश्चित कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होगी, तब किसी भी कारण

से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है और यह असम्भव है। सभी कारणों से सभी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

४– जिस कारण में जिस कार्य के उत्पन्न होने की शक्ति होगी, उस कारण से वही कार्य सम्पन्न होगा। यह नहीं होता है कि कारण में जिस कार्य के उत्पन्न होने की शक्ति न हो वह भी उसी कारण से उत्पन्न होने लगेगा। इसलिए कार्य बीजरूप में था, अव्यक्त रूप में जिस कारण में विद्यमान रहता है, वह कार्य उसी कारण से उत्पन्न होता है। इसलिए शक्य कारण से ही शक्य कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है।

५– कार्य और कारण एक ही वस्तु के दो रूप हैं। जब कार्य अव्यक्त रहता है, तब वह कारण होता है और जब वह व्यक्त हो जाता है तब वह कार्य हो जाता है कारण और कार्य का एक स्वभाव होता है वास्तविक रूप में इनमें कोई भेद नहीं होता है और जो दिखायी देता है वह व्यावहार होता है।[१]

प्रकृति

सांख्य ने मात्र दो ही स्वतंत्र तत्वों को स्वीकार किया है, पहला जड़ प्रकृति है और दूसरा चेतन पुरुष है। किन्तु यहॉ पर केवल जड़ प्रकृति पर विश्लेषण दिया जा रहा है। प्रकृति सम्पूर्ण जड पदार्थो की जननी कही गई है। वह स्वयं भी अजन्मा है इसलिए उसका कोई कारण नहीं है यह सृष्टि का आदिकारण कही गयी है इसलिए यह मूल प्रकृति है यही प्रधान है। प्रकृति अव्यक्त कहा गया है। क्योंकि सम्पूर्ण कार्य इसमें अव्यक्त रूप में ही रहते हैं। इसलिए इसे अव्यक्त भी कहा गया है। अतीन्द्रिय होने के कारण इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। उसके कार्यो के द्वारा उसके कारण रूप का अनुमान किया जाता हैं प्रकृति जड़ अचेतन है, विवेक शून्य है, स्वतंत्र

१– असद्करणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम।।
–साख्यकारिका–६ डा० आधा प्रसाद मिश्र, सांख्यतत्व कौमुदी–प्रभा, पृ०–१४३

है, नित्य है, एक है, व्यापक है, अनेक पुरुष भोग्य है, पुरुष द्वारा ज्ञेय है, सत्व, रज और तमस् गुण से युक्त है, सुख–दुःख मोहात्मक है, परिणामशालिनी, प्रसवधर्मिणी है।

सर्ग के समय जड़ जगत् प्रकृति के गर्भ में विलीन हो जाता है। इस जड़ जगत् का कारण चेतन, ब्रह्म, आत्मा, पुरुष आदि नहीं हो सकता है। यदि ये सब इसका कारण होते तब जड़ जगत भी चेतन हो जाता क्योंकि अचेतन परमाणु भी जड़–जगत् का कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि इसमें बुद्धि, अहंकार और मन आदि सूक्ष्म तत्वों को उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है। अचेतन परमाणु अनेक हैं, जबकि जड जगत् की व्यवस्था यह व्यक्त करती है कि इसका कारण एक होगा अनेक नहीं। इसलिए प्रकृति जड़ जगत् का एकमात्र कारण है सांख्य ने प्रकृति की सत्ता सिद्ध करने के लिए पाँच युक्तियॉ दी हैं जो इस प्रकार हैं–

१– विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ सीमित, परिमित, परतंत्र, अव्यापक, अनित्य और अनेक हैं, जिससे पता चलता है कि एक तत्व ऐसा होगा जो असीमित, अपरिमित स्वतंत्र व्यापक, नित्य और एक होगा। यह प्रकृति है। (भेदानां परिमाणात्)

२– इस संसार में सभी पदार्थ सुख–दुःख और मोह प्रदान करने वाले हैं जैसे–कोई प्रेमिका अपने प्रियतम के साथ रहने पर सुखी और दूर रहने पर दुःखी तथा विरह की तीव्रता में मोहित या मूर्छित रहती है या जैसे कोई सुन्दर युवती अपने प्रियतम को सुखी, उसमें अनुरक्त अन्य स्त्री को दुःखी और अन्य कामियों को मोहित करती है या जैसे वसन्त ऋतु में कोयल की कूक प्रिया संयुक्त पुरुष में सुख, विरही में दुःख और माली में मोह (अज्ञान) उत्पन्न करती है । इसलिए संसार के सभी पदार्थो में सत्व, रज और तम गुण विद्यमान रहते हैं। इनमें से सत्वगुण हमें सुख प्रदान करता है, रजोगुण दुःख देने वाला होता है और तमोगुण मोह उत्पन्न करता हैं इससे पता चलता है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति ही सम्पूर्ण पदार्थो का मूल कारण है जिसमें ये तीनों ही गुण समन्वित रहते हैं (समन्वयात्)

३– कारण की शक्ति से सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न होते हैं । यह प्रकृति ही इस विश्व का मूल कारण

है। इसी से सम्पूर्ण जड पदार्थ उत्पन्न होते हैं। (शक्तितः प्रवृत्तेश्च)

४– व्यक्तावस्था में कार्यकारण भेद या विभाग का अनुभव होता है जो यह सिद्ध करता है कि अव्यक्त कारण से ही समस्त कार्य उत्पन्न होते हैं। यह अव्यक्त कारण प्रकृति है। (कारणकार्य विभागात्)

५–अव्यक्तावस्था में समस्त कार्य बीज रूप में अपने कारण में समाहित हो जाते हैं इस अवस्था में कार्य कारण भेद नहीं रह जाता है। प्रलयावस्था में समस्त पदार्थ कारण में पुनः लीन होकर अभेद हो जाते हैं।[1] यह मूल कारण प्रकृति है। (अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य)

प्रकृति के गुण

प्रकृति सत्व, रज और तम नामक तीन गुण से युक्त होने के कारण ही त्रिगुणात्मिका कही गई है। इसमें प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था बतायी गयी हैं[2] ये तीनों ही गुण सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय होने के कारण इनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। इनके कार्यो के द्वारा ही इनके गुणों का भी अनुमान लगा लिया जाता है।[3] सत्व गुण का कार्य सुख है, रजोगुण का कार्य दुःख है और तमोगुण का कार्य मोह है। सांख्य के त्रिगुणों के भी गुणों का वर्णन है। प्रकाशत्व, चलत्व, लघुत्व, गुरुत्वादि इन गुणों के भी गुण कहे गये हैं इससे यह स्पष्ट होता है कि गुण द्रव्यरूप है। ये ही प्रकृति के निर्माणक तत्व हैं। अपने सम्मिलित साम्ययरूप में ये तीनों ही गुण प्रकृति कहे गये हैं। प्रकृति इनके अलावा कुछ भी नहीं है। इनको गुण के नाम से इसलिए पुकारा गया है क्योंकि ये प्रकृति की अपेक्षा गौण हैं या ये ही पुरुष के उपकरण भी हैं अथवा गुण का अर्थ डोरी

१– भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागाद् विभागाद् वैश्वरूप्यस्य। –सांख्य कारिका, १५

२– गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

३– गुणाना परमं रूप न दृष्टिपथमृच्छति।
–भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० १४४

भी होता है। इसलिए ये तीनो ही गुण ऐसे गुण हैं जिनकों मिलाकर प्रकृति रूपी रस्सी का निर्माण होता है इन्ही तीनों गुणों की सहायता से मनुष्य रूपी पशु को इस संसार से बाँध लिया जाता है।

पुरुष

सांख्य दर्शन के द्वारा अभिमत दूसरा स्वतंत्र तत्व पुरुष है। यह पुरुष क्या है, यह पुरुष एकमात्र चेतन तत्व है जिसके तीन तत्व बताये गये हैं। पहला अर्थ है चेतन तत्व व्यष्टि (पिण्ड) जो शरीर से बना हुआ है। उदाहरण के लिए जो हृदय के अन्दर आकाश है, उसमें यह पुरुष है, जो मन का मालिक, अमृत और ज्योतिर्मय है। अन्तः करणों के अनन्त और परिच्छिन्न होने से ये पुरुष अनन्त और परिच्छिन्न कहलाते हैं और परिच्छिन्नता के कारण ही अल्पज्ञ हैं, इनकी संज्ञा जीव भी हैं। इनकी अपेक्षा से चेतन तत्व ही आत्मा कहलाता है।[१]

इस पुरुष शब्द का दूसरा अर्थ है चेतन तत्व (ब्रह्ममाण्ड) समष्टि जगत् से मिश्रित है। वह चेतन तत्व जो सम्पूर्ण जगत् में मिश्रित है वह पुरुष हजारों सिर, हजारों नेत्र और हजारों पावो, वाला है। वह इस ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेरकर भी दस अंगुल परे खड़ा है अर्थात् दसों दिशाओं में व्याप्त हो रहा है। समष्टि अन्तःकरण के एक और विभु होने से वह एक और सर्वव्यापक है और सर्वव्यापकाता के कारण सर्वज्ञ है। इसकी संज्ञा ईश्वर–पुरुषविशेष सगुण ब्रह्म = अपर ब्रह्म और सबल ब्रह्म हैं। इसकी अपेक्षा से चेतन तत्व परमात्मा कहलाता है।[२]

इस पुरुष शब्द का तीसरा अर्थ है कि शुद्ध चेतन तत्व जड़तत्व से निखरा हुआ केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। उस पुरुष की वेदों में बहुत अधिक महिमा बतायी गयी है। पुरुष (परमात्मा = शुद्ध चेतन तत्व) इससे कहीं बडा है, सारा भूत इसका एकपाद ही हैं उसके तीन पाद अमृत स्वरूप

१– स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः ।
तस्मिन्नयं पुरुषों मनोमयः ।
अमृतो हिरण्यमयः।।

२– सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहसृपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्तावात्यतिष्टद्दशांगुलम।। –श्वेता०, ३/१४

अपने प्रकाश में हैं। इसकी संज्ञा शुद्ध ब्रह्म = निर्गुण–ब्रह्म = परब्रह्म और परमात्मा है। यह जडतत्व की सारी उपाधियों समष्टि, व्यष्टि एकत्व, बहुत्व इत्यादि से परे केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूप है।[1]

सांख्य ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को सर्वव्यापक, निर्गुण, गुणातीत, निष्क्रिय, निर्विकार अपरिणामी, कूटस्थ, नित्य माना है। जो सांख्य ग्रन्थों के इन टीकाकारों को भी अभिमत है इसके अनुसार आत्मा में जाति नहीं रह सकती क्योंकि जो विभु है उसमें जाति नहीं रहती जैसे आकाश। इसके अतिरिक्त एक जाति में जो व्यक्ति रहते हैं, उन व्यक्तियों में परस्पर भेद अथवा विलक्षणता के निमित्त कारण रूप, अवयवों की बनावट, गुण, कर्म,देश, काल, दिशा आदि होते हैं। ऊपर बताये गये आत्मा के लक्षण में इनमें से किसी भी निमित्त की सम्भावना नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जब त्रिगुणात्मक जड़, अग्नि, वायु आदि के शुद्ध स्वरूप में एकत्व है, तो गुणातीत आत्मा के शुद्ध ज्ञान स्वरूप में बहुत्व कैसे सम्भव हो सकता है? कपिल जैसे आदि विद्वान और सांख्य जैसी विशाल प्राचीन फिलॉसफी के साथ पुरुष परमब्रह्म के इस प्रकार के लक्षण का कोई मेल नहीं बैठ सकता। बहुत सम्भव है कि नवीन वेदान्तियों के कटाक्ष के विरोध में नवीन सांख्यवादियों ने भी अद्वैत के खण्डन और द्वैत के समर्थन में इस प्रकार की युक्तियों को प्रयोग करने में कोई दोष न समझा हो। फिर भी प्राचीन सांख्य और इन नवीन सांख्यवादियों में आत्मा का शुद्ध केवली स्वरूप एक ही प्रकार का है। ध्येय वस्तु के स्वरूप अथवा लक्षण में कोई भेद नहीं है। केवल कहने मात्र के लिए एकत्व और बहुत्व में भेद है। जाति से अभिप्राय सत्ता मात्र ज्ञान स्वरूप मानने में कोई दोष नहीं आता है।

सांख्यकारिका में पुरुष के विषय में बताया गया है कि सभी संघातों के दूसरों के लिए होने, त्रिगुणत्व इत्यादि का अभाव होने, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए (चेतन) अधिष्ठाता एवं भोक्ता

१– एतावानस्य महिमातोज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। –ऋग्वेद–१०/१०/३

की अपेक्षा होने एवं कैवल्य या मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होने के कारण पुरुष की पृथक सत्ता सिद्ध होती है।[1] अव्यक्त, महत्, और अहंकार आदि संघात होने के कारण दूसरे के लिए हैं जैसे–शयन, आस, अड्.राग (लेप) आदि। अव्यक्त आदि को संधात[2] इसलिए कहा गया है क्योंकि इनमें सुख–दुःख और मोह तीनों ही समाहित रहते हैं। अव्यक्त आदि संघातों को दूसरे के लिए और दूसरे को तीसरे के लिए मानने पर अव्यवस्था फैल जाएगी । इसकी व्यवस्था होने के कारण अव्यवस्था[3] को मानना ठीक नहीं है। उदाहरण में प्राप्त होने वाली सभी धर्मों का दृष्टान्तिक (प्रस्तुत विषय या पक्ष) में अनुमान करने से तो किसी प्रकार का अनुमान हो ही नहीं सकता।[4]

१– संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।।
–भारतीय दर्शन,आलोचन और अनुशीलन, अनूदित चन्द्रधर शर्मा,पृ०स० १४७

२– (१) परार्थाबुद्धिः संहत्यकारित्वात् स्वार्थः पुरुष इति, सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिः।
–योग सूत्र भाष्य २/२०
(२) तद्संख्येय वासनामिश्तिचत्तमपि परार्थ संहत्यकारित्वात् –योग सूत्र ४/२४

३– (१) सहन्यन्ते मिश्रीभवन्त्यनेके विशेषायत्रासौ सघातः। –विद्वतो० पृष्ठ–२२३
(२) संहन्यन्ते मिश्री भवन्त्यनेके सुखादयो यत्रेति संघातः। –किरणावली

४– सघातत्वहेतोः पारार्थ्यमात्रसाधन उपक्षीणत्वेन संघातान्तरार्थत्वसाधने विशेषतो व्यापाराभावेनासहतपरार्थत्वसिद्धिरूपाया व्यवस्थायां सम्भवन्त्यामनवस्थाकल्पना न युक्तेत्यर्थः। अयुक्तत्वे हेतुःकल्पनागौरवात् ।पारार्थ्यमात्रसाधनापेक्षया संहतपारार्थ्यसाधनस्य गौरवग्रस्तत्वादित्यर्थः।
–विद्वतो०, पृष्ठ– २२४

" Because there can Scarcely be found any two occurrences in nature which could be quite identical Even in the Stock example of the Naiyayikas,- Fiesy because smoking. as the culinary hearth" we have a dissimilarity between the subject matter of the syllogism and the instanoecited. Thus, in the culinary hearth the fire is for cooking food, and proceeding from a house made by men etc, whereas such is not the case with the fire in the mountain. (द्रष्टव्य गंगानाथ झा–कृत अनुवाद पृष्ठ, ६१) फुटनोट–१

सांख्य कारिकाकार ने पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के लिए जननमरणकरणानां[1] नामक कारिका का प्रतिपादन किया है जिसका अर्थ है कि जन्म–मरण और इन्द्रियों की व्यवस्था[2] एक साथ प्रवृत्ति के अभाव और गुणों के भेद के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध की गयी है। पुरुष की अनेकता जन्म–मरण और इन्द्रियों की व्यवस्था के कारण ही सिद्ध होती है। अभिनव शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि एवं वेदना[3] के संघात (समुदाय) के पुरुष का सम्बन्ध[4] ही जन्म है न कि उसका परिणाम, क्योंकि वह तो अपरिणामी है। उन पूर्व ग्रहीत शरीर आदि का परित्याग (सम्बन्ध–विच्छेद) ही मरण[5] हैं। न कि पुरुष का विनाश या ध्वंस, क्योंकि वह तो कूटस्थ नित्य[6] अर्थात् सभी कालों में एक रूप रहने वाला है। 'करण' अर्थात् बुद्धि इत्यादि तेरह (बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियाँ)। उन जन्म और इन्द्रियों का 'प्रतिनियम' अर्थात् उनकी व्यवस्था। यह व्यवस्था सभी शरीर में एक ही पुरुष के होने पर संगत नहीं होती, क्योंकि तब तो एक ही पुरुष के उत्पन्न होने पर सभी उत्पन्न होंगे और एक ही पुरुष के मरने पर सभी पुरुष मर भी जायेंगे, एक के अंधे होने पर सभी अंधे भी हो जाएंगे। इससे अव्यवस्था फैल जाएगी और सम्पूर्ण सृष्टि ही खण्डित हो जायेगी। सृष्टि का विकास होने के बाद ही मोक्ष प्राप्ति भी आवश्यक

१– जन्ममरणकरणानां–गौडपाद भाष्य माठर०, सांख्य चन्द्रिका , युक्ति दीपिका। किन्तु जयमंगला धृतपाठ जननमरणकरणानां ही है।

२– व्यवस्था वैयधिकरणयेनावस्थानम् विद्वतो० पृष्ठ २३२ (अर्थात् विभिन्न अधिकरणों या स्थानों की विद्यमानता)

३– वेदना सुखाद्यनुभवः स्फूर्त्याख्या चेतना वेति विद्वत्तोषिणी बुद्धिः महत्तत्वम् वेदना तत्परिणामो ज्ञानाख्यः इति सुषमा। वेदना प्रान्ति परिहाराद्यनुकूला बुद्धिवृत्तिरिति किरणावली।

४– अभिसम्बन्धो विलक्षणः सयोगः समुदितदेहादिविशेषितबुद्धया सह प्रतिविम्बाख्यः सम्बन्धः इति किरणावली। अभिसम्बन्धः संयोग। इति वंशीधरी

५– मरणं तु यद्यपि 'मृङ् प्राणत्यागे' इति स्मरणात् प्राणोपलक्षितदेहादीनां त्यागरूपम मुख्यमेवात्मनि सम्भवति, तथापि घटादेरिव विनाशरूपं मरणमत्र मा कश्चिद् ग्रहीदित्याशयेनाह–न तु विनाश इति।
– – – – मा नाम भूज्जातो मृत इति व्यावहारात् नराणां व्यामोहः (आत्मनि जायमानर्म्रियमाणत्व भ्रान्ति) इत्यनुकम्पावती वृहदारण्यक श्रुतिरपि (४/३/८) 'स वायं पुरुषः जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः इत्येवं स्वयमेव शरीरादिना संयुज्यमानत्वमेवात्मनो जायमानत्वं, शरीरादुत्क्रमणमेव चात्मनो म्रियमाणत्वं निराह। –विद्वतो०

६– पृथिव्यादीनामपि सूक्ष्मरूपेण सर्वदा सत्तवाङ्गीकारेण नित्यत्वादाह कूटस्थनित्यत्वादिति। एक रूपेण सर्वकालव्यापित्वरूपनित्यत्वात् इति भावः। –सुषमा।

है।

सांख्य के अन्तर्गत ससार में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और अधिदैविक दुःख व्यापत है। इन्ही तीनों से छुटकारा पाना ही सांख्य का मोक्ष कहा गया हैं इसी को मुक्ति और अपवर्ग कहते हैं। मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य और चरम पुरुषार्थ है। मोक्ष प्राप्त पुरुष अपने शुद्ध चैतन्य रूप में प्रकाशित रहता है। पुरुष त्रिगुणातीत होता है, जिसका कारण मोक्ष में सुख की कोई स्थिति सांख्य ने स्वीकार नहीं किया है। पुरुष अनित्य है, परिणामातीत और बन्धन मोक्ष से मुक्त रहता है, क्योंकि वह विशुद्ध चैतन्य रूप है। बुद्धि में जब उसका प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है तो वह पुरुष जीव के रूप में प्रतीत होने लगता है। सांसारिक बन्धन जीव का होता है, उस चैतन्य पुरुष का नहीं। जब पुरुष को अपने शुद्ध स्वरूप या चैतन्य रूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त होता है, जैसे वह सदैव रहता है इसलिए पुरुष के स्वरूप का अभाव या बुद्धि में उसके प्रतिबिम्ब रूप ही बन्धन हैं और उसके स्वरूप का ज्ञान मोक्ष है। जब पुरुष स्वयं को प्रकृति और उसके नाना कार्य से भिन्न जान लेता है तब उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। वास्तव में सुख और दुःख बुद्धि या मन को होता है और आत्मा या पुरुष उससे मुक्त रहता है, अज्ञानता के कारण वह स्वयं को बुद्धि से अलग समझ नहीं पाता है । जब बुद्धि में सुख या दुःख होता है तो आत्मा के अज्ञान के कारण स्वयं को सुख–दुःख प्रतीत होने लगता है जैसे संतान के सुखी होने या दुःखी होने से पिता स्वयं को सुखी या दुःखी समझने लगता है। अविवेक सम्पूर्ण दुःखों का कारण है। विवेक ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। सांख्य कारिका में मोक्ष के विषय में कहा गया है कि प्रकृति स्वयं अपने आपको सात रूपों (धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य) से बॉधती है और वही फिर पुरुषार्थ के लिए (पुरुष का परम प्रयोजन मोक्ष सम्पादन करने के लिए) एक रूप (ज्ञान रूप) से (अपने–आपको) छुड़ाती हैं[1] मोक्ष को समझना

१– रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।। –डा० आद्या प्रसाद मिश्र सांख्य तत्व कौमुदी प्रभा सां० का०, ६३

ही तत्वज्ञान नहीं होता। बल्कि इस तथ्य की साक्षात् अनुभूति होनी चाहिए—मैं शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न हूँ—इस सत्य का साक्षात्कार यदि एक बार भी हो जाता है तब हमें सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। 'आत्मा' या 'मैं' शरीर इन्द्रिय ,मन और बुद्धि नहीं 'हूँ' के ज्ञान के लिए निरन्तर मनन और निदिध्यासन अनिवार्य होता है जब मैं का संदेह रहित और प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाएगा तो मोक्ष प्राप्त होगा।

योग दर्शन

योग की परिभाषा, लक्षण और स्वरूप

शासन किसी विषय के लक्षण, भेद एवं फल सहित उपदेश या शिक्षा को कहते हैं। अनुशासन का अर्थ ऐसे विषय की व्याख्या करना जिसका कि शासन पहले से विद्यमान है।[१] अतः योग–सूत्र का आरम्भ करते हुए, महर्षि पतञ्जलि ने योग–विद्या का प्राचीन परम्परा से चला आना बतलाया है।[२] जिसका वर्णन श्रुति–स्मृति पुराणादि में भी पाया जाता है। और हिरण्यगर्भ जिसके प्रथम वक्ता हैं– 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः[३] और 'इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्गर्भो भगवान् जगादयत्'।[४] योग शब्द √ युज्, धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार √ युज् धातु तीन गुणों में प्राप्त होती है–

१– √ युज्–समाधौ धातु दिवादिगणीय (आत्मनेपदी) ।

२– √ युजिर्–संयमने धातु रुधादिगणीय (उभयपदी)

३– √ युज्–संयमने धातु चुरादिगणीय (परस्मैपदी)

इन तीनों ही धातु से बने हुए योग शब्द के अर्थ अलग–अलग हैं। पहले धातु से बने हुए योग शब्द का अर्थ समाधि है। दूसरे धातु से बने हुए शब्द का अर्थ जोड़ है और तीसरे का अर्थ संयमन होता है।

सांख्य योग दर्शन में प्रयोग किया गया योग शब्द (१) √ युज्–समाधौ, धातु से ही घञ् प्रत्यय लगाकर बना हुआ है। √ युजिर्–योगे धातु से बने हुए योग शब्द का अर्थ योग फल या जोड़ होता है। न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों में जिस 'योग' शब्द का व्यवहार किया गया है और जिस योग की

१– अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलैर्येन तदनुशासनम्। (भोजवृत्ति)
शिष्टस्य शासनम् अनुशासनम्'। (वाचस्पति)

२– अथयोगानुशासनम् (योग सूत्र) –१/१

३– महाभारत–शान्तिपर्व, ३४६/६५ और योगियाज्ञवल्क्य (१२/५)

४– श्रीमद्भागवत् तथा देवी भागवत् ८/११/३

साधना से उनके 'योगज प्रत्यक्ष' नामक अलौकिक सन्निकर्ष की सिद्धि होती है, वह योग आत्मा और मन के अत्यन्ताधिक संयोग का ही अभिप्राय रखता है इसलिए उसे '√ युजिर् योगे' धातु से बना हुआ मानना चाहिए। न्याय और वैशेषिक योगी दो प्रकार के माने गये हैं। १– युक्त और २– युञ्जान। युञ्जान पद समाध्यर्थक √ युज् धातु से बन ही नहीं सकता। उस धातु से तो प्रकृति अर्थ में युज्यमान पद ही बनेगा। 'युञ्जान' पद तो रुधादिगणीय धातु से ही बन सकता है। जहाँ पर जीव और परमात्मा का मिलन दिखाया जाता है वहाँ पर √ युजिर्यामे धातु से बना योग शब्द ही होगा। क्या उसका अर्थ जोड़ या मिलना होता है किन्तु 'चित्त वृत्तिनिरोधः' रूपी समाधिक के अर्थ में पातञ्जल योग का ग्रहण करना चाहिए और उस शब्द को, दिवादिगणीय 'युज् समाधौ धातु में ही घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ मानना चाहिए।

योग पद धातु के अनुसार युजिर योगे[1] और युज समाधौ[2] दो प्रकार से निष्पन्न माना जाता है। अनेक ग्रन्थों में 'युजिर योगे' से निष्पन्न योग पद प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वहाँ उससे अभिप्रेत अर्थ दो पदार्थो में संयोग दिखाना ही है। किन्तु पातंजल योग दर्शन में जिस योग शब्द का प्रयोग किया गया है वह 'युज् समाधौ' धातु से बना हुआ है।[3] भाष्यकार व्यास के मत में योग एवं समाधि पर्यायवाची हैं।[4] सूत्रकार ने भी सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार के योग के लिए समाधि[5] शब्द का प्रयोग किया है। भोजदेव[6] हरिहरानन्द आरण्य[7] एवं सदा शिवेन्द्र सरस्वती[8]

१– युजिर् योगे, धा० पा० ७/७

२– युज् समाधौ, धा० पा० ४/६४

३– (क) – 'युज समाधौ, इत्यस्माद्व्युत्पन्नः समाध्यर्थो न तु 'युजिर् योगे' इत्यस्मात्संयोगार्थ इत्यर्थः।
–त० वै०, पृष्ठ–३

(ख)– युज् समाधावित्यनुशासनतः प्रसिद्धो योगः। –यो० वा०, पृष्ठ–६

(ग)– अथ योगानुशासनम्। –यो० सू० १/१

४– योगः समाधिः –व्या० भा०, पृष्ठ–१

५– (क)– ताः एव सबीजः समाधिः । –यो०सू० १/३६

(ख)– तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः – यो० सू० १/५१

६– 'युज् समाधौ,' अनुशिष्यते व्याख्यायते। –भो० वृ० पृष्ठ–३

७– न च संयोगाद्यार्थकोऽयं योगः 'युज् समाधौ ' इति शाब्दिकाः ।——भा० पृष्ठ–६

८– युज् समाधौ ' इति धातोर्योगः समाधिः –यो० सू० पृ० ३

इत्यादि व्याख्याकारों ने भी इस मत की पुष्टि की है।

लक्षण

दिवादिगणीय युज् धातु से निष्पन्न योग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है समाधि (समाधान), योगः समाधिः (व्या० भा०)। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग कहलता **है, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' योग शब्द को समाध्यर्थक मानने पर भी शङ्.का होती है कि योग तो** प्रधान अंगी है और समाधि अङ्.गी हैं अङ्.ग–अङ्.गी नहीं बन सकता, तब योगः समाधिः उक्ति कैसे ठीक हो सकती है। इसलिए शंका मिटाने के लिए भाष्यकार कहते हैं– "स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः।" यहाँ पर चकार त्वर्थक है और वह समाधि एवं योग के भेद के प्रतिपादक हैं। योग चित्त की समस्त भूमिकाओं में अनुगत है, समाधि नहीं। वास्तव में योग शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त तो चित्तवृत्ति निरोध ही है प्रश्न उठता है कि चित्त क्या है मन, बुद्धि, अहंकार के समष्टि भूत अंतःकरण को ही चित्त कहते हैं। पतञ्जलि ने योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ही योग का लक्षण बताया है।[1] अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग कहा गया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार चित्त का अर्थ है अन्तःकरण बुद्धि।[2]

योग के विषय में नाना प्रकार की फैली हुई भ्रांतियों के निवारणार्थ उसके वास्तविक स्वरूप को भी समझना आवश्यक हैं योग स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना अर्थात् बाहर से अन्तर्मुख होना। चित्त की वृत्तियों द्वारा हम स्थूलता की ओर जाते हैं अर्थात् बहिर्मुख होते हैं। (आत्म तत्व से प्रकाशित चित्त अहंकार रूप वृत्ति द्वारा, अहंकार, इन्द्रियों और तन्मात्राओं रूप वृत्तियों द्वारा, तन्मात्राएं, सूक्ष्म और स्थूलभूत और इन्द्रियों विषयों की ओर वृत्तियों बर्हिमुख हो रही हैं।) जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती जाएंगी उतनी उसमें रज और तम के तिरोभाव पूर्वक सत्व का प्रकाश बढ़ता जायेगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है। योग के मुख्य तीन अन्तर्विभाग किये जा सकते हैं–१ ज्ञान योग २– उपासना योग ३– कर्मयोग।

१– यो० सूत्र १/२

२– चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति। त० वै० पृ०–३

भौतिक जड पदार्थो को जान लेना अर्थात् सांसारिक ज्ञान और विज्ञान ज्ञानयोग नहीं है। बल्कि तीनों गुणों और उनसे बने हुए सारे पदार्थो से परे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर और स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत या अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश या शरीर, इन्द्रियों मन, अहंकार और चित्त से परे गुणातीत शुद्ध परमात्मतत्व को जिसके द्वारा इन सबमें ज्ञान, नियम और व्यवस्था पूर्वक किया हो रही है, संशय विपर्यय रहित पूर्ण रूप से जान लेना ज्ञानयोग है। यह ज्ञान केवल पुस्तकों के पढ़ लेने से या शब्दों द्वारा सुन लेने मात्र से ही नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिए उपासनायोग की आवश्यकता होती है।

एक प्रत्यय का प्रवाह करना अर्थात् चित्त की वृत्ति को सब ओर से हटाकर केवल एक लक्ष्य पर ठहराने का नाम उपासना है। किसी सांसारिक विषय की प्राप्ति के लिए इस प्रकार एक प्रत्यय का प्रवाह करना उपासना कहा जा सकता है, उपासनायोग नहीं। यह उपासनायोग तभी कहलाएगा जब इसका मुख्य लक्ष्य केवल शुद्ध परमात्मतत्व की प्राप्ति हो। इसकों स्पष्ट शब्दों में समझना चाहिए कि जिस प्रकार जल के सर्वत्र भूमि व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्धि धारा को किसी स्थान विशेष से खोदने पर निकला जा सकता है उसी प्रकार परमात्मत्व के सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूप को किसी स्थान विशेष द्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह जो चित्त को किसी विशेष ध्येय (विषयलक्ष्य) पर ठहराकर शुद्ध परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने का यत्न किया जाता है यही उपासना योग है। इसके बाद जो सर्ववृत्तियों के निरोध होने पर शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थिति है वह ज्ञान योग है।. इसी को असम्प्रज्ञात समाधि या असम्प्रज्ञात योग कहा जाता है। जिस प्रकार तली तोड़ कुंए को खोदते समय कई प्रकार की मिट्टी की तहें और अन्य अद्भुत वस्तुएँ निकलती हैं, ऐसा ही ध्यान अवस्था में होता है। यहाँ भी सूक्ष्म भूत अहंकार और अस्मिता (आत्मा से प्रकाशित चित्त) ये चार प्रकार की तीन गुणों की तहें आती हैं। जब स्थूल भूत या उनसे सम्बन्ध रखने वाले विषय सामने आवें उसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, जब सूक्ष्मभूत या उनसे सम्बन्धित विषय उपस्थित हों उसके

विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि, जब इन दोनों विषयों से परे केवल 'अहमस्मि' वृत्ति रह जाय उसको आनन्दानुगत और जब उससे भी परे केवल अस्मिवृत्ति रह जाये, उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

जिस प्रकार सारी मिट्टी की तहों के समाप्त होने पर जल को रेत से अलग किया जाता है उसी प्रकार गुणों की इन चारों तहों के पश्चात् जब आत्मा को चित्त से अलग साक्षात् किया जाता है तब उसको विवेक ख्याति कहते हैं इसके बाद शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है जो समाधि असम्प्रज्ञात योग या ज्ञान योग कहलाता है। अतः उपासना योग से ही ज्ञानयोग की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह उपासना योग भी बिना कर्मयोग के नहीं साधा जा सकता है।

कोल्हू के बैल के समान कामों में लगे रहने का नाम कर्मयोग नहीं है। शरीर, इन्द्रियों, धन, सम्पत्ति आदि सारे साधनों, उनसे होने वाले कर्त्तव्यरूप सारे कर्मो को और उनके फलों को भी ईश्वर को समर्पण करते हुए अनासक्त निष्काम भाव से व्यावहार करने का नाम कर्मयोग है। जिस प्रकार मंच (stage) पर आया हुआ 'एक्टर' अपने भूमिका को भलीभॉति निभाता हुआ अन्दर इसका कोई भी प्रभाव अपने हृदय पर नहीं होने देता है, उसी प्रकार कर्मयोगी ईश्वर की ओर से आये हुए सारे कर्त्तव्यों को भलीभाँति करता हुआ भी अन्दर से अलिप्त रहता है अर्थात् कर्मो को ईश्वर को समर्पण करके और आसक्ति को छोड़कर जो कर्म करता है, वह पानी में पद्यमात्र के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता। योगी फल की कामना और कर्त्तापन के अभिमान को छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए केवल शरीर इन्द्रियों, मन और बुद्धि से काम् करते हैं। योगी कर्म के फल को त्यागकर परमात्मप्राप्तिरूप शान्ति का लाभ करते हैं। अयोगी कामना के अधीन होकर फल में आसक्त हुआ बंधता है।[1]

१— ब्रह्मण्याधाय कर्माणिसङ्गत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यकत्वाऽत्मशुद्धये।।
युक्तः कर्मफलं त्यकत्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।। —गीता, ५/१०—१२

उपर्युक्त तीनों योगों के दो मुख्य भेद सांख्य और योग नाम से किये गये हैं। जहाँ भक्ति योग पर कर्मयोग पर अधिक जोर दिया गया हो वह योगनिष्ठा कहलाती है और जहाँ ज्ञान को प्रधानता दी जाती है वह सांख्य निष्ठा कहलाती है इन दोनों मुख्य भेदों में से योगनिष्ठा की चर्चा समीचीन होगी। सिनेमा के साधारण श्वेत रङ्.ग की चादर (पर्दा) के समान सत्वचित्त (जिसमें सत्व ही सत्व है) रजक्रिया मात्र और तम उस क्रिया को रोकने के लिए है का स्वरूप समझाना चाहिए। यह विद्युत के समान आत्मा (चेतन तत्व) के ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। भेद केवल इतना है कि विद्युत जड़ होने के कारण स्वयं सिनेमा के पर्दे का देखने वाला नहीं है। उसको दूसरे चेतन पुरुष देखते हैं। आत्मा ज्ञान स्वरूप होने से अपने ज्ञान के प्रकाश में जो कुछ चित्त में हो रहा है, उसका दृष्टा है।

यही चित्त रूपी पर्दा कुछ रज और कुछ तम की अधिकता का मैल लिये हुए एक दूसरे अहंकार रूप पर्दे का स्वरूप में प्रकट हो रहा है। यह अहंकार रूपी पर्दा रज और तम की अधिकता का मैल लिये हुए तन्मात्राओं से लेकर सूक्ष्मभूतों रूपी पर्दा कुछ रज और तम की अधिकता को लिये हुए पाँच स्थूलभूतों रूपी पर्दा कुछ रज और तम की अधिकता को लिये हुए पाँच स्थूलभूतों रूपी पर्दे के स्वरूप में प्रकट हो रहा है इस पर्दे पर विषय–वासनाओं से युक्त अनन्त वृत्तियों सिनेमा के चित्रों के सदृश घूम रही हैं। चित्तरूपी पर्दे में आत्मा के ज्ञान का प्रकाश पड़ रहा है। इसलिए अपने ज्ञान के प्रकाश में जो–जो रूप यह पर्दा धारण करता है उसका स्वयमेव ही आत्मा को ज्ञान रहता है। और अपने ज्ञान स्वरूप में सर्वथा अवस्थित रहते हुए भी चित्त रूपी पर्दे का दृष्टा होने के कारण जैसा आकार यह पर्दा धारण करता है वैसा ही वह प्रतीत भी होता है।

योग के आठ अङ्.ग

यम, नियम, आसन, प्राणयाम, प्रत्याहर, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अङ्.ग हैं।[१] इन्हीं के अनुष्ठान से विवेक ख्याति के बाद ज्ञान दीप्ति होती है तत्पश्चात् सम्प्रज्ञात समाधि परिपक्व हो जाने पर सर्ववृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अन्य साधकों के लिए वर्णित अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा एवं वीर्य आदि साधनों का भी इनमें अन्तर्भाव हो जाता है।[२] किस अङ्.ग में कौन सा साधन समाहित है इसको स्पष्ट करने के लिए विज्ञान भिक्षु ने बताया है कि वैराग्य का संतोष में श्रद्धा आदि का तप आदि में एवं परिकर्मो का धारणा, ध्यान और समाधि में अन्तर्भाव हो जाता है।[३]

योग के इन आठों नियम का पालन करना साधक के लिए आवश्यक है। कुछ परिस्थितियों को छोड़कर वह किन्ही अङ्.गों का पालन न करता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता,[४] ऐसा 'इलाइड' का विचार है। इन आठ अङ्.गों की नैतिकता, शारीरिक अनुशासन एवं मानसिक अनुशासन के आधार पर तीन भागों में बॉटा जा सकता है। पहले दो अङ्.ग यम और नियम व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से अनुशासित करते हैं। यम एवं नियम व्यक्ति के व्यावहार को अनुशासित करते

१– " यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान
समाधयोऽष्टावङ्.गानि।" –यो० सू० ०२/२६

२– अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथायोगमेतेष्वेव स्वरूपतों नान्तरीयकतयान्तर्भावयितव्याः
–त० वै०, पृ० २४२

३– तत्र वैराग्यस्य सन्तोषे प्रवेशः श्रद्धाऽऽदीना च तपआदिषु, परिकर्मणां च धारणाऽऽदित्रिक इति।
–यो वा० पृष्ठ–२४२

४– Each class (anga) of practices and disciplines has a definite purpose. Patanjali hicrachicrachizes these 'members of yoga' in such a way that the yogin can not omit any of them, except in certain cases -Elide, M. Yoga Immortality and Freedom page 49

हैं। चाहे वह ब्रह्म संसार के प्रति हो या समय के प्रति हो।[1] महाभारत में भी योग के आठ ही अड्.ग बतलाए गये हैं– 'वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः[2] लिड्.ग पुराण कहता है– साधनस्पष्टवा चास्य।

योग के आठ अड्.गों मे से पहला अड्.ग यम है। यम के पॉच भेद हैं ये पाँचों भेद इस प्रकार हैं– अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह[3] 'यम उपरमे' धातु से निष्पन्न 'यम' शब्द का अर्थ होता है कि निवृत्त होना। इसलिए हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन एवं परिग्रह की निवृत्ति, स्वरूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह योग सम्मत यम हैं। मनुष्य का सभी प्राणिवर्ग के प्रति व्यावहार ही बहिर्मुखता की चरमसीमा है। इसलिए सबसे पहले व्यावहारिक जीवन को सात्विक, दिव्य एवं योगाभिमुख बनाने के लिए यम पहला सोपान है। यमों के सम्यक् आचरण से बाह्य–व्यावहार की शुद्धि होती है और स्थूल क्लेश कर्मो की निवृत्ति होती है।

अष्टाड्.ग योग के अड्.गों में से जो पहला अड्.ग है वह यम है। यम के पाँच भेदों में से पहला भेद है अहिंसा–सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति हर तरह से द्रोह त्याग करना ही अहिंसा है। अर्थात् मन, वाणी, तथा कर्म के द्वारा किसी भी प्राणी को क्लेश न देना ही अहिंसा है। यही अहिंसा ही सबसे बड़ा सुख और धर्म कहा गया है। शेष जितने भी धर्म हैं वे सब धर्म अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए ही किये जाते हैं। विज्ञान भिक्षु ने योगसार संग्रह में 'ईश्वर गीता' के अहिंसापरक श्लोको

१– It will be noticed that the first two of these eight are concerned with the aspirant's attitude towards the outer world and towords himself. – wood E. Yoga Page –37

२– शान्ति २/६/७ नील कण्ठी टीका में

३– (क) अहिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। –यो० सू० २/३०

(ख) 'अहिंसासत्यमस्तेयम्ब्रह्मचर्य्य परिग्रहौ।
यमाः सक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धि प्रदानृणाम ।। –यो० सा० सं०–पृष्ठ–६१

को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हुए शास्त्रोक्त हिंसा को अहिंसा कहा है।[1] हिंसा न करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों के प्रति सद्भावना रखे और पुरुष वचनों से रहित होकर व्यावहार करे। ऐसा करने पर वह विश्वबन्धुत्व की भावना से युक्त होकर निश्चय ही प्रसन्नचित्त हो रागद्वेष से रहित हो जाएगा। विज्ञानभिक्षु ने आश्रमविहित नित्यकर्म के अविरोधी अहिंसा के परिपालन का समर्थन किया है।[2] अहिंसा पर अमल करने के लिए हिंसा के विषय में जान लेना भी अतिआवश्यक है क्योंकि हिंसा से बचना ही अहिंसा है। स्वयं की गयी हिंसा के अलावा किसी दूसरे के द्वारा कराये गये हिंसक कार्य या किसी दूसरे के द्वारा किये जाते हुए दुष्कर्मों का अनुमोदन करना भी हिंसा ही कहा गया है।[3] इसलिए साधना करने वाले को चाहिए कि वह न स्वयं किसी को पीड़ा दे और न ही किसी दूसरे को ऐसा करने के लिए प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से सहायता दे। इन तीन प्रकार की हिंसा के मृद, मध्य एवं अधिमात्र ये तीन-तीन भेद होने से सत्ताइस (२७) भेद हुए, इन सत्ताइस का फिर मृदु, मध्य एवं अधिमात्र रूप में विभाजन करने पर इक्यासी (८१) भेद हो जाते हैं।[4] कहा भी गया है कि जिस प्रकार नाग अर्थात् हाथी के पद में अन्य सभी पद गामियों के पद

१– तुल०– ' कर्मणा मनसावाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्तावहिंसा परमर्षिभिः।।
अहिंसायाः परोधर्मो नात्स्यहिंसापरमसुखम्।
विधिना या भवेद्धिंसा सा त्वहिंसैव कीर्तिता।।'
–योग सार संग्रह , पृष्ठ ६४

२– आश्रमविहितनित्यकर्मविरोधेनेति विशेषणीया।
–यो० वा० पृष्ठ–२४४

३– तत्रहिंसा तावत् –कृता कारितानुमोदितेति त्रिधा। –व्या० भा० पृष्ठ–२५१

४– व्या० भा० पृष्ठ–२५१

निमज्जित हो जाते हैं। उसी प्रकार अहिंसा मे ही सत्य आदि सभी धर्म समाहित हो जाते हैं।[1] स्मृति में भी अहिंसा को ही परमधर्म बताया गया है।[2]

यथार्थ चिन्तन एवं कथन ही सत्यानुष्ठान है। अर्थात् जिस रूप में किसी वस्तु का प्रत्यक्ष किया हो (देखा हो), जैसा उसे तर्कानुमान से जाना हो अथवा जैसा आगम से सुना हो, उसी रूप में उस वस्तु के ज्ञान को मन में धारण करना और दूसरों को बतलाना ही सत्य कहा गया है स्वचित्तगत बोध के विपरीत बोध कराने वाली वाणी असत्य होती है। उदाहरण के लिए 'अश्वत्थामाहतः' युधिष्ठिर का यह वाक्य द्रोणाचार्य के मन में अयथार्थ ज्ञानोत्पादन होने से असत्य है। इसका कारण यह है कि युधिष्ठिर के मन प्रत्यक्ष बोध हस्ति मृत्यु विषयक था और युधिष्ठिर के वाक्य से द्रोणाचार्य के मन में उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वपुत्र विषयक था और वह अयथार्थ ज्ञान ही कराना चाहते थे। इसलिए ऐसी वाणी वंचनाजनक होने के कारण असत्य की। कोटि में ही गिनी गयी है। वंचना, भ्रान्ति एवं प्रतिपत्तिशून्य बोधकारक वचन ही सत्य है, पर अपकार मूलक वचन भी सत्य नहीं, बल्कि सत्य का केवल आभास ही है।[3]

''मुष् स्तेय'' धातु से निष्पन्न 'स्तेय' शब्द का अर्थ होता है कि चोरी या तस्करता। स्तेयाभाव को अस्तेय कहा गया है। इसलिए अस्तेय का तात्पर्य है कि चोरी या हठपूर्वक किसी के द्रव्य को न छीनना या न ग्रहण करना।[4] इन्द्रिय से परद्रव्य अपहरण करना तो दूर की बात है, मन से रहित

१— यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे।।
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते। —मोक्षधर्मः यो० वा०, पृष्ठ—२४५

२— अहिसा परमोधर्मः।

३— तुल०— यदिचैवमप्यभिधीयमाना भूतोपधातपरैवस्यान्न सत्य भवेत् पापमेवभवेत्।
तेनपुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। —व्या० भा० यो० सू० २/३०

४— तुल०— परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाऽर्थ बलेन वा।
स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम्।। —यो० सा० सं० पृष्ठ—६२

रहित वस्तु के ग्रहण एवं उसको ग्रहण–स्पृहा के परित्याग की चेष्टा ही अस्तेय साधन है। इस विषय में श्रुति भी है––''मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।[1]

योगमार्ग पर चलने वाले यात्रियों के लिए ब्रह्मचर्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है उपस्थेन्द्रिय को संयम में रखना ही ब्रह्मचर्य है[2] इसके प्रतिष्ठापित किये जाने पर वीर्य का लाभ बताया गया है।[3] वीर्य का अर्थ है शक्ति से जिसके द्वारा व्यक्ति को अणिमा, लधिमा, महिमा आदि गुणों की प्राप्ति होती है। ऐसा विचार वाचस्पति मिश्र का है। किन्तु विज्ञान भिक्षु गुणों का अर्थ अणिमा आदि को न मानकर ज्ञानक्रिया को स्वीकारते हैं।[4] वाचस्पति मिश्र के कहने का तात्पर्य है कि तारा आदि आठ सिद्धियों को प्राप्त कर लेने पर साधक शिष्यों को योग और उनके अड्.गों का ज्ञान देने में सक्षम हो जाता है। परन्तु विज्ञान भिक्षु सिद्धि–विशेष से युक्त होना न मानते हुए ज्ञान, क्रिया आदि से युक्त होने पर स्वयं ज्ञानी होकर अपने शिष्यों को ज्ञान देने में वह क्षम हो जाता है।

अष्टाड्.ग योग के पहले अड्.ग यम में अन्तिम स्थान अपरिग्रह का है। इसके माध्यम से ही साधक में वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है क्योंकि किसी से कुछ लेने से ह्रदय अपवित्र हो जाता है। दान देने से दान लेने वाला हीन हो जाता है उसकी आजादी समाप्त हो जाती है और वह बद्ध एवं आसक्त हो जाता है, क्योंकि वस्तुओं के ग्रहण से अर्जन, रक्षण, क्षय, सड्.ग एव हिंसा आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए प्राण धारण करने के लिए आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का त्याग करना ही अपरिग्रह है।[5]

१– 'ईशावास्योपनिषद् १'

२– ब्रह्मचर्यमुपरथस्य संयमः। –भो० वृ० पृष्ठ–२२४

३– ब्रह्मचर्यप्रतिठायां वीर्यलाभः। –यो० सू०, २/३८

४– (क) वीर्य सामर्थ्य यस्य लाभादप्रतिघात प्रतीघातान्गुणान्णिमादीनुत्कर्षयत्युपचिनोति –त०वै०, पृष्ठ २५७

(ख) यस्य वीर्यस्य लाभात्प्रतीघातवर्जितान् गुणान् ज्ञानक्रियाशक्तीरुत्कर्षयति योगी वर्धयति। –यो० वा० पृष्ठ–२५७

५– द्रव्याणामप्यनादानपद्यपि यथेच्छया।
अपरिग्रह इत्युक्तस्तं प्रयत्नेन पालयेत्।। –योग सार संग्रह पृष्ठ–६२

नियम

साधक के नैतिक स्तर को ऊँचा बनाने के लिए यमों के महत्व को विस्तार पूर्वक स्पष्ट कर देने के पश्चात् साधक की आत्मशुद्धि के लिए उसके नियमों का उल्लेख निम्नवत् है।

पतञ्जलि ने साधक की आत्मशुद्धि के लिए शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान नामक पाँच नियम बतलाये[1] हैं।

शौच का अर्थ है शुद्धि अर्थात् किन्हीं साधनों के द्वारा मल को दूर कर स्वच्छ बनाना। वाह्य और आभ्यन्तर भेद से शौच के दो प्रकार हैं। वाह्य शौच का अर्थ है मिट्टी, जलादि के द्वारा शरीर की वाह्य गन्दगी को दूर कर स्वच्छता प्रदान करना और भेध्य पदार्थों आदि के भक्षण से शरीर के अन्दर होने वाले विकारों को उत्पन्न होने से रोकना[2] इस स्थूल शरीर का वाह्य शौच जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक आभ्यन्तर शौच भी है क्योंकि यदि शरीर के अन्दर की शुद्धि नहीं हुई तो अनेक प्रकार के रोग भी शरीर में उत्पन्न हो जायेंगे जिससे वह साधना में सफलता नहीं प्राप्त कर सकेगा। हर तरह के धर्मों का पालन करने के लिए शरीर को पूर्ण रूपेण स्वस्थ होना आवश्यक है।[3] भाष्यकार के कथनानुसार चित्त की गन्दगी को दूर करना ही आभ्यन्तर शौच है।[4] वाचस्पति मिश्र के अनुसार– मद, अभिमान एवं ईर्ष्यादि को चित्त से दूर करनाहीआभ्यन्तर शौच है।[5]

१– शौचसंतोषतप· स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। –यो०सू०,२/३२

३– तत्र शौचं मृज्जलादिजनित मेध्याभ्यवहरणादि च वाह्यम्। –व्याकरण भाष्य,पृष्ठ –२४७

४– शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्– कु० सं०, पंचम सर्ग

५– आभ्यन्तरम् चित्तमलानामाक्षालनम्,। –व्या० भा०, पृ०२५७

५– चित्तमला मदमानसूयादयः। त० वै०, पृ०,२४८

सन्तोष

सन्तोष का अर्थ है कि जो विषय प्राप्त हो गए हों, उससे अधिक प्राप्त करने की इच्छा का न होना,[१] क्योंकि दुःख तब होता है जब वह जो कुछ प्राप्त करना चाहता है उसे प्राप्त नहीं कर पाता है। यदि वह आवश्यकता से अधिक वस्तुओं की इच्छा नहीं करेगा तब उसे दुःख का अनुभव भी नहीं होगा। वास्तव में ये आवश्यक वस्तुएँ क्या हैं? इसके विषय में वाचस्पति ने कहा है कि जिन वस्तुओं के बिना जीवन–यापन न हो उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की लालसा न करना ही सन्तोष कहा गया है।[२] किन्तु विज्ञानभिक्षु के अनुसार जीवन–यापन करने की जो वस्तुएँ आवश्यक हैं[३] उनसे ही सन्तुष्ट रहने को सन्तोष मानते हैं। जीवन धारण हेतु प्राप्त आवश्यक भोग साधन से अधिक संग्रहेच्छा का अभाव संतोष है।[४]

तप

क्षुधा–पिपासा, शीत–उष्ण, सुख–दुःख, स्थान (खड़ा ही रहना) आसन (बैठा ही रहना) आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों की अवस्थाओं में अविचलित रहना ही तप कहा गया है। वाणी के संयम के लिए काष्ठमौन, आकार मौन, उक्त–द्वन्द्व सहने के लिए कृच्छ, चान्द्रायण, सन्तापन आदि व्रत भी तप के ही अन्तर्गत आते हैं। इनको अपनी–अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार ही करना चाहिए। यदि शरीर में इन व्रतों का पालन करने से व्याधि, पीड़ा या इन्द्रिय विकार होता हो तो इनको नहीं

१– सन्तोषः संन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। –व्या० भा०, पृ०,२४८

२– प्राणयात्रामात्रहेतोरभ्यधिकस्यानुपादित्सा सन्तोषः। –त० वै०,पृ०,२४८

३– अत्यावश्यकप्राणयात्रानिर्वाहकविद्यमानसाधनाद्तिरिक्तस्यालिप्सेत्यर्थः। –यो० वा०, पृ,२४८

४– " यदृच्छालाभनो नित्यमलपुंसोभवेदिति।
या धीरतामृषयः प्राहु सन्तोषं सुख लक्षणम्।। " –कूर्म पुराण–२, विष्णु पुराण–६

करना चाहिए। चित्त प्रसाद में बाधक उग्र, तप–योग में मना किए गए हैं–

" युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्तास्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा।।

–गीता, ६/१७

वाजि विद्या प्रवीण सारथि की तरह शरीर प्राण और इन्द्रियों को सही ढंग से अपने वश में करना, तप के माध्यम से हो सकता है। श्री भिक्षु ने योग सार संग्रह में उपवास परक कृच्छु चान्द्रायण आदि व्रतों द्वारा शरीर शोषण को ही उत्तम तप कहा है।[1] परन्तु योग साधना के लिए कठोर तप, वर्जित बताया गया है । इसलिए उपर्युक्त व्रतों द्वारा शरीर शोषण यदि योग मार्ग में बाधक सिद्ध हो तो उसे उत्तम तप नहीं माना जा सकता है।[2] भिक्षु जी की तप की व्याख्या योगी की शारीरिक क्षमता पर निर्भर करती है। कृच्छादि, तप पापक्षय के लिए आवश्यक होने से पालनीय होते हैं। द्वन्द्व–सहन में शक्तिवर्धक तप ही उत्तम तप कहा जा सकता है।

स्वाध्याय

उपनिषद, गीता आदि मोक्ष प्रतिपादक, आध्यात्मिक शास्त्रों का नियमित अध्ययन और प्रणव गायत्री आदि का नियमित जप, स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय में ही विषय चिन्तन दुर्बल पड़ जाता है। परमार्थ में रुचि एवं ज्ञान बढ़ता है। इस तरह अन्तःकरण शुद्ध होता है स्वाध्याय के तीन भेद बताए गए हैं पहला वाचिक, दूसरा उपांशु और तीसरा मानस है। वह आपस में एक दूसरे को स्फुटतः शब्द कराने वाला, स्वाध्याय, वाचिक कहलाता है। ओष्ठ स्पन्दन की क्रिया स्पष्ट प्रतीत होने पर भी जिससे दूसरों को शब्द ज्ञान न हो, उस स्चाध्याय को उपांशु कहते हैं पद एवं वर्ण

१– उपवासपराकादिकृच्छचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्।। –कूर्म पुराण

२– शारीरं तु तपो घोरं सांख्याः प्राहुर्निरर्थकः ।
–महाभारत अनुशासन पर्व, पृ०, ६०१३, गीता प्रेस संस्करण यह दाक्षिणात्य पाठ है।

संगति के अनुसार बाह्य स्पन्दन शून्य शब्द–चिन्तन को ही मानस जप कहा जाता है।[1]

ईश्वर प्रणिधान

फल की इच्छा न करते हुए सम्पूर्ण कर्मो के फल को समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। योग सार संग्रह में इसी को ईश्वर पूजन और स्तुति स्मरण तथा पूजन द्वारा मन, वचन और कर्म से निश्चल भक्ति को ही उसका स्वरूप कहा है।[2] हम जितने भी कार्य करते है उन सबको ईश्वर को अर्पित करने के लिए निरन्तर ही ईश्वर का स्मरण करना बताया गया है। ईश्वर को भूलकर किया हुआ सम्पूर्ण कार्य अपने व्यक्तित्व के अहंकार के कारण होता है। अपने आप में अकर्तृत्व की भावना और भगवत्स्मरण पूर्वक कर्म करने से और फल की इच्छा न करने से कर्माशय नही बनते हैं। यही ईश्वर प्रणिधान का वास्तविक स्वरूप एवं लक्ष्य है।

आसन

योग के अड्.गों में से तीसरा अड्.ग है आसन। इलायड यम और नियम को यौगिक क्रियाओं के अन्तर्गत मानते ही नहीं हैं उनके मत में मुख्य रूप से योगाड्.गों में से तीसरे से ही योग के

१– " स्वाध्यायस्य त्रयो भेदा वाचिकोपांशुमानसाः।
उत्तरोत्तर वैषिष्टयं प्राहुर्वेदार्थवादिनः।।
यः शब्दबोधजननः परेषां श्रृण्वतां स्फुटम्।
स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्तं उपांशोरथलक्षणम्।
ओष्ठयों स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधकः।
उपांशुरेष निर्दिष्टः सहस्रो वाचिकाज्जपः।।
यत्पदाक्षरसंगत्या परिस्पन्दविवर्जितम्।
चिन्तनं सर्वशब्दानां मानसं तं जपं विदुः।। –योगसार सं०, वि भि०, पृ० ६३

२– " स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाड्.गमनः कायकर्मभिः।
सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वर पूजनम्।। –यो० सार सं०–६४

साधनो की शुरुआत होती है।[1] पतञ्जलि के अनुसार योग साधना के लिए आवश्यक सुख पूर्वक बैठने की कला ही मानते हैं। उनके अनुसार साधक जिस विद्या से सुख पूर्वक स्थिरता से बैठ सके, वही आसन कहलाता है। विज्ञान शिक्षु के मतानुसार संसार में जितने भी प्रकार के जीव हैं। उन सबके बैठने के लिए जितने ढंग हैं उतने ही प्रकार के आसन माने गए हैं।[2] ई० वु० ने आसनों को दो भागों में विभाजित किया है। उनके अनुसार कुछ आसन तो मात्र ध्यानावस्था के लिए होते हैं। जिनमें साधक लम्बी अवधि तक बिना कठिनाई का अनुभव किए बैठ सकता है। दूसरे आसन का उद्देश्य शारीरिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ करना है इनमें साधक को अधिक समय नहीं लगता डा० जोशी भी वुड की ही भाँति आसन की दो श्रेणी मानते हैं[3]। अभिदानन्द बताते हैं कि कुछ लोग स्थिर होकर बैठ नहीं सकते हैं, वे हिलते डुलते रहते है, यदि वे हिलते–डुलते रहेंगे तो चित्त कभी भी एकाग्र नहीं हो सकेगा। क्योंकि शरीर और मस्तिष्क में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि शरीर गतिशील होगा तो मस्तिष्क का एक भाग भी उसके साथ गतिशील रहेगा। इसलिए शरीर को रखने के लिए आसन करना बहुत ही आवश्यक है।[4] किन प्रश्नों के शिथिल करने से आसनों में स्थैर्य

१– यावत्यो जीवजातयसतावन्त्येवासनानीति संक्षेपः। –योग वाशिष्ट, पृ०२६२

2& We may divide the postures into two groups: – (1) Those intended to be retained for a long time in meditation. (2) Those intended for bodifyfitness, most of which are meant to be retained for a very short time, in some cases only a few seconds

–wood, E. Yoga p.–106

३– The postures may be divided into two main groups namely, those which are comfortable sitting positions, and the others that are employed for exercising various parts the body. The postures belonging to the former group are usually employed for the purpose of making the mind silent.

–Joshi, K.S.Y.P. P. –127

४– The idea of the postures of the body is to gain control over the body. some people cannot sit still. So one will try to concentrate and to meditate. He must keep the body still. If he goes on rocking and to meditate, he cannot do it very well , because a portion of his mind has activity in consection with that rocking state of the physical body.

–Abhidanand. Y.psy.p.14

आता है। इस विषय में वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु में पर्याप्त मतभेद हैं। वाचस्पति मिश्र आसन काल में सामान्य शारीरिक क्रियाओं को रोकना आवश्यक समझते हैं।[1] किन्तु विज्ञान भिक्षु के मतानुसार आसन काल से पहले को शारीरिक क्रियाओं के द्वारा थकान होने के कारण आसन बन्ध काल में अड्.ग कम्पन होता है। इसलिए आसन सिद्धि नहीं हो पाती हैं। भाव यह है कि प्रयत्नों को शिथिल करने का तात्पर्य आसन काल से पहले ही क्रियाओं को शिथिल करना है।[2]

आसन उस स्थिति को कहते हैं । जिसमें स्थिरतापूर्वक सुखावह उपवेशन हो।[3] आस्यते इति आसनम् इसका तात्पर्य है कि जिसके द्वारा स्थिरता एवं सुख प्राप्त हो वही आसन कहलाता है। आसन के अनेक भेद कहे गए है। जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, सिद्धासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यड्.कासन, कौञ्चनिषदनासन, हस्तिनिषदनासन उष्द्रनिष्दनासन एवं समसंस्थानसनादि।

पद्मासन

योगों में सबसे उत्तम आसन पद्मासन को ही कहा गया है। बाँयी जंघा के ऊपर दाहिना पैर और दायीं जंघा के ऊपर बाँया पैर रखकर, दोनों हाथों को पीठ की तरफ से लाकर बाँए पैर के अंगूठे को दाहिने हाथ से पकड़कर और दाहिने पैर के अंगूठे को बाएँ हाथ से पकड़ने से बद्ध पद्मासन होता है । साथ ही रीढ़ को सीधा रखने के लिए नासिका के अग्रभाग का निरीक्षण रखने के लिए नासिका के अग्रभाग का निरीक्षण भी करना होता हैं । गीता में भी आसन के लिए कहा

१— तस्मादुपदेष्टव्यस्यासनस्यायमसाधकों विरोधी च स्वाभाविकः प्रयत्नः —इति स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यमासनसिद्धि हेतुः। —ता० वै०, पृ० २६७

२— बहुव्यापारानन्तरं चेदासनं कियते तदाऽड्.गकम्पनादासनस्थैर्य न भवतीत्याशयः। —यो० वा० पृ० २६३

३— "स्थिरसुखमासनम्" —यो० सू० २/४६

"समंकाय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्यमच्चितो युक्त आसीत् मत्परः।।" [1]

वीरासन

वीरासन अर्ध पद्मासन को कहा गया है इसमें एक पाँव एक उरु के ऊपर रहता है और दूसरा दूसरी उरु के नीचे पृथ्वी पर स्थित रहता है।

भद्रासन

भद्रासन में युगल पद्तलों को वृषभ के समीप एकत्रित करके उसके ऊपर दोनों हथेलियों को संपुटित करके रखा जाता है।

स्वस्तिकासन

बाएँ पैर को मोड़कर–दाहिनी जंघा एवं उरु के बीच स्थापित करके और दाहिने पैर को बायीं जंघा पर एवं उरु के बीच स्थापित करके सीधे बैठने से स्वास्तिकासन सिद्ध होता है। योगाभ्यास करने के लिए हमेशा युद्ध, शान्त एवं एकान्त स्थल होना चाहिए। इसके साथ ही साथ आहार भी हमेशा शुद्ध ग्रहण करना चाहिए। आसन हमेशा पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके ही करना चाहिए। गीता में आसन की स्थापना के लिए उपाय बताते हुए पवित्र स्थान में नीचे कुशासन पर कमशः मृग चर्म और वस्त्र बिछाकर ही बैठने को कहा है।[2] .

१– गीता, ६/१२/१३

२– "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छित नातिनीयं चैलाजिन कुशोत्तरम्।।
तत्रैकाग्र मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियः कियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धेये।।
सम कायशिरोग्रीवं धारयन्नचल स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।
प्रशान्तात्मा विगत भीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो योगमासीतमत्परः। –(गीता ६/११–१२–१३–१४)

प्राणायाम

अष्टाङ्.ग योग के साधनों में से तीसरा साधन आसन है। आसन के बाद प्राणायाम का स्थान आता है। भाष्यकार के अनुसार आसन की सिद्धि करने के बाद ही प्राणायाम का अभ्यास शुरू करना चाहिए।[1] अर्थात् सोते–जागते, उठते बैठते किसी भी समय यदि कोई मनुष्य प्राणायाम करना चाहे तो वह असम्भव कहा गया है। या फिर उचित ढंग से नही कर सकेगा। इसलिए प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए साधक को चाहिए कि वह एक निश्चित आसन में बैठकर प्राणायाम करे। तभी वह सफल हो सकेगा अन्यथा सफलता मिलना बहुत ही कठिन है।

प्राणायाम शब्द प्राण तथा आयाम नामक दो शब्दों से मिलकर बना है। प्राणस्य आयामः इति प्राणायामः। साधारण अर्थो में हम प्राण शब्द का तात्पर्य प्राण वायु से ही लगाते हैं जो कि श्वास के माध्यम से हमारे शरीर में प्रवेश करती है और प्रश्वास के द्वारा निष्कासित कर दी जाती है, किन्तु यहां पर प्राणायाम का अर्थ मात्र उस प्राण को रोकना नहीं, बल्कि शरीर में उपस्थित, प्राणी की सभी इन्द्रियों के व्यापार को ऊर्जा देने वाली जीवनी शक्ति को नियन्त्रण में रखना है उस जीवनी शक्ति को ही प्राण शब्द से सम्बोधित किया गया है।[2] सूत्रकार ने चार प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख किया है। पहला है– ब्राह्य–वृत्तिक दूसरा है– आभ्यन्तर वृत्तिक, तीसरा है– स्तम्भ वृत्तिक[3] और चौथा प्राणायाम वह होता है। जिसमें ब्राह्य एवं आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के विषयों का अतिक्रमण कर दिया जाता है।[4]

जब प्रश्वास पूर्वक गति का अभाव किया जाता है तब उसे बाह्यप्राणायाम[5] या रेचक[6] के नाम से अभिहित किया जाता है। श्वास लेकर प्रश्वास की गति को रोकना ही पूरक के नाम से जाना

१– सत्यासनजये – – – – – प्राणायामः। –व्या० भा० पृ० २६३

२– जीवननाम्नी सर्वेन्द्रियाणां वृत्ति· प्राणनापाननादिरूपेत्यर्थः। –यो० वा० पृ० ३५७

३– बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः, परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। –यो० सू० २/५०

४– ब्राह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। –यो० सू० २/५१

५– यत्र प्रश्वास पूर्वको गत्याभावः सः बाह्यः। –व्या० भा० पृ० २६४

६– (क)– रेचकमाह–यत्र प्रश्वासेतिं –त० वै०, पृ० २६५

(ख)– स तु प्राणायामों बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिः स्तम्भ वृत्तिरिति त्रिविधः रेचक, पूरक कुम्भकं भेदात्। –यो० वा० पृ० २६५

जाता है।[1] तीसरे प्राणायान में श्वास एवं प्रश्वास दोनों की गति को एक ही प्रयत्न द्वारा रोक दिया जाता हैं।[2] और उसे कुम्भक प्राणायाम के नाम से पुकारा जाता है। इसमें शरीर निश्चल रहता है। चौथे प्रकार के प्राणायाम को तीसरे प्रकार का ही भेद मानना चाहिए क्योंकि उसमें भी श्वास एवं प्रश्वास की गति का पूर्ण निरोध हो जाता है और शरीर में स्थित प्राण निष्क्रिय हो जाता है। दोनों में अन्तर बताने के लिए केवल इतना ही कहा गया है कि तीसरा प्राणायाम एक वार के प्रयत्न से ही सम्भव हो जाता है।[3]

प्रत्याहार

इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों से सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण अर्थात् नकल जैसा करना ही प्रत्याहार है।[4] वास्तव में प्रत्याहार शब्द का अर्थ है पीछे की ओर हटना उल्टा होना या विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषयों से पीछे हटकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। इस कारण इसको प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार शब्द प्रति उपसर्ग तथा आहार शब्द से निष्पन्न होता है भगवद्‌गीता में प्रत्याहार के विषय में कहा गया है–

"यदासंहरते चायं कूर्मोङ्.गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रिआर्थेभ्यस्तस्याप्रज्ञाप्रतिष्ठिता।"[5]
२/५८

१– पूरक माह–यत्र श्वासेति। –त० वै०, पृ० २७५
२– तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः संकृत्प्रयत्नाद्भवति। –व्या० भा० पृ० २६४
३– वक्ष्यमाणस्य कुम्भकभेदस्य चतुर्थप्राणयामस्य
व्यावर्त्तनाय सकृत्प्रयत्नादिति विशेषणम्। –यो० वा०, पृ० २२६
४– स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः। –यो० सू० २/५४
५– –भगवद्‌गीता, २/५८

इसके बाद प्रत्यहार का वर्णन महाभारत में भी किया गया है। महाभारत के अश्वमेघ पर्व में (४२/४६) में इसका वर्णन किया गया है। –

" विद्वान कूर्म इवाङ्.गानि कामान् संहृत्य सर्वतः।

विरजाः सर्वतो मुक्तो यो नरः सः सुखी सदा।।"[1]

प्रत्याहार की साधना के लिए अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता है क्योंकि इन्द्रियों का व्यापार अर्थात् कार्य चित्त की गति के अनुसार होता है। प्रत्याहार के पहले ही यम, नियम, आसन और प्राणायाम के द्वारा चित्त वाह्य विषयों से हट जाता है इसलिए इन्द्रियॉ भी अपने–अपने विषयों से विरत हो जाती हैं। इस अवस्था में अर्थात् विषयों की असम्पृक्तावस्था में चित्त का जैसा स्वरूप होता है। उसी तरह इन्द्रियॉ भी चित्त का अनुकरण करने लग जाती हैं। इसी कारण सूत्रकार ने भी 'चित्तस्वरूपानुकार इव' का प्रयोग किया है कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अनुकरण जैसा करती हैं पर वास्तव में वह अनुकरण नहीं करती हैं क्योंकि चित्त तो पहले ही वाह्य विषयों से विमुख होकर बाद में आत्मतत्वाभिमुखी होता है परन्तु इन्द्रियाँ तो केवल अपने वाह्य विषयों से ही विमुख होती हैं चित्त की तरह वे आत्मतत्वाभिमुख नहीं होती हैं इस प्रकार प्रत्याहार इन्द्रियों का ही धर्म है, चित्त का धर्म नहीं है। बिना प्रत्याहार के ध्यान किया सम्भव ही नहीं हो सकती है। 'चित्तस्वरूपानुकार इव' की व्याख्या भगवान् व्यास ने बड़ी ही सुन्दर उपमा के द्वारा किया है जिस प्रकार मधु बनाने वाली मक्खियाँ, रानी मक्खी के उड़ने पर उड़ने लगती हैं और उसके बैठने पर बैठ जाती हैं इसी तरह इन्द्रियाँ भी चित्त के अधीन होकर कार्य करती हैं। जब चित्त का बाहर के विषयों से उपराग होता है तभी उसको ग्रहण करती हैं यम, नियम, प्राणायामादि के प्रभाव से चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होकर समाहित होने लगता है, तब इन्द्रियाँ भी अन्तमुर्ख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती है और चित्त के निरुद्ध हो जाने पर स्वयं भी निरुद्ध

१– –महाभारत के अश्वमेध पर्व –४२/४६

हो जाती हैं। यही उनका प्रत्याहार है। जब योग साधना के द्वारा चित्त एकाग्रता के योग्य हो जाता है। तब चित्त को किसी उचित विषय की ओर लगाना चाहिए जिससे चित्त पुनः अनुचित विषय की ओर संलग्न न हो जाये। नहीं तो उसकी पूरी साधना ही व्यर्थ हो जाती है इसलिए साधक को चाहिए कि वह विभिन्न सांसारिक विषयों में आकृष्ट करने वाली साधन भूत पञ्चेन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर उन्हें अन्तर्मुखी बनायें। जब इन्द्रियाँ वाह्य विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होगी तब निश्चय ही चित्तकाराकारित हो जायेगी। इसलिए चित्त के ध्येय विषय वाली के समान अन्य इन्द्रियाँ भी होंगी। यह प्रत्याहार के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि इन्द्रियों का अपने विभिन्न विषयों में सम्प्रयोग न होने पर उनका चित्ताकाराकारित हो जाना ही प्रत्याहार है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार "चित्त का जिस भी एकत्व में एकाग्रता प्राप्त करने पर इन्द्रियों द्वारा उसका अनुकरण करना है उसे वाह्य विषयों से अनुराग नहीं मानना चाहिए।"[१]

धारणा

धारणा एक अंतरङ्‌ग साधन है। आसन प्राणायाम, प्रत्याहार आदि से जब चित्त चाञ्चल्य पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाये, तब उसे किसी देश विशेष में बॉधना अर्थात् स्थिर करना धारणा कहलाता है।[२] देश का अर्थ यहॉ वाह्य आभ्यन्तर आध्यात्मिक देशों से है। ये देश नाभिचक्र (मणिपुर), हृदय कमल (अनाहत चक्र), नासिकाग्र, जिह्वाग्र, भ्रूमध्य, ब्रह्मरन्ध्र और चन्द्र, सूर्य, ध्रुव आदि है इन देशों अर्थात् आध्यात्मिक स्थल विशेषों में वृत्ति मात्र से चित्त को स्थिर कर देना धारणा है।

१– यत्पुनस्तत्वं चित्तमभिनिविशते न तदिन्द्रियाणा वाह्यविषयाणामनुकारोपि। –त० वै० पृ० २७२
२– देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। –यो० सू० ३–१

"योग सार संग्रह" मे पर्वत–शिखर भी धारणा का देश बतलाया गया है।[1] श्री भिक्षु ने यह शङ्.का उठाई है कि मूर्ति आदि ध्येय के विषय में तो देश का कथन युक्ति संगत प्रतीत होता है, किन्तु सत्वपुरुर्षान्यताख्याति और शुद्ध ब्रह्मविषयिणी धारणा में उक्त ध्येय असीम अपरिच्छिन्न होने से देश–बन्ध से क्या सम्बन्ध हो सकता है? साथ ही शङ्.का निवृत्त करते हुए यह बताया है कि जिस प्रकार अग्नि सर्वव्यापी होने पर भी, अग्नि का इन्धनादि ही आश्रय स्थल है और उसके तीव्र घर्षण से अग्नि प्रज्जवलित हो उठता है, उसी भाँति ब्रह्म प्रकृत्यादि सर्वव्याप्त होने पर भी हृदय आदि उपाधियों में उनका साक्षात्कार होने से ही उनका देश मान्य है।[2] आभ्यन्तर देश साक्षात् अनुभव के द्वारा चित्त बन्ध और वाह्य विषयों में वृत्ति–मात्र अर्थात् ज्ञानमात्र से चित्त का बन्ध धारणा कहलाता है।[3] योगसारसंग्रह ने धारणा का समय द्वादश आयाम बतालाया है "धारणा द्वादशायामा" अर्थात् जितनी देर में द्वादश आयाम (प्राणायाम) होते हैं, उतनी देर तक पूर्वोक्त देशों में जब चित्त स्थिर, तब उसे धारणा कहते हैं।

ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्।[4] उस देश विशेष में जिसमें साधक ने धारणा को सिद्ध किया है, चित्त का निरन्तर सदृश प्रवाह ही ध्यान कहा जाता है। एकतानता से अभिप्राय है चित्त की एकाग्रता जो कि वाचस्पति मिश्र का कथन है।[5] ध्यानावस्था काल में चित्त के सदृश प्रवाह की उपमा लगातार बहने वाली तेल की धारा से दी गई है।[6] शंकराचार्य ने भी सर्ववेदान्त–सिद्धान्त–सार संग्रह नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत

१– "हृत्पुण्डरीकेनाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषू धारणा चित्तबन्धनम्।। –(कूर्म पु०)
पर्वमस्तके पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। इस श्लोक में शरीर के आभ्यान्तर विषय वर्णित हैं।
सम्भवतः यहाँ पर "पर्वणि या पर्वसु पाठ शुद्ध होगा।

२– द्रष्टव्य –योग सार संग्रह।

३– 'तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्" –यो सू० ३–२

४– यो० सू० ३/२

५– एकतानतैकाग्रता –त० वै० पृ० २७६

६– एकतानता तैलधारावदेकतानप्रवाहः। –भा०, २८३

ध्यान का लक्षण देते हुए लिखा है कि तैलधारा की तरह जो वृत्ति का अनवच्छिन्न प्रवाह है। उसे ध्यान कहते हैं।[1] भाष्यकार ने भी वृत्यन्तर से अबाधित सदृशप्रवाह को ही ध्यान कहा है।[2]

ध्यान के काल को द्वादश–धारणा पर्यन्त मानते हैं और अपने मत की पुष्टि के लिए गरुड़ पुराण से श्लोक भी उद्धृत करते हैं।[3] योग–सारसंग्रह में भी इन्होंने ईश्वर गीता से श्लोक उद्धृत कर अपने इसी मत को पुष्ट किया हैं।[4] धारणा एवं ध्यान में एक अन्य अन्तर यह है कि ध्यान में वृत्ति मात्र के द्वारा सारा देश विशेष में चित्त को केन्द्रित ही किया जाता हैं जबकि ध्यान में उस स्थल पर ध्येय रूप चतुर्भुजादि का चिन्तन किया जाता है।[5] धारणा से ध्यान का वैशिष्ट्य दिखाने के लिए भाष्यकार ने धारणा का लक्षण करते हुए वृत्तिमात्रेण इस पद का प्रयोग किया है, ऐसा विज्ञान भिक्षु का मत है।[6] जिस प्रकार ध्यानावस्था में चित्त की पूर्ण एकाग्रता धारणा पर विजय प्राप्त किए बिना असम्भव बतायी गयी है। उसी प्रकार अन्तिम योगाङ्.ग समाधि के लिए ध्यान पर विजय प्राप्त करना भी साधक के लिए अनिवार्य है।

समाधि

समाधि वही ध्यान जब स्व–स्वरूपशून्यवत् होकर ध्येय के स्व–स्वरूपशून्यवत् होकर ध्येय के स्वरूप मात्र का प्रकाशक बनता है तब समाधि कहलाता है।[3] ध्यानावस्था में ध्याता (चित्त), ध्यान(चित्त वृत्ति) तथा (ध्येय चित्तवृत्ति का विषय), इन तीनों का आभास होता है। अभ्यास की दृढ़ता से ध्येय के स्वभावावेश–वश ध्यान का आकार लुप्त हो जाता है, केवल ध्येय के स्वरूप का

१– तैलधारावदच्छिन्नवृत्या तदध्यानमिष्यते। –स० वे० सा० सं०, पृ० ८१५

२– सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरापरामृष्टो ध्यानम्। –व्या० या० पृ०–२१६

३– तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणाः। –यो० वा०, पृ० २८० पर उद्धृत

४– स काल ईश्वरगीतायामवधृतः–
धारणा द्वादशयामा ध्यानं द्वादश धारणाः।
ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते।। –यो० सा० सं०,पृष्ठ ४५

५– यथा हृत्पुण्डरीकादौ चतुर्भुजादिचिन्तनम् बुद्धिवृत्तौवा, तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम् , कारणोपाधौचेश्वरचिन्तनमिति। –यो० सा० सं० पृ० ४४

६– ''वृत्तिमात्रेण न तु ध्येयकल्पनयेत्यर्थः तेन ध्यानादिव्यावृत्तिः।'' –यो० वा० पृ० सं० २७६

७– ''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'' –यो० सू० ३–३

भान होता है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इस अवस्था में ध्यान की सत्ता ही नहीं होती क्योंकि ध्येय का प्रकाशक तो ध्यान ही होता है। ध्यान का अस्तित्व सर्वथा अस्वीकार कर देने पर ध्येय का निर्भासक कौन होगा? वस्तुतः समाधि, ध्यान एवं ध्येय की तन्मयावस्था है। जिस प्रकार जल में प्रक्षिप्त लवण (नमक) वर्तमान रहने पर भी जल–स्वरूप ही प्रतिभासित होता है, उसी भाँति समाधि काल मे ध्यान विद्यमान रहने पर भी अपने स्वरुप को त्याग कर ध्येय से अभिन्न रूप मे भासता है। वस्तुतः ध्यान का अभाव नही हो जाता है फिर भी उसके स्वरूप के अभाव जैसी प्रतीति होती है, इसी भाव को सूत्रकार ने "इव" पद से अभिव्यंजित किया है अर्थात् स्वरूप शून्य के समान प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में स्वरूप शून्य नहीं होता है। ध्यान की ही चरम उत्कृष्ट सीमा समाधि है। यह चितस्थिति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इन्द्रियों से अत्युत्कृष्ट विषय–सम्पर्क होने पर मग्न भी हो सकता है, किन्तु समाधि इस तरह नहीं टूटती है। उक्त अवस्था में जब द्वादश ध्यान–पर्यन्त स्थिर रहने लगे, तब वही समाधि के नाम से पुकारी जाती है। "ध्यानद्वादशकं यावत् समाधिरभिधीयते"।[1] यथा–

"धारणापञ्चनाडीका ध्यानंस्यात्षष्टिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते।।"[2]

अर्थात् पाँच नाडिका (घटिका या घड़ी) पर्यन्त एकाग्र चित्तस्थिति धारणा, साठ घड़ी–पर्यन्त स्थिर वृत्ति ध्यान और बारह दिन तक एकाग्र चित्तस्थिति धारणा, साठ घड़ी पर्यन्त स्थिर वृत्ति ध्यान और बारह दिन तक एकाग्रचित्त स्थिति समाधि कही जाती है। इस विषय में स्वामी ब्रह्मलीन मुनि ने लिखा है कि वास्तव में ढाई घड़ी तक एकाग्र चित्त स्थिति भी समाधि ही है, अन्यथा उतने ही समय में होने वाला अनुभव सिद्ध समाधि सुख अनुत्पन्न हो जायेगा। कारण उस समय में समाधि के बिना समाधि सुख मिलना ही असम्भव है, पर वह होता है।[3]

१– द्रष्टव्य––योo साo संग्रह
२– स्कन्द पुराण (काशी खण्ड ४१)
३– योo भाo विवo (पृo ५०६)

तृतीय अध्याय

चित्तवृत्तियाँ और पातञ्जल योग दर्शन

चित्त का स्वरूप ज्ञान वृत्तियों के निरोध रूपी फल प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वाचस्पति मिश्र चित्त का तात्पर्य अन्तःकरण से लगाते है; जिसे बुद्धि का उपलक्षक कहा गया है।[1] विज्ञान भिक्षु अन्तःकरण सामान्य को ही चित्त कहते हैं। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने इसे बुद्धि के उपलक्षक के रूप में नहीं माना है। इनका मानना है कि वस्तुतः मन तो एक ही है, परन्तु वृत्ति भेद से भिन्न–भिन्न दिखाई देने पर उसके चार ही भेद स्वीकार किये जाते हैं।[2] चार भेदों से तात्पर्य मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से है, जिन्हें योगदर्शन में चित्त के रूप में स्वीकार किया गया है। जबकि पञ्चशिखाचार्य के अनुसार 'एक ही दर्शन है, ख्याति (वृत्ति) ही दर्शन है।'[3] कहने का तात्पर्य है कि पुरुष वैसा ही देखता है जैसा उसकी वृत्ति होती है। वृत्ति का एक अर्थ स्वभाव या व्यावहार भी हो सकता है। इसलिए सुख–दुःख, मोहरूप सत्त्व गुण वाली, रजोगुणी अथवा तमोगुणी जैसी चित्त की वृत्तियाँ होती है, वैसा ही व्यावहार दशा में पुरुष का स्वरूप जाना जाता है। अर्थात् यह सुखी है या दुःखी है, ऐसा लोग समझते हैं। जब चित्त एकाग्रता में परिणत हो जाता है, तब चित्त शक्ति भी उस रूप में प्रतिष्ठित होती है। जब चित्त इन्द्रिय वृत्तियों के साथ विषयाकार से परिणत होता है, तब पुरुष भी उस वृत्ति के रूपाकार ही जान पड़ता है।

बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि 'स समानः सन् ध्यायतीव लेलायतीव' वह आत्मा या चित्त बुद्धि के समान होकर अर्थात् बुद्धि के साथ तादात्म्याध्यास को प्राप्त होकर मानो ध्यान करता है, मानो चलता है या मलिन दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख में मलिनता का आरोप करके अविवेकी लोग 'मेरा मुख मलिन है', इस प्रकार शोक करता है, वैसे ही पुरुष भी चित्त के

१– चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति। –त० वै०, पृ० ०३

२– चित्तमन्तःकरणसामान्यमेकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिभेदमात्रेण
चातुर्धाऽत्र दर्शने विभागात्। –यो० वा०, पृ० १२

३– एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।

उपाधि धर्मों का अपने में आरोपण करके "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, आदि इस प्रकार भ्रमजाल में फॅसकर शोकग्रस्त हो जाता है, यह वृत्ति सारूप्य पद का अर्थ है। पुरुष में भोक्तृत्व शक्ति और दृष्टत्व शक्ति है और चित्त में दृष्यत्व–शक्ति और भोग्यत्व शक्ति है। यही इन दोनों की परस्पर योग्यता है। इस योग्यता–लक्षण–सन्निधि से ही चित्त सुख–दुःख, मोहाकार रूप परिणाम से भोग्य और दृश्य हुआ 'स्व' कहा जाता है और पुरुष भोक्ता तथा द्रष्टा हुआ स्वामी कहा जाता है। जैसे जलाशय में (नदी या तालाब) जब नाना प्रकार की तरंगे उछलती रहती हैं, तब गगनस्थ चन्द्र मण्डल का प्रतिबिम्ब दिखता है और जब तरंगे उठना बन्द हो जाती हैं; तब स्वच्छ रूप से प्रकाशमान होकर चन्द्र प्रतिबिम्बत विषयाकार होने से चंचल रहती हैं तब चेतन भी चन्द्रमण्डल की तरह चित्त में प्रतिबिम्बित हुआ उसी तरह निज रूप में नहीं दीखता। जब चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, तब चन्द्र मण्डल के सदृश चेतन निज स्थिर रूप में स्थित हो जाता है। यह तीसरे और चौथे सूत्र का फलितार्थ है।

योग के अनुसार चित्त की वृत्तियॉ पॉच प्रकार की मानी गयी हैं जिनमें से कुछ वृत्तियों को क्लिष्ट के अन्तर्गत रखा गया है और कुछ को अक्लिष्ट के अन्तर्गत रखा गया है।[१] यद्यपि संसार में असंख्य पदार्थ हैं, किन्तु उन सब को योग में पाँच वृत्तियों के रूप में ही स्वीकार किया गया है। इनमें से राग द्वेषादि क्लेशों को, हेतुभूत वृत्तियों को क्लिष्ट और रागद्वेषादि क्लेशों को नष्ट करने वाली वृत्तियों को अक्लिष्ट कहते हैं। ज्ञान के द्वारा अविद्या, अस्मितादि विषयिणी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इनसे रज, तम आदि गुणों का अधिकार नष्ट हो जाता है। ये ही ज्ञान विषयक वृत्तियाँ गुणाधिकार–विरोधिनी अक्लिष्टा वृत्तियाँ कहलाती हैं।[२] इन क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों के पाँच प्रकार बतलाए गये हैं, जो इस प्रकार हैं– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।[३] इन पाँचों

१– "वृत्यः पञ्चतथ्यः क्लिष्टाक्लिष्टा,"। (यो०सू०–१/५)

२– " ख्यातिविषया गुणाधिकाविरोधन्यो" (व्यासभाष्य–१/५)

३– प्रमाण विपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः (यो० सू० १/६)

प्रकार में से पहला प्रकार है–प्रमाण। इस प्रमाण के फिर तीन उपभेद किये गये हैं, जो प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम कहे जाते हैं।[1]

प्रमाण से तात्पर्य किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को स्थापित करने वाली वृत्ति से है। जिस वृत्ति के द्वारा यह यथार्थ बोध (प्रमा) उत्पन्न हो, वही प्रमाण कहलाता है। उसे दूसरे शब्दों में प्रमा का करण भी कहा जा सकता है। नेत्रादि इन्द्रियों के विषय–सन्निकर्ष के द्वारा–उदित होने वाली चित्त–वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है। लिङ्.ग ज्ञान या लक्षण से उत्पन्न होने वाली चित्त वृत्ति अनुमान प्रमाण कहलाती है और आप्त वाक्यों के सुनने से वाक्यार्थ के विषय उत्पन्न होने वाली चित्त वृत्ति आगम प्रमाण या शब्द प्रमाण के नाम से जानी जाती है।

ज्ञेय पदार्थों से भिन्न मिथ्यारूप से प्रतिष्ठित होने पर चित्त की वृत्ति विपर्यय कहलाती है।[2] अर्थात् यह पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं कराती, यह प्रमाण के द्वारा बाधित हो जाती है और नेत्रों के दोष के कारण एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा दिखाई देना विपर्यय वृत्ति है। क्योंकि यह एक चन्द्र विषयक यथार्थ ज्ञान के द्वारा बाधित हो जाती है।[3] वाचस्पतिमिश्र एवं विज्ञान भिक्षु दोनों ने संशय को भी विपर्यय वृत्ति के अन्तर्गत माना है।[4] वास्तविकता से रहित केवल शब्द ज्ञान पर ही आश्रित वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहा जाता है।[5] जैसे 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। ऐसा जानकर किसी भी चेतन पुरुष में विशेषण–विशेष्य भाव अवश्य होता है, जबकि निर्वस्तुक होने के कारण प्रमाण रूप न होकर विकल्प रूप ही है। क्योंकि चैतन्य मात्र ही पुरूष होने के कारण यहाँ

१– प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। –(यो० सू० १/७)

२– विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। –यो० सू० १/८

३– तत्र प्रमाणेन बाधनप्रमाणस्य दृष्टम्। तद्यथा–द्विचन्द्रदर्शनम सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति।
 –व्या० भा०–पृ० ३५

४– (क) अतः संशयोऽपि संगृहीतः। –त०वै०–पृ०३५
 (ख) संशयस्याप्यत्रैवान्तर्भावः। –यो० वा० पृ० ६५

५– शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। –यो०सू० १/६

उस अभेद में विशेषण–विशेष्य रूप की कल्पना की गयी है।[1]

शब्द ज्ञान पर आधारित होने से इसका आगम प्रमाण में अन्तर्भाव किया जा सकता है। इस शंका के समाधान के लिए व्यास देव ने इसके प्रमाण में अन्तर्निहित किये जाने का निषेध किया है, क्योंकि यह वस्तु शून्य है।[2] वस्तुशून्य होने के कारण इसका विपर्यय में अन्तर्भाव किया जा सकता था। इस शङ्.का के निवारण के लिये व्यास जी ने लिखा है कि शब्द ज्ञान के आधार पर इस वृत्ति के पश्चात् ही व्यावहार देखा जाता है। इसलिए इसका विपर्यय में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।[3] विपर्यय के द्वारा जो व्यावहार होता है, वह व्यावहार केवल क्षणभर के लिए ही होता है। क्योंकि बाद में होने वाले पदार्थ का यथार्थ बोध के द्वारा अयथार्थ ज्ञान का बोध हो जाने पर व्यावहार नहीं किया जा सकता है, जबकि विकल्प वृत्ति के द्वारा हुए बोध का बाध नहीं होता।[4] निद्रा 'वृत्ति' ही है, इसको सूचित करने के लिए सूत्र में वृत्ति शब्द का ग्रहण किया गया है।[5] किन्तु योग के आचार्य आत्मस्थिति से अतिरिक्त चित्त की प्रत्येक अवस्था को वृत्ति ही मानते हैं। 'अभाव' शब्द से जाग्रत और स्वप्नावस्था की वृत्तियों का अभाव या जाग्रत और स्वप्न की वृत्तियों के अभाव का कारण तमो गुण कों मानना चाहिए। रजोगुण का धर्म, क्रिया और प्रवृत्ति को माना गया है। जाग्रत अवस्था में चित्त रजोगुण से युक्त रहता है। अतः वह सत्त्वगुण को गौण रूप से अपना सहकारी बनाकर अस्थिर रूप से क्रिया में अर्थात् विषयों में प्रवृत्त करने में लगा रहता है। तमोगुण

१– वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा–चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति।
–व्या० भा० पृ० ३८

२– स न प्रमाणोपारोही–व्या० भा० पृ० ३८

३– न विपर्ययोपारोही च। वस्तु शून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते।
–व्या० भा० पृ० ३८

४– तथा च यथाऽर्थशब्देन यथाऽर्थज्ञानेन च यादृशो व्यवहारो भवति शब्दज्ञानरूपस्तादृश एव व्यवहारो विकल्पादपि दृश्यते विवेकिनामपीत्यर्थः विपर्ययस्तु नैवम, बाधोत्तरमिदं रजतमिति शब्द प्रत्यययोरभावादिति।
–यो० वा० पृ०३६

५–"अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।"–यो०सू०–१/१०

का धर्म स्थिति दबाना रोकना अर्थात् प्रकाश और क्रिया को रोकना है। सुषुप्ति अवस्था में तमोगुण रजस् और सत्त्व को प्रधान रूप से दबा देता है। इसलिए चित्त में तमोगुण का ही परिणाम प्रधान रूप से होता रहता है। उस समय चित्त में अभाव की ही प्रतीति होती है। जिस प्रकार एक अंधेरे कमरे में सब वस्तुएँ छिप जाती हैं, किन्तु सब वस्तुओं को छिपाने वाला अन्धकार दिखलायी देता है, जो वस्तुओं के अभाव की प्रतीति कराता है, इसी प्रकार तमोगुण सुषुप्ति अवस्था में चित्त की सब वृत्तियों को दबाकर स्वयं स्थिर रूप से प्रधान रहता है। किन्तु रजोगुण का नितान्त अभाव नहीं होता है, तनिक मात्रा में रहता हुआ वह इस अभाव की भी प्रतीति कराता रहता है। चित्त के ऐसे परिणाम को निद्रा–वृत्ति कहते हैं।

सूत्रकार ने अनुभूत विषय के असम्प्रमोष को स्मृति कहा है।[1] सम्प्रमोष शब्द सम् एवं प्र उपसर्ग से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है 'चोरी करना'। सम्प्रमोष शब्द में नन् प्रत्यय लगने पर बने ''असम्प्रमोष' पद का अर्थ है 'तस्करता का अभाव' या चोरी न करना। जिस प्रकार पिता की सम्पत्ति को ग्रहण करना ही अस्तेय कहा गया है। उससे ज्यादा किसी दूसरे की सम्पत्ति ग्रहण करना चोरी बतलाया गया है। उसी तरह स्मृति का भी स्वजनक अनुभव के विषय से अधिक किसी दूसरे के विषय रूपसम्पत्ति को ग्रहण (प्रकाश) करना सम्प्रमोष अर्थात् चोरी है। अनुभूत विषय अनुभव द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति की तरह है। अनुभूत विषय से अधिक विषय को स्मृति प्रकाशित नहीं कर सकती है। इसी से अनुभूति विषय का असम्प्रमोष स्मृति है। ऐसा लक्षण सूत्रकार ने बतलाया है। इसलिए स्मृति का विषय अनुभव के बराबर या कम हो सकता है, अधिक नहीं हो सकता। स्मृति दो प्रकार की होती है पहली भावित्स्मर्तव्या और दूसरी अभावितस्मर्तव्या।[2]

१– अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृतिः। यो० सू० १/११

२– सा च द्वयीभावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च। – व्या० भा० पृ० ४३

भावित्स्मर्तव्या स्मृति वह स्मृति है जिसके स्मरणीय विषय कल्पित हों[1] ऐसा वाचस्पति मिश्र ने कहा है। भावित्स्मर्तव्या स्मृति वृत्ति स्वप्नकालिक होती है[2] ऐसा व्यासदेव ने कहा है। विज्ञान भिक्षु ने बतलाया है कि जिरा स्मृति के द्वारा भविष्य में होने वाले अर्थ की सूचना मिले उसे भावित्स्मर्तव्या कहते हैं। अपने मत की पुष्टि में तर्क देते हैं कि स्वप्नदर्शन के द्वारा ही शास्त्रों में भविष्य विषयक सूचना कही गयी है, जाग्रत् कालीन स्मृति के आधार पर नहीं हैं।[3] अभावितस्मर्तव्या को वाचस्पति मिश्र यथार्थ विषय विषयक मानते हैं। और विज्ञान भिक्षु ने भावितस्मर्तव्या से अलग अर्थात् भविष्य की सूचना न देने वाली कहा है।[4] ?

इस प्रकार प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति ये पॉच प्रकार की चित्त की वृत्तियॉ हैं, जिनका योगोपदिष्ट साधनों के द्वारा निरोध करते हुए साधक क्रमशः चित्त की उत्तरोत्तर भूमियों पर बढ़ता हुआ इनका पूर्ण निरोध कर चित्त की निरुद्धावस्था को प्राप्त होकर, कैवल्य लाभ की ओर अग्रसर हो जाता है।

योग के उपाय

योग के लिए चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय निम्नवत् है। भगवान् व्यासदेव के अनुसार चित्त एक नदी है, जिसमें हमारी वृत्तियों का प्रवाह निरन्तर होता रहता है। इन वृत्तियों के प्रवाहित होने के लिए दो रास्ते हैं। पहला रास्ता संसार रूपी सागर की ओर बहता है और दूसरा रास्ता कल्याण रूपी सागर की ओर बहता है। जिन लोगों ने पूर्व जन्म में सांसारिक विषयों के योग के लिए कार्य किये हैं उन लोगों की वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग में बहती

१– भावितः कल्पितः स्मर्तव्यो ययासा तथोक्ता। – त० वै०, पृ०–४४

२– स्वप्ने भावितस्मर्तव्या। व्या० भा० पृ०–४३

३– भावितः उद्भावितः सूचितः स्मर्तव्यार्थो ययेति भावितस्मर्तव्या।
स्वप्नदर्शनमेव हि भाव्यर्थसूचकतया शास्त्रे सिद्ध न तु जाग्रत् कालीना स्मृतिरिति। – यो० वा०, पृ०–४६,

४– तदभिन्ना चाभावितस्मर्तव्या। – यो० वा०, पृ०–४६

हुई संसार सागर में जा मिलती है। जिसने पूर्व जन्म में कैवल्य के लिए काम किये हैं उनकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग में बहती हुयी कल्याण रूपी सागर में जाकर मिल जाती हैं। संसारी लोगों की प्रायः पहली धारा तो जन्म से ही खुली होती है, किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरू, आचार्य और ईश्वर चिन्तन खोलते हैं। पहली धारा को बन्द करने के लिए विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बन्ध लगाया जाता है और अभ्यास के बल से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक स्रोत में डाल दिया जाता है। तब प्रबल वेग से वह सम्पूर्ण प्रवाह कल्याण रूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। इस कारण अभ्यास और वैराग्य दोनों ही इकट्ठे मिलकर चित्त की वृत्तियों के निरोध के उपाय बनते हैं। सूत्र– २/२८ में जो योग के आठ साधन बताये गये हैं, इनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार जो पॉच बहिरंग साधन हैं, उनकी सिद्धि के लिए अभ्यास अधिक सहायक बनता है और तीन आन्तरिक साधन धारणा, ध्यान और समाधि में वैराग्य सहायक माना गया है। गीता का उपदेश देते समय भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को, मन को रोकने के लिए, अभ्यास, वैराग्य दोनों ही समुच्चय रूप से साधन बतलाए हैं।[1]

अभ्यास :

चित्त के वृत्तिरहित होकर शान्त प्रवाह में बहने को स्थिति कहते हैं। उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए वीर्य (पूर्ण सामर्थ्य) और उत्साह पूर्वक यत्न करना ही अभ्यास कहलाता है।[2] यम, नियम, आसन आदि योग के आठ अड्.गों का बार–बार अनुष्ठान रूप प्रयत्न अभ्यास का स्वरूप है और चित्त वृत्तियों का निरोध होना ही अभ्यास का प्रयोजन है। पढ़ना, पढ़ाना, लिखना, पाक, क्रय, विक्रय, सीवन, नाच–गाना आदि सभी कार्य अभ्यास के द्वारा ही पूरे किये जा सकते हैं।

१– (क) असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। – गीता–६/३५
(ख) असंयतात्माना योगो दुष्प्राप इति में मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। – गीता–६/३६
२– तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। यो० सू० १/१३

अभ्यास के ही बल पर रस्सी पर चढ़े हुए नट और सरकस आदि में मनुष्य किन्तु सिंह, अश्व आदि पशु अपनी प्रकृति के विपरीत आश्चर्यजनक कार्य करते हुए देखें जाते हैं। अभ्यास के प्रभाव से अत्यन्त कठिन कार्य भी सम्पन्न हो जाते हैं अतएव जब मुमुक्षु चित्त की स्थिरता के लिए अभ्यासनिष्ठ होगा तब वह स्थिरता भी उसको अवश्य प्राप्त होकर चित्त वशीभूत हो जाएगा, क्योंकि अभ्यास के आगे कोई भी कार्य कठिन नहीं होता है। वह पहले किया गया अभ्यास अधिक समय के बाद लगातार व्यवधान रहित ठीक–ठीक श्रद्धा, वीर्य, भक्ति पूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है।[१]

अभ्यास जब दृढ़ हो जाता है, तब समाधि बहुत जल्दी भंग नहीं होती है, बल्कि अधिक समय तक बनी रहती है। इस प्रकार समाधि को अगले क्रम में बढ़ने में बाधा नहीं उत्पन्न होती है, क्योकि फिर साधक द्वारा बाद में अपनी इच्छानुसार या निश्चयानुसार समाधि लगायी और तोड़ी जाती है। उससे लोक व्यवहार की मर्यादा भी चली जाती है और समाधि भी हो जाती है। इसलिए भाष्यकार ने "द्रागित्येव" पद का प्रयोग किया है। 'अभ्यास कृत्वोपरमे च कालक्रमादभिभवो भवत्येवेति प्रतिपादयितुं द्रागित्येवेत्युक्तम्।[२]

वैराग्य

संसार में दिखायी देते हुए और वेद विहित विषयों में तृष्णारहित मुमुक्षु के चित्त में वशीकार प्रज्ञा का उदय होता है। इसी को वैराग्य कहते हैं।[३] विषय लौकिक एवं अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। जड़ चेतनात्मक स्रक, चन्दन, वनिता, अन्नपान एवं ऐश्वर्यादि प्रत्यक्ष लौकिक विषय हैं। दूसरे होते हैं पारलौकिक विषय, जो पुनः शरीरान्तर वैद्य तथा अवस्थान्तर वेद्य के भेद से दो प्रकार के हैं। देवलोक, अप्सराएँ, स्वर्ग, वैदेह्य (विदेहावस्था का आनन्द) प्रकृतिलय आदि

१– स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेक्तिो दृढ़भूमिः। – यो० सू० १/१४

२– यो० वा० पृ०–४६

३– दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्। – यो० सू० –१/१५

शरीरान्तर वेद्य विषय हैं। दिव्यरस गन्ध और विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियॉ अवस्थान्तर वेद्य विषय हैं। इसलिए गुण–दोष का विचार करने पर, इन सब ऐहिक और आमुष्मिक विषयों के उपस्थित होने पर भी उनके नीरस, नश्वर एवं दुःखरूप प्रतीत होने से, इन सबके प्रति दोष, दृष्टि युक्त साधक के चित्त में जो उपेक्षाभाव, त्याग और प्राप्तिशून्य स्थिर प्रज्ञा उदित होती है, वही वशीकार संज्ञक वैराग्य है।

महाकवि कालिदास विरचित महाकाव्य 'कुमार–संभवम्' में विकास का कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता, वे ही धीर हैं।[१] इस प्रकार चित्त एक रस बना रहा है। चित्त की ऐसी अवस्था का नाम वशीकार संज्ञा वैराग्य है। इसी को अपर वैराग्य कहते हैं। किसी भी विषय को केवल त्यागना ही वैराग्य नहीं है, क्योंकि रागादि के कारण भी रुचि हो जाती है, जिसके कारण उसको त्यागना पडता है। किसी विषय के अप्राप्त होने पर भी उसका भोग नहीं किया जा सकता है।[२] दिखावे के लिए और भय, लोभ, मोह के वशीभूत होकर अथवा दूसरों के आग्रह से भी किसी विषय को त्यागा जा सकता है, परन्तु उसकी तृष्णा सूक्ष्म रूप से मन में बनी रहती है। विवेक अर्थात् ज्ञान के द्वारा विषयों के अनन्त दुःख रूप और बन्धन का कारण समझकर उनमें पूर्णतया अरुचिकर हो जाना और उसमें सर्वथा संगदोष से निवृत्त हो जाना ही वैराग्य कहा जा सकता है। विषयों की कामना विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती है, किन्तु हवि डालने से अग्नि की ज्वाला के समान और अधिक बढ़ती है। श्री भर्तृहरि जी ने बताया है कि भोग–भोगे नहीं गये (भोगों को हमने नहीं भोगा) किन्तु हम ही भोगे गये, तप नहीं तपे हम

१– विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।
पातञ्जल योग–प्रदीप, गीता प्रेस, पृ०सं० १७०

२– न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।
पातञ्जल योग प्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,
–पृ०सं० १७१

ही तप गये, समय नहीं बीता; किन्तु हम ही बीत गये, तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, किन्तु हम ही जीर्ण हो गये है।[1]

वैराग्य को दो भोगों में विभाजित किया गया है। पहला, पर वैराग्य और दूसरा, अपर वैराग्य। अपर वैराग्य को पर वैराग्य का कारण बताया गया है। अपर वैराग्य के यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार चार भेद किये गये हैं। विवेक ख्याति की पूर्ण निष्ठा प्राप्त होने पर सत्त्वगुण के कार्यरूप विवेक ख्याति में भी तृष्णा का अभाव हो जाना या जहॉ तक गुणों का अधिकार है, उन सब विषयों में तृष्णा शून्य हो जाना 'पर' वैराग्य है।[2] दिव्य और अदिव्य विषयों मे तृष्णा का अभाव हो जाना अपर वैराग्य है। अपर वैराग्य से योगी ऐहिक एवं पारलौकिक विषयों की दुःखरूपता समझकर जब उनसे अलग हो जाता है तब उसके चित्त में एकाग्रता आकर उसमें सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। वाचस्पति मिश्र ने अपना मत दिया है कि इस अन्तिम अवस्था के सिद्ध होने पर निश्चित ही यह अनुमान है कि उसमें पूर्व की अवस्थाएं तो सिद्ध होगी। अतएव सूत्रकार एवं भाष्यकार ने उनका पृथक से उल्लेख नहीं किया है।[3] वाचस्पति मिश्र के मत में आगम, अनुमान और आचार्यों के उपदेश के निरन्तर अभ्यास के द्वारा जब साधक को यह भलीभांति ज्ञात हो जाता है कि पुरुष शुद्ध, अनन्त एवं, भिन्न है तथा गुण उससे सर्वथा है तथा गुण उससे सर्वथा विपरीत है तो वह धीरे–धीरे गुणों से पूर्णरूप से विरक्त होता है। गुणों के व्यक्त और अव्यक्त किसी भी प्रकार के कार्य के प्रति उसका कोई लगाव अवशिष्ट नहीं रह जाता है, क्योंकि सत्व पुरुषान्यथाख्याति भी सत्त्व गुणात्मक है इसलिए उससे भी वह विरक्त हो जाता है।[4]

१– भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वपमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

२– ''तत्पर पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्णयम'' – यो० सू० १/१६

३– एतयैव च पूर्वासां चरितार्थत्वान्न ताः पृथगुक्ता इति सर्वमवदातम्। – त० वै० पृ०–५०

४– स तथाभूतो योगी गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यः सर्वथा विरक्तः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावपि गुणात्मिकायां यावद्विरक्त इति। – त० वै० पृ० ५२

विवेक ज्ञान के बार–बार अभ्यास करने से चित्त में और भी अधिक उत्तरोत्तर निर्मलता एवं आत्मशुद्धि की प्रतीति होती है। इस स्थिति में विवेक ख्याति के भी एक सात्त्विक वृत्ति एवं गुणों का परिणाम होने से, उससे भी विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार जब गुणों के प्रति भी हमारी आसक्ति नहीं रहती है तब चित्त में पर वैराग्य का उदय होता है इसी को गुण वैतृष्ण्य भी कहते हैं। यही वैराग्य की शक्ति का उच्चतम विकास है। भगवान व्यास के अनुसार यह ज्ञान प्रसाद मात्र है,[१] क्योंकि इस स्थिति में रज एवं तम क्षीणतम अवस्था में रहते हैं। इसकी प्राप्ति से योगी धर्ममेध समाधिनिष्ठ होकर अपने मन में समझता है कि प्राप्त करने योग्य 'कैवल्य' मैंने प्राप्त कर लिया है, क्षय करने योग्य क्लेश नष्ट हो गये हैं, संसार के आवागमन का चक्र छिन्न–भिन्न हो गया है, जिसके कारण बारम्बार जन्म का त्रास भोगना पड़ता है, इस प्रकार ज्ञान की पराकाष्ठा वैराग्य है।[२] अतएव सिद्ध होता है कि वैराग्य ज्ञान–विशेष है। सूत्रकार ने गुण–वैतृष्ण्य को पर वैराग्य कहा है। इसलिए भाष्यकार की इस उक्ति से उनका विरोध दिखायी देता है, किन्तु इसका भी समाधान भाष्यकार ने कर दिया है। वास्तव में कैवल्य अविनाभावी फल है। तात्पर्य यह है कि गुण वैतृष्ण्य रूप पर वैराग्य ही परिपक्वावस्था में विवेक ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए भाष्य और सूत्र में विरोध नहीं दिखायी देता है।

समाधि के भेद–प्रभेद

चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है, किन्तु जिन चित्त वृत्तियों के निरोध या समाधि से कैवल्य की प्राप्ति न हो सके, अर्थात् जीवात्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित न हो सके वह समाधि मात्र है, योग नहीं। ऐसी समाधियों (चित्त वृत्ति निरोध) जो योग कहे जाने की योग्यता रखती हैं सूत्रकार और भाष्यकार के अनुसार दो प्रकार की होती है। पहली सम्प्रज्ञात समाधि और दूसरी तामस वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है, केवल सात्त्विक वृत्ति, पूर्ण रूपेण उदित रहती है। फलतः साधक को समग्र वस्तुओं का वास्तविक, निर्भ्रान्त एवं युग पद् ज्ञान होता है। इसलिए

१– तत्र यदुत्वरं तज्ज्ञानप्रसाद मात्रम् – व्या० भा० पृ०५१

२– "ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति' (व्यास भाष्य सू० १/१६)

इस समाधि को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।[1] सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने के लिए जिन चार सोपानों से होकर गुजरना पडता है। वे इस प्रकार हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि।[2] वाचस्पति मिश्र ने इसका स्पष्टीकरण शिकारी द्वारा लक्ष्य भेदन में अपनाए जाने वाले क्रम का उदाहरण देते हुए कहा हैं—जिस प्रकार कोई शिकारी पहले स्थूल लक्ष्य को बेधता है, फिर सूक्ष्म एवं अन्त में सूक्ष्मतम् ठीक उसी प्रकार योगी भी समाधि के लिए पहले स्थूल पदार्थ को आलम्बन बनाता है फिर सूक्ष्म और क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर बढ़ता जाता है।[3] सम्प्रज्ञात योग अथवा समाधि के चारों भेद अथवा अवस्थाएँ ही योगसूत्र एवं भाष्य के टीकाकारों ने स्वीकार की है।[4] उनका मतभेद समापत्ति की संख्या को लेकर है न कि सम्प्रज्ञात समाधि के विषय में। समापत्ति एवं समाधि में भेद न कर पाने के कारण ही अनेक आलोचकों ने सम्प्रज्ञात योग भेदों की संख्या के विषय में मतभेद प्रदर्शित किया है और उसके छः और आठ भेद गिनाये है।[5]

१– (क) सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिनिरोधविशेषरूपे योग इति संप्रज्ञातो योगः। – यो० वा० पृ०७
(ख) सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य स्वरूपं येन सः सम्प्रज्ञातः। – भो०वृ०,पृ०४०
(ग) सम्यक्प्रज्ञावत्त्वेन संप्रज्ञातनामा योगः। – भा०ग०वृ०पृ० २१
(घ) ना० भ० वृ० पृ० २१
(ड़) यो० सू०, पृ० २३
(च) चन्द्रिका, पृ० २३

२– वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः। – यो० सू० १/१७

३– त० वै०, पृ० ५४

४– (क) वितर्कादिचतुष्टयं व्याचष्टे । यो० वा०, पृ० ५५
(ख) तत्रैककस्यास्त्याग उत्तरोत्तरेतिचतुरस्योऽयं संप्रज्ञातः समाधिः। – भो० वृ०, पृ० ४१
(ग) सम्प्रज्ञातनामा योगो भवति चतुर्विध इत्यर्थः। – भा० ग० वृ०, पृ० २१

५– (क) Of these vitarka and vicāra each have two varieties, savitarka, nirvitarka, savicāra nirvicāra -Dasgupta, S.N. A History of Indian philosophy- Vol, 1.P. 271
(ख) There are two intermediate stages through which such an intensely sensitive state of mind, called samapātti or Samādhi may be achieved
-Joshi K.S. Yoga and Personality P.114

चित्त में स्थूल विषय का आभोग वितर्क कहलाता है।[1] वितर्कानुगत समाधि स्थूल महाभूत या पञ्च भौतिक चतुर्भुजादि भगवत्प्रतिमा आदि रूप ग्राह्य विषयक समाधि है। आभोग का अर्थ है– एक वस्तु का दूसरी वस्तु में आरोप करने पर देश सम्बन्धी एकता चित्त का विषय–सानिध्य काल में तद्रूप होकर साक्षात्कार करना आभोग है। (वस्तुस्वरूपसाक्षात्कारिणी प्रज्ञा आभोगः)। वितर्कानुगत समाधि के ही प्रकृतिगत भेद सवितर्का एवं निर्वितर्का समापत्तियाँ हैं। इनमें शब्द, अर्थ एवं ज्ञान से संकीर्ण समापत्ति सवितर्का कहलाती है।[2] इसी की प्रकृष्ट भूमिका में शब्दार्थ ज्ञान–शून्य अर्थ (ध्येय) मात्र को प्रकाशित करने वाली निर्वितर्का समापत्ति कहलाती है।[3]

जब स्थूल विषयक समाधि अधिकृत हो जाती है, तब उसके अनुभवके साथ विचार विशेष से अग्रिम भूमिका में सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान होता है। सूक्ष्म आलम्बन में चित्त का आभोग विचार का हेतु है।[4] वितर्कानुगत द्वारा जब चित्त वस्तु के स्थूल आकार का साक्षात् कर लेता है तब उसकी दृष्टि आगे बढ़ती है। जिस भावना के द्वारा ग्राह्य रूप स्थूल भूतों के कारण पाँचों सूक्ष्मभूतों का पाँचों तन्मात्राओं तक और शक्ति मात्र इन्द्रियों का यथार्थ रूप संशय, विपर्ययरहित सारे विषयों का साक्षात् किया जाय। वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इसलिए प्रकृतिगत भेद के अनुसार सविचारा और निर्विचारा समापत्ति के दो रूप हुए। सविचारा समापत्ति के अन्तर्गत शब्द, अर्थ और ज्ञान का निरूपण रहता है। समाधि प्रज्ञा की शुद्धि होने पर भी बाद में सूक्ष्म ध्येय के अर्थ मात्र का बोध होता है। उसी को निर्विचारा समापत्ति भी कहते हैं। इन्हें सवितर्का एवं निर्विचार समापत्ति सूक्ष्म विषयों का ज्ञान कराने वाली है।[5] सूक्ष्म विषयों की चरम·सीमा अव्यक्त प्रकृति पर्यन्त है।[6] इसी को अलिंग भी कहा जाता है।

१– "वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः" –(व्या० भा० पृ० ५४)
२– "तत्र शब्दार्थज्ञानाविकल्पैः सकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।" –(यो०सू० १/४२)
३– "स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।" –यो० सू० १/४३
४– व्या० भा० –१/१७
५– "एतयैव सविचारानिर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।" यो० सू० १/४४
६– "सूक्ष्मविषयत्वं चा लिङ्.ग पर्यवसानम्।" –यो० सू० १/४५

वाचस्पति मिश्र स्थूल पञ्चभूतों के कारण रूप में विद्यमान पञ्चतन्मात्राओं महत् एवं प्रकृति को ही यहाँ प्रयुक्त सूक्ष्म पद के द्वारा अभिप्रेत मानते हैं।[1] जबकि विज्ञान भिक्षु इसके अलावा अहंकार को भी इन तत्त्वों के साथ सम्मिलित करते हुए विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग की सीमा का निर्धारण करते हैं।[2] अणिमा सेन, वाचस्पति मिश्र के मत का अनुमोदन करते हुए सात्त्विक अहंकार को विचारानुगत के अन्तर्गत नहीं मानतीं। उनके अनुसार अहं वृत्ति का निरोध तृतीय एवं चतुर्थावस्था में होता है।[3] दास गुप्त ने यद्यपि विचारानुगत के अन्तर्गत पञ्चतन्मात्राओं से लेकर अहङ्.कार, महद् एवं प्रकृति सभी की गणना कर दी है,[4] परन्तु विज्ञान भिक्षु की तरह अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि से अहङ्.कार, को ध्येय मानने के विरोधी नहीं हैं वरन् वाचस्पति की ही तरह वह भी अहङ्.कार, को ही अस्मितानुगत का आधार मानते हैं।[5]

विचारानुगत के लगातार अभ्यास से जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जाय कि शक्तिमात्र इन्द्रियों और तन्मात्राओं के कारण अहं को उसमें धारण करके साक्षात् किया जाय तो उसको आनन्दानुगत समाधि कहते हैं। विचारानुगत समाधि में जिस सूक्ष्म विषय का साक्षात् किया जाता है, यदि योगी वहाँ न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो चित्त की एकाग्रता द्वारा सत्त्व गुण की

१– स्थूलकारणभूतसूक्ष्मपञ्चतन्मात्रलिंगालिंगोविषयो विचारः। – त० वै०, पृ० ५४

२– प्रकृतिमहदहंकार पञ्चतन्मात्ररूपा भूतेन्द्रिययो सूक्ष्मा अर्थाः। – यो० वा०, पृ० ५६

३- Ramoval of ego sense, therfore, needs strenuous spiritual sadhana. This ahainvritti nirodha becomes the special sadhana of the third and the fourth stages of samprajnata-samadhi, which we know nanda-samadhi and asmita samadhi
-sen gupta Anima. savmkhaya and Advaita vedanta. A comparative stude P.103

४- It must be noted here that the suble objects of concentration in this stage are not the tanmātrās alone, but also other subtle substance including the ego, the buddhi and the prakrti. -Das Gupta S.N. Y.P.R, P-152

५- "and when the object of communion is the subtle cause the ego (asmitā), the samādhi is known as asmitāmugata. -Das Gupta S.N.Y.P.R Page-153

अधिकता में अहड्.कार का स्वयं साक्षात् होने लगता है। आनन्द नाम रखने का कारण यह है कि सत्त्व गुण प्रधान अहड्.कार आनन्द रूप है ओर सूक्ष्मता के तारतम्य को साक्षात् करते हुए योगी का चित्तसत्त्व गुण के बढ़ाने से आनन्द से भर जाता है उस समय कोई भी विचार या ग्राह्य विषय उसका विषय नहीं रहता, किन्तु आनन्द ही उसका विषय बन जाता है और मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ ऐसा अनुभव सबको होता है। जो योगी उसी को अन्तिम ध्येय मानकर उसी में सन्तुष्ट हो जाते है और आगे नहीं बढ़ते हैं, उनका देह से तो अभ्यास छूट जाता है, किन्तु स्वरूपावस्थिति नहीं होती है। शरीर त्यागने के बाद वे दीर्घकाल तक कैवल्य पाद जैसे–आनन्द को भोगते रहते हैं। वे विदेह कहलाते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि की चतुर्थावस्था ही अस्मितानुगत समाधि कही गयी है। इसके विषय में जितने भी व्याख्याकार हैं उनके आपस में मतभेद दिखायी देते हैं। व्यासदेव ने इन्हें 'एकात्मिका संविवस्मिता'[1] अर्थात् एकात्मकता का ज्ञान ही अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग है ऐसा कहा है। वाचस्पति मिश्र ग्रहीता पुरुष एवं बुद्धि में एकात्मकता को ही अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग का विषय मानते हैं।[2] किन्तु विज्ञान भिक्षु और उनके मत में 'एकात्मकता' का अर्थ तादात्म्य न होकर 'मात्र एक आत्मा' ही है।[3]

सम्प्रज्ञात योग की इन चारों अवस्थाओं की क्रम से ही उन्नति होती है अर्थात् वितर्कानुगत के बाद ही उससे सूक्ष्म विषय, विषयक विचारानुगत योग की सिद्धि होती हैं। उसके बाद आनन्दानुगत फिर अस्मितानुगत। पहली अवस्था अर्थात् वितर्कानुगत का चिन्तन करते हुए अन्य बाद वाली तीनों भूमिकाओं का अस्पष्ट रूप उस समय रहता है, किन्तु दूसरी अर्थात् विचारानुगत

१– एकात्मिका सविदस्मिता – व्या० भा०, पृ० ५४

२– सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित्। – त० वै०, पृ० ५५

३– (क) एक शब्दोऽत्र केवल वाची, एकात्मिका। एक एवात्माऽस्यां विषयत्वेनास्तीत्येकात्मिका। – यो० वा० पृ०५७
(ख) तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमस्ति तदन्यतटस्याशेषविशेषसाक्षात्कारे अस्मितासंज्ञा।
– भा० ग०, पृ० २१
(ग) अत्रास्मिताशब्देन विविक्तचेतनाकार–मात्रोपलक्ष्यते। – ना० भ० वृ०, पृ० २२

का चिन्तन करते हुए पहले भूमिका के विषय में चिन्तन नहीं रहता। इसी तरह से आनन्दानुगत के विषय का आभोग नहीं रहता, परन्तु अस्मितानुगत के विषय का वहाँ अन्तर्भाव होने से उसका अस्पष्ट चिन्तन होता है। विज्ञान भिक्षु ने अपने मत में कहा है कि स्थूल विषयक समाधि में अन्यों का भान होने के कारण उस विषय में सूक्ष्म पदार्थों का अनन्य रूप से विद्यमान रहना ही है।[१] सम्प्रज्ञात योग की चारों अवस्थाओं का वर्णन करने के बाद दास गुप्त ने अपने मत में कहा है कि यद्यपि इन अवस्थाओं के विषय में बता दिया है, फिर भी उसकी वास्तविकता अनुभव का ही विषय है, इसलिए इस विषय में योगाभ्यास ही दूसरी अवस्थाओं को आविर्भूत करता है। एक तरह से उन्होंने भी योग को ही अपना गुरू स्वीकार किया है। इसलिए योगमार्गावलम्बी को योग ही स्वयं आगे का रास्ता दिखलाता है।[२]

ईश्वर सम्बन्धी विचार

योग दर्शन में ईश्वर को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि ईश्वर ही एक ऐसा साधन है जिसको उत्तम, मध्यम एवं अधम कोटि के साधकों के लिए किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है समाधिवाद में उत्तम कोटि के साधकों के लिए भावना रूप ईश्वर–प्रणिधान का उपदेश दिया गया है।[३] और इसके अलावा साधन पाद के शुरू में क्रियायोग को बतलाते समय ईश्वर प्रणिधान के विषय में बतलाया गया है।[४] उसे मध्यम कोटि के साधकों के लिए बतलाया गया है और उसी पाद में अष्टाङ्.ग योग की विवेचना करते समय अधम कोटि के साधकों के लिए नियम के अन्तर्गत भी ईश्वर प्रणिधान के विषय में बतलाया गया है।[५] विज्ञान भिक्षु ने भी स्पष्ट रूप

१– तत्र प्रथमः सवितर्कानुगतः समाधिश्चतुष्टयानुगतो वितर्कादिचतुष्टयेनानुगतो भवति। – यो० वा०, पृ० ५७

२– We have indeed described the principal stages of the advancement of samprajnata yoga, but it is impossible to give an exact picture of it with the symbolical expressions of our concepts, for the stages only become clear to the mental vision of the yogin as he gradually acquires firmness in his practice. -Das gupta S.N. y. P.R. Po 155

३– ईश्वर प्रणिधानाद्वा। यो० सू० १/२३

४– तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। – यो० सू० २/१

५– शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः। – यो० सू० २/३२

से परमेश्वर परक योग को सबसे अच्छा बतलाया है।[1]दास गुप्त ने भी अन्य ध्येय पदार्थों की अपेक्षा ईश्वर को उत्तम रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि ईश्वर ही एक ऐसी शक्ति है जिसके प्रसन्न होने पर सभी प्रकार की बाधाएँ दूर हो जाती हैं और उसकी सफलता का मार्ग सुगम हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप साधक कम ही समय में समाधि लाभ प्राप्त कर सकता है।[१] जहाँ तक सृष्टि की प्रक्रिया के विषय में ईश्वर की भूमिका का प्रश्न है उस समय में पतञ्जलि एवं व्यास दोनों ही मौन रहे। इसका कारण राधाकृष्णन के मत में यह है कि योग–दर्शन सम्भवतः क्रिया पक्ष का अधिक समर्थक है।[२] यद्यपि सूत्रकार एवं भाष्यकार ने सृष्टि प्रक्रिया में ईश्वर की आवश्यकता का विवेचन नहीं किया है, फिर भी बाद वाले व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु आदि ने सृष्टि के प्रारम्भ में इसको निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया है। सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते समय ईश्वर का उल्लेख न करने के कारण राधाकृष्णन् ने बताया है कि योग दर्शन का क्रियात्मक प्रयोजन एक शरीर धारी ईश्वर से ही पूरा हो जाता है इसलिए पतञ्जलि ने ईश्वरवाद की स्थापना नहीं की है।[४] अतः हमें यह नहीं समझना चाहिए कि राधाकृष्णन् योग दर्शन में ईश्वर की आवश्यकता एवं बाद वाले समय में उन्हें जो स्थान प्रदान किया गया उसकी महत्ता को स्वीकार नहीं करते, बल्कि वह मानव हृदय की सार्वभौम आवश्यकताओं के अनुभव का परिणाम

१– अतः सर्वेषु सप्रज्ञातेषु मध्ये पारमेश्वरयोग एव श्रेष्ठः। – यो० सा० सं०, पृ० १३

२- It is however, preferable that he should fix it on Isvara, for in that case Isvara being pleased removes, many of the obstacles in this path, and it becomes easier for him to attain success. - Das Gupta, S.N.H.I.P.Vol .I.P. 271

३- Theism is not, however, an intergal part of Patanjali's creed. A personal God serves the practical purpose of Patanjali, who does not concern himself much with the speculative interests of theism. - Radhakrishnan, S.I.P. Voll. II P. 369

४- A personal God serves the practical purposes of Patanjali, who does not cocern himself much with the speculative interests of theism. - Radha Krishnan, S.I.P. Voll. II PP. 369

है; पवित्र मनुष्य के हृदय में ईश्वर की पवित्रता देखी जाती है।[1]

सर्वप्रथम हमें उत्तम अधिकारियों के लिए नाना प्रकार के साधनों द्वारा समाधि लाभ कराये जाने का उपदेश देते हुए एक ऐसे साधन के रूप में ईश्वर की आराधना करने का उपदेश प्राप्त होता है जिसके माध्यम से दूसरे साधनों की अपेक्षा शीघ्र समाधि फल की प्राप्ति हो सकती है।[2] इसी को ईश्वर प्रणिधान भी कहा गया है।[3] यह ईश्वर के वाचक प्रणव का जाप करना और उस जाप की अवधि में प्रणव ओंकार[4] के अभिधेय ईश्वर के विषय में चिन्तन करना है,[5] क्योंकि इसमें चिन्तन किया जाता है, इसलिए यह भावना रूप है। इसके माध्यम से समाधि लाभ एवं समाधि के फलस्वरूप होने वाले कैवल्य का लाभ भी प्राप्त होता है, साथ–साथ समाधिकाल में आने वाले विघ्नों की समाप्ति भी हो जाती है।[6] दूसरे पाद में क्रिया योग एवं उसके नियमों के विषय में ईश्वर प्रणिधान का वर्णन किया गया है वह इससे बिल्कुल अलग है उसमें सभी प्रकार के शुभ एवं अशुभ कर्मों को परमगुरू ईश्वर में अर्पण करने के लिए ही बतलाया गया है।[7]

वाचस्पति मिश्र ने प्राणी के जात्यान्तर परिणाम के विषय में बताते हुए कहा है कि प्राणी एक शरीर का त्याग कर दूसरे शरीर को धारण करना केवल कारण रूप प्रकृत्यापूर के धर्मादि तो मात्र

१- It the later yoga, the universal needs of the human heart prove stronger and God begins to occupy a more central place. The reality of God is seen in the purified life of man the witness of god is the seligious experience of man. - Radhakrishnan. S.I. P.Vol IIPP. 371.

२– तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतरः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति। – व्या० भा०, पृ० ६५

३– ईश्वरप्रणिधानाद्वा – यो० सू० १/२३

४– तस्य वाचकः प्रणवः – यो० सू० १/२७

५– (क) तज्जपस्तदर्थभावनम् – यो० सू० १/२८

(ख) प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। – व्या, भा०, पृ० ८४

६– ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराभावश्च। – यो० सू० १/२६

७– ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा। – व्या० भा०, पृ० १३६

निमित्त ही हैं, प्रयोजक नहीं। क्योंकि कोई भी कार्य अपने कारण का प्रवर्तक नहीं हो सकता। प्रवर्तक तो एक स्वतन्त्र व्यक्ति ही हो सकता है। जैसे—घड़े का निर्माण करते समय मिट्टी, दण्ड चक्र आदि से स्वतन्त्र कुम्हार। लेकिन यहाँ स्वतन्त्र व्यक्ति ईश्वर को बताया गया है। जो जीव के प्रतिबन्धों को दूर कर धर्माधिष्ठान के लिए प्रेरित करता है[१] जीव की पुनः सृष्टि करने का एकमात्र कारण है, उसके पुण्य एवं पापकर्मों का फल प्रदान करना। मनुष्य के कर्मों के अनुसार ही उसे जाति, आयु और भोग रूपी फल प्राप्त होते हैं।[२]

पतञ्जलि के अनुसार पुरुष विशेष है वह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेशादि क्लेशों और शुभ तथा अशुभ कर्मों का विपाक रूप जाति, आयु और भोग एवं वासना से रहित है।[३] यद्यपि स्वभावतः पुरुष ने क्लेशों से रहित है, फिर भी ईश्वर को इनसे रहित होने के कारण पुरुष विशेष कैसे कहा गया है। इस शड्.का के निवारण के लिए दोनों टीकाकारो ने बताया है कि अविद्या बुद्धि के धर्म हैं, पुरुष के नहीं। फिर भी सांसारिक मनुष्यों में अविद्यादि का आरोप किया जाता है। ऐसा आरोप केवल अविद्या के कारण ही माना गया है, किन्तु ईश्वर इन आरोपों से रहित माना गया है।[४] वुड के अनुसार अज्ञानतावश ही अन्य पुरुष अपने को बन्धन में पड़ा हुआ मानते हैं।[५]

१— सत्यं धर्मादयो निमित्तं न तु प्रयोजकाः, तेषामपि प्रकृति कार्यत्वात्। न च कार्य कारणं प्रयोजयति,— स्वतन्त्रस्य च प्रयोजकत्वात्। न च पुरुषार्थोऽपि प्रवर्तकः, किं तु तदुद्देशेनेश्वरः ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थम् प्रतिबन्धापनय एवं व्यापारो वेदितव्यः— त० वै, पृ० ३६६

२— स्यादेतत्— नित्यतृप्तस्य भगवतो वैराग्यातिशयसम्पन्नस्य स्वार्थे तृष्णासम्भवात्कारूणि कस्य च सुखैकतान जनसर्जन परस्य दुःख बहुलजीवलोकजननानुपपत्तेरप्रयोजनस्य च प्रेक्षावतः प्रवृत्यनुपत्तेः क्रियाशक्ति शालिनोऽपि न जगत्क्रियेत्यत आह तस्यात्मानुग्रहाभावेऽडपीति। भूतानाम् प्राणिनामनुग्रहः प्रयोजनम्। त० वै०, पृ० ७८

३— क्लेश कर्म विपाकाशयैस्परामृष्टः पुरूष विशेष ईश्वरः।

४— (क) यो ह्यनेन बुद्धिस्थेनापि पुरुषमात्रसाधारणेन भोगेनापरामृष्टः स पुरूष विशेष ईश्वरः।— त० तै०, पृ० ६७
(ख) ते चाविद्याऽऽदयो यद्यपि मनस्येव सन्ति न कुत्रापि पुरुषे सांसारिके व्यपदिश्यन्त इति। — यो०वा०,पृ०७१

५- This means that he is different from ordinary men. Although these at their root the real men are also unaffected in the world they let themselves be affected, through their igno rance of their own true nature which yoga seeks to alleviate. -wood, E yoga, P. 188

सामान्य रूप से मनुष्यों को जो भी पदार्थ विषयक ज्ञान हुआ करता है, वह भी पूर्ण रूप से नहीं होता है। केवल योगी को ही अतीत तथा अनागत अवस्थाओं का ज्ञान रहता है। योगी जिस विषय पर संयम करते हैं, उस विषय के तीनों कालों का ज्ञान योगियों को हो जाता है, किन्तु ईश्वर को सर्वज्ञ कहा गया है। ईश्वर के अलावा संसार का कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, क्योंकि ईश्वर अनादि काल से ही सर्वज्ञ है, जबकि योगी इससे पहले अज्ञानी था, बाद में उसने ज्ञान प्राप्त किया है, इसलिए वह ईश्वर की भाँति कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

जिस तरह से सांख्य एवं योग दर्शन में पुरुष बहुत्व माना जाता है, उसी भाँति ईश्वर को अनेक रूपों में स्वीकार नहीं किया गया है। इस विषय पर वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञान भिक्षु दोनों ही ने अपने अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं। एक ही पदार्थ के विषय विभिन्न परिणाम की इच्छा करने वाले दो ईश्वरों के होने पर, पदार्थ के किसी एक की इच्छा के अनुरूप परिणत होने से दूसरे की इच्छा पूर्ण न होने के कारण उसमें कमी आ जायेगी, ऐसा दोनों ही टीकाकारों का मत है।[1] योग दर्शन ने ईश्वर को समय सीमा के माध्यम से बाधित न होने के कारण पहले उत्पन्न हुए गुरुओं का भी गुरु स्वीकार किया गया है।[2] पहले उत्पन्न हुए गुरुओं का अर्थ टीकाकारों ने सृष्टि के पूर्व उत्पन्न ब्रह्मा, विष्णु और शिव से लगाया है।[3]

ईश्वर के अवतार के विषय में कहा गया है कि ईश्वर अवतार नहीं लेता है। अवतार तो विष्णु के होते हैं। यही कारण है कि हरि एवं हर आदि को आधुनिक वेदान्त ने साक्षात् ईश्वर का ही अवतार माना है, परन्तु उनका यह मत पूर्ण रूप से अप्रामाणिक तथा भ्रान्त है।[4] ईश्वर सत्त्वोपाधि से युक्त और निरतिशय ऐश्वर्य सम्पन्न है, और वही सर्वाधिक ज्ञानवान् है, इत्यादि जो

१– (क) प्राकाम्यमविहतेच्छता। वद्धि धातादूनत्वम्। – त० वै, पृ० ६६

(ख) एकस्य सिद्धौ संकल्पसिद्ध वितरस्येच्छाविघातादूनत्वं न्यूनत्वंस्यात्। – यो० वा०, पृ० ४७

२– पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। – यो०, सू० १/२६

३– (क) संप्रति भग़वतो ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह – स० एष इति। – त० वै०, पृ० ८१

(ख) पूर्वेषां पूर्वपूर्व सर्गाद्युत्पन्नानां ब्रह्माविष्ण महेश्वरा नामप्यपि गुरुः। – यो० वा, पृ० ८१

४– –यो० वा०, पृ० ७६–८०

ईश्वर का दूसरों की अपेक्षा उत्कर्ष दिखाया गया है, और यह उत्कर्ष भी शाश्वतिक है, ऐसा कहा है। इस विषय में प्रत्यक्ष अथवा अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है, इसलिए इसके प्रमाण्य की शड्.का को दृष्टि में रखते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि शस्त्र ही प्रमाण है।[१] शास्त्र के विषय में ईश्वर के सर्वोत्कर्ष को ही प्रमाण माना गया है।[२] उसमें अनवस्था–दोष की कल्पना की जा सकती है। दास गुप्त मत है कि यहाँ पर अनवस्था दोष को मानने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता, क्योंकि इन दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से है।[३]

विज्ञान भिक्षु ने शड्.का उठाते हुए ईश्वर को राग–द्वेष से शून्य बताया है। शड्.का यह होती है कि ईश्वर केवल भक्तों पर ही कृपादृष्टि रखते हुए उन्हें नाना प्रकार के ऐश्वर्यादि से युक्त बनाता है। दूसरों को नहीं बनाता है तो इस वैषम्य के कारण उसे नित्य मुक्त कैसे कहा जा सकता हैं।[४] इस प्रश्न का समाधान करते हुए वह बताते हैं कि जिस प्रकार आग स्वभाव से गर्म होती है। वैसे–भक्तों का अनुग्रह करना भी ईश्वर का स्वभाव बताया गया है। इसलिए उसे रागद्वेष से युक्त नहीं कहा जा सकता है।[५]

१– योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः सः किं सनिमित्त आहोस्विर्न्निमित्त इति शास्त्रम् निमित्तम्। –व्या० भा०, पृ० ६६

२– शास्त्र पुनः किनिमित्तम्? प्रकृष्टसत्वनिमित्तम्। –व्या० भा०, पृ० ६६

३- The objection that this is an argumet in a circle has no place here since the connection of the seriptures with Isvara is beginningless - Das Gupta, S.N. R, P. 159

४– ननु तथाऽपि भक्तानेवानुगृह्वावति नान्यान् प्रत्युत् तान्निगृह्वातयपि स्वभक्तैश्वर्यदानेनेत्यतो वैषम्यादिना नेश्वरस्य नित्यमुक्तत्वं भवतीतिचेत्? – यो० वा०, पृ० ८०

५– शास्त्री, उदयवीर, सांख्यसिद्धान्त, पृ० ५५

योग में उत्पन्न होने वाले विघ्न

व्याधि, स्तयान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थिततत्व चित्त के विक्षेप कहे गये गये हैं। वे ही योग में उत्पन्न होने वाले विघ्न कहे गये हैं।[1] ये विघ्न ही चित्त के विक्षेप हैं। ये विघ्न चित्त वृत्तियों के साथ होते हैं। इनके न होने पर पहले कही गयी (प्रमाणादि योग निरूद्ध) चित्तवृत्तियाँ नहीं होतीं। धातु (वात, पित्त और कफ), रस (भोजन–पान आदि से बने हुए शरीर के रस) और इन्द्रियों में कम या अधिक होना ही व्याधि कहा गया है। 'स्त्यान' (अयोग्यता के कारण) चित्त की अकर्मण्यता है। उभय कोटि स्पर्शी ज्ञान–ऐसा होना चाहिए और ऐसा नहीं होना चाहिए–'संशय' है। समाधि के साधनों को न करना प्रमाद है। शरीर और चित्त के भारी होने के कारण (योग साधना) में प्रवृत्त न होना ही आलस्य कहा गया है। चित्त की विषय सम्पर्क रूपिणी लालसा ही 'अविरति' है। मिथ्या ज्ञान भ्रान्ति दर्शनहै। समाधि साधना में भूमिकाओं का लाभ न होना अलब्धभूमिकत्व है और प्राप्त हुयी भूमिका में चित्त का प्रतिष्ठित न होना अलब्धभूमिकत्व है और प्राप्त हुई भूमिका में चित्त का प्रतिष्ठित न होना 'अनवस्थित्व' है। समाधि की भूमिका का लाभ होने पर (चित्त को) उसमें स्थित होना चाहिए। ये नव चित्त विक्षेप योग के मल, योग के शत्रु और योग के विघ्न कहे जाते हैं।[2]

'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः सूत्र के अनुसार चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग कहा गया है और इन वृत्तियों का उदित होना ही योग भ्रंश हैं। अतः वृत्तियों का उदित होना ही योग का

१– व्याधिस्त्यानसंशय प्रमादाऽऽलस्याऽविरति भ्रान्तिदर्शनाऽलब्ध भूमिकत्वाऽनवस्थिततत्वानि चित्तविक्षेपास्तऽडन्तरायाः।
–यो० सू० १/३०

२– नवाऽन्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नेवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरूत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषय सम्प्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्तिदर्शन विपयर्यज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः अनवस्थितत्वं लब्धाया भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। समाधि प्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नवयोगमला योग प्रतिपक्षा योगान्तरायः इत्यभिधीयन्ते।। ३०।। यो० सू० भाष्य १/३०

विघ्न है। अब देखना है कि योग के जो नव विघ्न बताये गये हैं, क्या वे वृत्ति रूप होते हैं, जिससे वे योग को बाधित करते हैं। इसका उत्तर है कि 'संशय' और 'भ्रान्ति दर्शन' तो साक्षात् 'विपर्यय वृत्ति' ही है, इसलिए इन दोनों ही का उदय तो 'विपर्यय वृत्ति का ही उदय है। फलतः ये दोनों विक्षेप तो योग के अन्तराय सपष्टतः सिद्ध ही है। शेष 'व्याधि' इत्यादि यद्यपि वृत्ति नहीं है, परन्तु उनके उदित होने पर 'प्रमाणादि' वृत्तियॉ अवश्य उदित हो जाती है। इसको सिद्ध करने के लिए भाष्यकार ने बताया है कि ''सहैते चित्तवृत्तिभिर्भन्ति इत्यादि व्याधि प्रभृति विघ्न, वृत्तियों के सहित ही रहते हैं, बिना वृत्तियों के इनकी उपस्थिति नहीं होती। इस प्रकार ये सातों विक्षेप, वृत्तियों के साथ ही प्रकट होने के कारण वृत्तियों का उदय मुख्य रूप से करा ही देते है। इसलिए वृत्युदकारी होने के कारण ये भी योग के विघ्न सिद्ध होते हैं।

योग में विघ्न उत्पन्न करने वाले इन नव विघ्नों के अलावा इनके विद्यमान होने पर अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं। दुःख, दौर्मनस्य अड्.गमेजयत्व, श्वासप्रश्वास– ये विक्षेपों के साथ होने वाले हैं, अर्थात् उनके होने से पाँच प्रतिबन्धक और उपस्थित हो जाते हैं, दुःख के उत्पन्न होने पर भी योग में विघ्न आते हैं वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार के बताये गये हैं। उनमें से काम, क्रोध आदि से उत्पन्न मानस परिताप और व्याधि आदि से उत्पन्न मानस परिताप और व्याधि आदि से उत्पन्न शारीरिक ताप आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं। आत्मा यहाँ मन और शरीर के अर्थ में प्रयोग हुआ है। सिंह, सर्प आदि भूतों से उत्पन्न दुःख आधिभौतिक है। विद्युतपात, अतिवर्षण, अग्नि अतिवायु आदि दैविक शक्तियों से उत्पन्न दुःख आधिदैविक हैं। इच्छाओं के अपूर्ण रहने से चित्त का चञ्चल होना ही 'दौर्मनसस्य' है। जिसके अड्.ग काँपते हैं। उसे अड्ग कम्प कहते हैं। प्राण जो कि बाह्ययवायु को खींचता है वह श्वास है। जो भीतर की वायु को बाहर निकालता है, वह प्रश्वास है ये विक्षपों के साथी हैं, अर्थात् विक्षिप्त चित्त वाले प्राणियों को ये होते हैं। समाहित चित्त (साधक) को नहीं होते है।

समापत्तियाँ

कुछ विद्वानों ने समापत्ति और समाधि को पर्यायवाची कहा है। जबकि ये दोनों पर्यायवाची नहीं है। समाधि चित्त की वृत्तियों का निरोध रूप है, जबकि समापत्ति इस निरोध काल में चित्त का विषयाकार रूप में परिणत होना है। समापत्ति चूँकि समाधि काल में होती हैं, इसलिए विज्ञान भिक्षु और वाचस्पति ने इन्हें पर्यायवाची मान लिया है। सूत्रकार तथा भाष्यकार ने इन दोनों के अन्तर को नहीं बताया। फिर भी इन दोनों के भेदों को स्वीकार किया है, क्योंकि उनके द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्थाओं के चार भेद बतलाए हैं और समापत्ति के सवितर्क, निर्वितर्क एवं सविचार और निर्विचार आदि अवान्तर भेदों का उल्लेख करने से पता चल जाता है।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार ग्राह्य विषय के स्थूल एवं सूक्ष्म होने से तद्विषयक समापत्ति सवितर्क, निर्वितर्क एवं सविचार तथा निर्विचार इन चार रूपों में विभक्त मानी गयी हैं। इसके अलावा ग्रहण एवं गृहीत विषयक समापत्ति के भी अभेद रूप अध्यास से युक्त एवं अयुक्त होने के कारण उनका विकल्प युक्त एवं विकल्पशून्य मानना आवश्यक है, इसलिए उनके भी दो-दो भेद होने के कारण कुल आठ भेद मानने चाहिए।[१] रामानन्दयति ने भी वाचस्पति मिश्र के मत का अनुकरण किया है।[२] राघवानन्द सरस्वती[३] नारायण[४] का भी यही मत है।

सवितर्क समापत्ति

स्थूल विषय का चिन्तन करते-करते साधना करने वाला जब उस विषय के शब्द उससे अभिप्रेत पदार्थ विशेष का रूप, अर्थ और उसके अवबोध रूप ज्ञान में भेद न जानते हुए इनको परस्पर एक रूप में जानता है तो वह समाधि अध्यास के कारण अविद्या मिश्रित होने

१– तेन ग्राहये चतस्त्रः समापत्तयो ग्रहीतृग्रहणयोश्चतइत्यष्टौ सिद्धा भवन्तीति।– त० वै० पृ० १२३

२– एवमष्टसमापत्तयो यास्ता एव सबीजः समाधिः संप्रज्ञातः। – म० प्र० पृ० ५३

३– तेनाष्टौ सिद्धा भवन्तीति भाष्यहृदयं प्रकटीकृतम्। – पा० रह०, पृ० १२४

४– एवमष्टसमापत्तयो यास्ता एव सबीजः समाधिः सम्प्रज्ञातः। – सू० बो०, पृ० १६

से सवितर्का समपत्ति कही जाती है।[१] इस समाधि के समय में पदार्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता है इसलिए टीकाकारों ने इसे अपर प्रत्यक्ष के नाम से पुकारा है।[२] क्योंकि पर प्रत्यक्ष या वास्तविक प्रत्यक्ष तो दो पदार्थ का उसके पूर्ण रूप का विशुद्ध साक्षात्कार करता हैं, साधारण प्रत्यक्ष जो सम्प्रज्ञात योग की अवस्था से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को होता रहता है। वह भी अविद्या मिश्रित ही होता है, परन्तु उसे इस श्रेणी में न रखे जाने का कारण एक दूसरा भेद है जिसे विज्ञान भिक्षु ने बताया है कि उनके अनुसार सवितर्क समापत्ति समय में जो साक्षात्कार करा देता हैं जो कि सामान्य चिन्तन के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है। यह पदार्थ के सम्पूर्ण स्वरूप का अविद्या मिश्रित रूप में साक्षात्कार करा देता है।[३]

निर्वितर्का समापत्ति

स्मृति के शुद्ध हो जाने पर (अर्थात् आगम–अनुमान के कारणीभूतशब्द–संकेत स्मरण के निवृत्त होने से) अर्थ मात्र सी भासने वाली अपने (ग्रहण आकार ज्ञानात्मक) रूप से रहित (चित्तवृत्ति) निर्वितर्क समापत्ति है।[४] सवितर्क समापत्ति में चित्त में शब्द, अर्थ और ज्ञान–ये तीनों दिखायी देते हैं। कहने का तात्पर्य है कि चित्त इन तीनों में ही तदाकार रहता है। जितनी एकाग्रता बढ़ती जाती है उतनी ही बाह्यवृत्ति अन्तर्मुख होती जाती है। जब एकाग्रता इस अवस्था तक बढ़ जाय कि शब्द और उस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, इन दोनों की स्मृति भी न रहे और चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूप से शून्य जैसा होकर उस बाह्य

१– शब्दार्थज्ञानानाम भेद भ्रमेणानुबिद्धौ विषयीकृतो भवति तदा सा सङ्.कीर्णा विकल्पमिश्रिता, विकल्पविषयीभवदर्थ विषयिणीतियावत्, समापत्तिः सवितर्कसंज्ञा भवतीत्यर्थः। – यो० वा०, पृ० ११०

२– (क) तत्र विकल्पिते गवाद्यर्थे समापन्नस्येति। तदनेन योगिनोऽपरं प्रत्यक्षमुक्तम्।.
– त० वै०, पृ० ११०

(ख) इयं च समापत्तिरपरं प्रत्यक्षमविद्यालेशसम्बन्धादिति। – यो० वा०, पृ० १११

३– स्थूलयोर्भूतेन्द्रिययोरदृष्टाश्रुतामताशेषविशेषसाक्षात्कारः। सवितर्क इत्यर्थः। – यो० वा०, पृ ५५

४– स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितका। – यो० सू० १/४३

वस्तु के जिसमें चित्त लगाया गया है, शब्द और ज्ञान से निखरे हुए केवल अपने निजी अर्थ मात्र का साक्षात्कार कराता है अर्थात् शब्द और ज्ञान को छोड़कर केवल ध्येय वस्तु का तदाकार हो तो उस समापत्ति को निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं या निर्विकल्प समापत्ति भी कहते हैं, क्योंकि इसमें शब्द और ज्ञान का विकल्प नही रह जाता है।

तर्क शब्द का प्राचीन अर्थ शब्दमय चिन्ता बताया गया है[1] और वितर्क शब्द का अर्थ–विशेष तर्क दिया गया है तथा विकल्प को भेद में अभेद और अभेद में भेद कराने वाली वृत्ति कहा गया है।[2] जब चित्त अर्थ गौ के साथ शब्द गौ और ज्ञान गौ में भी तदाकार हो रहा है तब चित्त तीन आकार वाला होगा और गौ को पूर्ण रूप से दर्शा सकेगा। इसलिए ये तीन आकार वाली वृत्ति सवितर्क या सविकल्प समापत्ति कहलाती है। लेकिन जब सत्त्व गुण का प्रकाश इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह रज और तम को दबा कर जितने अंश में चित्त शब्द गौ और ज्ञान गौ में तदाकार हो रहा हो उससे शून्य जैसा करके उसमें भी गौ अर्थ में तदाकार करने लगे तब यह पूर्णतया गौ अर्थ से भासने वाली चित्त की एकाकार वाली वृत्ति निर्वितर्क या निर्विकल्प कहलाती है।

सविचार समापत्ति

सम्प्रज्ञात योग की अवधि में जो भी दिखाई देता है, वह सूक्ष्म पदार्थ ही होता है। जब जो कुछ भी हमें दिखाई देता है उसका देश काल एवं निमित्तादि के ज्ञान से कुछ ज्ञात होता है, तब वह सविचार समापत्ति कहलाती है।[3] देश का तात्पर्य ऊपर, नीचे और आस–पास के स्थानों से है। काल का तात्पर्य पदार्थ के वर्तमान काल विशेष धर्मों के ज्ञान से है। निमित्त का अर्थ है कि उस पदार्थ विशेष की उत्पत्ति किन–किन सूक्ष्मतर तत्त्वों के द्वारा हुई है इन सबका पूरा ज्ञान

१– तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः। – यो०सू० १/४२

२– शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्योविकल्पः। – यो० सू० १/६

३– तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। – व्या० भा०, पृ० ११८

साधना करने वाले को हो जाता है।[1] विज्ञान भिक्षु सविचार समापत्ति को भी शब्दार्थ के विकल्प से रहित मानते हैं। उनके मत में पूर्व की भूमिका अर्थात् सविचार समापत्ति से पहले स्थूल विषय का चिन्तन करते समय जब इस विकल्प का त्याग कर दिया जाता है तब उसके बाद की उच्च भूमि में उसकी अच्छी भावनाओं को विषय मे सोचना व्यय ही है।[2]

निर्विचार समापत्ति

सूक्ष्म पदार्थ का निरन्तर चिन्तन करते रहने पर ही साधना करने वाले व्यक्ति को ही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों से अलग और सम्पूर्ण धर्मों में युक्त होने के कारण ही रूप में विद्यमान सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।[3] निर्वितर्क समापत्ति ही की भाँति इस अवस्था में भी ध्येय मात्र की प्रतीति होती है उस अवधि के अन्तर्गत समाधि प्रज्ञा को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता मानो वह अपने वास्तविक स्वरूप से शून्य हो अर्थात् मुझे इस पदार्थ का ज्ञान अवबोध हो रहा है, किन्तु इसका ज्ञान नहीं होता।[4] निर्विचार समापत्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच कर अर्थात् सूक्ष्म विषयों का चिन्तन करते हुए जैसे–जैसे साधक के चित्त के रजोगुण एवं तमोगुण रूपी आवरणों का क्षय होता रहता है वैसे–वैसे चित्त का लगातार ध्येयाकार परिणाम होता रहता है, उसी चित्त को वैशारद्य कहा जाता है।[5] विज्ञान भिक्षु का मत है कि निर्विचार समापत्ति का वैशारद्य हो जाने पर स्वयं ही प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञान या परमेश्वर

१– देश उपर्यधः पार्श्वादिः। कालो वर्तमानः। निमित्तं पार्थिवस्य् परभाणोर्गन्धतन्मात्रप्रधानेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः उत्पत्तिः। तदियं निमित्तं भूतसूक्ष्माणाम्। – त० वै०, पृ० ११६

२– पूर्वभूमिकाया त्यक्तविकल्पस्योत्तरभूमिकायामसंभवादिति। – यो० वा०, पृ० १२१

३– या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। – व्या० भा०, पृ० ११८

४– प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते। – व्या० भा०, पृ० ११८

५– अशुद्धयावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थिति प्रवाहोवैशारद्यम्। – व्या० भा० पृ० १२५

जाता है। उसके प्रयत्नान्तर की अपेक्षा नहीं होती।[1]

ऋतम्भरा प्रज्ञा

निर्विचार समाधि की विशारदता से उत्पन्न अध्यात्म–प्रसाद के होने पर जो समाहित चित्त योगी को प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋताम्भरा प्रज्ञा है। यह उसका वास्तविक नाम है, क्योंकि "ऋतु" नाम सत्य का है और भरा का अर्थ धारण करने वाली है, अर्थात् यह प्रज्ञा सत्य ही को धारण करने वाली होती हैं, इसमें भ्रान्ति, विपर्यय–ज्ञान अर्थात् अविद्या आदि का गन्ध नहीं होता। इस प्रज्ञा के होने से ही उत्तम योग का लाभ प्राप्त होता है। व्यास जी ने स्वयं भी कहा है– वेद विहित, श्रवण से, अनुमान (मनन) से और ध्यानाभ्यास में आदर (निदिध्यासन) से तीन प्रकार से प्रज्ञा का सम्पादन करता हुआ भोगी उत्तम योग को प्राप्त करता है।[2]

सत्य और ऋत में इस प्रकार का भेद समझना चाहिए कि आगम और अनुमान द्वारा जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् conceptual fact वह सत्य है और साक्षात् करने के बाद जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् Perceptual fact वह ऋत है अर्थात् ऋत का अर्थ साक्षात् अनुभूत सत्य है।

वह (प्रज्ञा) (पदार्थों के) विशेषार्थ के विषय की होने के कारण आगम और अनुमान ज्ञान से भिन्न विषय वाली होती है।[3] कहा गया है कि आगम प्रमाण जन्य, ज्ञान वह (पदार्थों के) सामान्य (स्वरूप) विषयक होता है। क्योंकि आगम के द्वारा (पदार्थों) का विशेष (स्वरूप) नहीं कहा जा सकता है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि शब्दों का संकेत (पदार्थों के) विशेष में नहीं होता है। (जैसे) जिसमें पहुँचने की शक्ति होती है, उसमें गति होती है (और) जिसमें पहुँचने की शक्ति नहीं होती, उसमें गति नहीं होती है। ऐसा माना जाता है।इस तरह से अनुमान के द्वारा

१– तथा च निर्विचार वैशारद्ये जाते स्वयमेव प्रकृतिपुरुषविवेको वा परमेश्वरतत्तं वा साक्षात्क्रियते न तु तत्साक्षात्काराय पुनर्योगापेक्षेति निर्विचाराया उत्कर्षः। – यो० वा०, पृ० १२६

२– आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।। – त्या० भा० पृ०–१२६

३– श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। – यो० सू० १/४६

सामान्य विषय, ज्ञान में ही पर्यवसान होता है। इसलिए कोई भी (पदार्थगत) विशेष, आगम और अनुमान का विषय नहीं बन पाता है। और इस सूक्ष्म, अन्तरित और दूर स्थित वस्तु (के विशेषो) का ग्रहण लौकिक प्रत्यक्ष से (भी) नहीं होता है। इन सभी प्रमाणों से न गृहीत होने वाले (पदार्थगत) विशेष का भी अभाव नहीं है। भूतसूक्ष्म गत वा पुरुषगत 'विशेष' समाधि प्रज्ञा से ही गृहीत होते हैं। इसलिए विशेष रूपी विषय वाली होने के कारण यह (ऋतम्भरा) नामक प्रज्ञा आगम और अनुमान की प्रज्ञा से अलग विषय वाली होती है।[1]

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सब व्युत्थान काल के संस्कारों का बाधक होता है।[2] समाधि से पहले चित्त केवल व्युत्थान काल के संस्कारों से ही युत होता है। फिर जब समाधि की अवस्था में जो भी उसको (साधक) अनुभव होता है। उसमें भी संस्कारों का निर्माण होता है ये संस्कार व्युत्थान काल के संस्कारों से अधिक बलवान होते हैं, क्योंकि समाधि प्रज्ञा व्युत्थान की प्रज्ञा से अधिक निर्मल होती है। उसकी निर्मलता में पदार्थ का तत्त्व अनुभव होता है। जितना तत्त्व अनुभव होता है उतना ही उसका संस्कार प्रबल होता है। इन संस्कारों के प्रबल होने से पुनः समाधि प्रज्ञा होती है। इस समाधि प्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार व्युत्थान के संस्कारों और वासनाओं को हटाते हैं। व्युत्थान के संस्कारो के दबने से उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी दब जाती है। उन वृत्तियों के निरोध होने पर समाधि उत्पन्न होती है।[3] इससे समाधि प्रज्ञा, समाधि प्रज्ञा में पुनः समाधि के संस्कार, इस प्रकार यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। यहाँ तक

१– श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम्। न ह्यागमेन शक्यो विशेषोडभिधातुम्। कस्मात्? न हि विशेषेण कृत संकेतः शब्द इति। तथाडनुमानं सामान्य विषयमेव। यत्र प्राप्रिस्तत्र गतिर्यत्र न प्राप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम्। अनुमानेन् च सामान्येनोपसंहारः। तस्माच्छुतानुमान विषयो न विशेषः कश्चिद्स्तीति। न चास्य सूक्ष्म व्यवहिताबिप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोक प्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति। न चास्य विशेषस्या

२– तज्जः संस्कारोहन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।।५०।। यो० प्र०

३– तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधाभिर्बीजः समाधिः–यो० प्र०– १/५१

प्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधि प्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति। भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषागतो वा। तस्माच्छ्रतानुमानप्रज्ञाभ्यासमन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति।

निर्विचार–समाधि उपस्थित हो जाती है। फिर निर्विचार समाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा का लाभ होता है। उस प्रज्ञा से निरोध संस्कार होता है, निरोध संस्कार से पुनः ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रकर्ष, उस प्रज्ञा से फिर निरोध–संस्कार वा प्रकर्ष। इस प्रकार निरोध के संस्कार पृष्ट हो–होकर व्युत्थान के संस्कारों को सर्वथा रोक देते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि–किसी ध्येय को आलम्बन बनाकर की जाती है। यह आलम्बन ही वीज है। इसलिए इसको सबीज, सालम्ब्य और सम्प्रज्ञात कहते हैं, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि मे आलम्बन का अभाव होता है। आलम्बन का अभाव करते–करते अभाव करने वाली वृत्ति का भी अभाव हो जाने पर जो समाधि होती है, वह असम्प्रज्ञात है। आलम्बन न रहने से इसको निर्बीज निरालम्ब्य और असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यद्यपि इस सर्ववृत्ति निरोध में और पर–वैराग्य जन्य संस्कारों में प्रत्यक्ष प्रमाण की योग्यता नहीं हैं, क्योंकि सर्ववृत्ति निरोध का योगी को प्रत्यक्ष होना असम्भव है। इसी प्रकार स्मृति रूप कार्य से भी निरोध संस्कार का अनुमान नहीं हो सकता। क्योंकि वृत्ति मात्र का निरोध होने के कारण ये संस्कार स्मृति उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, तथापि चित्त की निरुद्धावस्था का जो मुहूर्त, प्रहर, दिन–रात्रि रूपादि कालक्रम है, उससे निरोध संस्कार का अनुमान होता है, किन्तु पहले एक घटी, फिर दो घटी, फिर एक प्रहर आदि क्रम से होता है। इसी से निरोध–वृत्ति का सद्भाव सिद्ध होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैस–जैसे स्वरूप स्थिति के अभ्यास से व्युत्थान और समाधि के संस्कारों की न्यूनता होती है वैसे–वैसे निरोध के संस्कारों की सत्ता का अनुमान कर लेना चाहिए, क्योंकि बिना निरोध संस्कार की सत्ता के समाधि–प्रज्ञा जन्य संस्कारो की न्यूना होना असम्भव है। इस निरोध में क्लेश जनक व्युत्थान संस्कार और कैवल्योपयोगी सम्प्रज्ञात–समाधि जन्य संस्कारों के साथ ही चित्त अपनी प्रकृति में प्रविलय होकर अवस्थित हो जाता है। यद्यपि निरोध संस्कारों के सद्भाव से यह चित्त थोड़ा अधिकार विशिष्ट ही प्रतीत होता है, तथा पिये संस्कार अधिकार के विरोधी ही हैं, न कि योग के लिए, क्योंकि उस अवस्था में शब्द–रूप–रसाद्युपभोग

विवेक ख्याति–ये दोनों ही अधिकार निवृत्त हो जाते हैं। अतः यह चित्त निरोधावस्था में समाप्त अधिकार वाला होकर संस्कारों के सहित निवृत्त हो जाता है। इस अन्तिम अधिकार वाले चित्त के निवृत्त होने से पुरुष शुद्ध परमात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ केवल शुद्ध और मुक्त? कहा जाताहै। इस असम्प्रज्ञात समाधि के लाभ से ही योगी जीवन्मुक्त पद को प्राप्त होता है। यह असम्प्रज्ञात योग ही सब कर्त्तव्यों की सीमा है।

क्रियायोग

तपस्या, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान ही क्रियायोग कहलाते हैं।[1] क्रियायोग का शाब्दिक अर्थ है कर्म के आश्रय से योग का अभ्यास करना। जैसा कि गीता में भी कहा गया है–योगः कर्मसु कौशलम्। २/५०

प्रथम पाद समाधि पाद के अन्तर्गत योग प्राप्ति के उपाय अभ्यास एवं वैराग्य के साधन के नाना प्रकार के विधियों का उपाय बतलाया गया है, परन्तु उसकी सहायता से तो केवल समाहित चित्त वाला उत्तम अधिकारी ही योग की प्राप्ति कर सकता है। मध्यम वर्ग के अधिकारी जिनका चित्त अभी भी सांसारिक भोग–वासनाओं एवं राग–द्वेष आदि से भरा हुआ है। उनको उस प्रकार से योग प्राप्त करना बहुत ही कठिन है अर्थात् असम्भव है। अतएव विक्षिप्त चित्त वालों के लिए ही क्रिया–योग का विधान किया गया है। जिससे वे भी अपने क्लेशों को क्षीण करके योग प्राप्त कर सकें।[2]

तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को ही क्रियायोग भी कहा गय़ा है। अतः तपस्वी को योग की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अनादि कर्म और क्लेशों की वासनाओं से भरी हुई है और विषयजाल को उपस्थित करने वाली रजस्तमोमयी अशुद्धि बिना तपस्या के छिन्न–भिन्न नहीं होती,

---

१– तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग। –यो०सू० २/१

इसलिए तपस्या का ग्रहण (किया गया) है और यह तपस्या, चित्त की प्रसन्नता को बाधित करने वाली स्थिति तक इस साधक के द्वारा की जानी चाहिए। ऐसा माना जाता है। (शास्त्रों के अनुसार) 'ओड्.कार' इत्यादि पवित्र मन्त्रों का जप या मोक्ष परक शास्त्रों का अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है। सभी क्रियाओं को परम गुरू ईश्वर में अर्पित करना या उन (कर्मों) के फलों का संन्यास ईश्वर प्रणिधान है।

क्रियायोग का विधान बनाने का मात्र दो ही प्रयोजन हो सकता है। पहला समाधि की भावना करना एवं क्लेशों को क्षीण करना।[१] क्रियायोग के द्वारा ही अशुद्धि नष्ट हो जाती है सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य की राजस चंचलता एवं तामस जडता ही उसकी अशुद्धि है। ये अशुद्धियाँ ही क्लेशों की प्रबल अवस्था कही गयी है। इसलिए क्लेशों की अशुद्धि का आवरण हटने से ही क्लेश क्षीण होते हैं। क्लेशों के कमजोर होने से ही चित्त समाधि की ओर अभिमुख हो जाता है, अर्थात् समाधि की भावना उत्पन्न हो जाती है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जब क्रियायोग के द्वारा ही क्लेश क्षीण हो जाते हैं। तब विवेक–ख्याति का प्रयोजन किसलिए है, अर्थात् वह व्यर्थ है या प्रसंख्या नाम्नि क्लेशों को जलाने में समर्थ होता है। तब क्रियायोग से क्लेशों को नष्ट करना भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा। इसका प्रत्युत्तर मात्र यही हो सकता है कि क्रिया योग से क्लेशों को क्षीण किए बिना प्रसंख्यानाग्निरूप विवेक ख्याति उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रबल एवं विरोधी क्लेशों से युक्त चित्त विवेक ख्याति उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रबल एवं विरोधी क्लेशों से युक्त चित्त विवेक ख्याति उत्पन्न करने में असमर्थ है। क्रियायोग के अनुष्ठान·से चित्त अभ्यास एवं वैराग्य के सम्पादन–योग्य बनता हैं। अभ्यास एवं वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास की मजबूती से उसकी अन्तिम अवस्था में विवेक ख्याति का उदय होता है। उसके पश्चात वैराग्य से उत्पन्न संस्कारों की मजबूती से चित्त का विवेक ख्याति रूपअधिकार भी समाप्त होकर समाधि का उदय होता है।

१– "समाधिभावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च"। – यो० सू० –२/२

क्लेश और क्लेश निवारण

अविद्यादि पॉचों क्लेश को बिल्कुल सूक्ष्म या हल्का करने के लिए योग होता है। क्लेशों के हलके होने से ही सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। अब प्रश्न उठता है कि ये क्लेश क्या हैं? और कितने प्रकार के हैं इसका उत्तर है कि बन्धन के कारण भूत विपर्ययस्त ज्ञान को ही क्लेश कहते हैं योग की साधना के लिए क्लेशों को नष्ट करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि ये क्लेश वृत्तिमान रहकर गुणों के अधिकार को दृढ़ करते हैं। अव्यक्त के महत् से अहड्.कार इत्यादि कार्य कारण की परम्परा को उद्भावित करते हुए एक दूसरे के अनुग्राहक बनकर कर्म–विपाक (जाति, आयु और भोग) को निष्पन्न करते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये ही पाँच क्लेश कहे गये हैं।[1] ये पॉचों बाधनारूप पीडा को उत्पन्न करते हैं और चित्त में वर्तमान रहते हुए संस्कार रूप गुणों परिणाम को मजबूत करते हैं। अतएव क्लेश नाम से कहे गये हैं। ये पॉचों विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान ही है, क्योंकि उन सबका कारण अविद्या ही है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशों के ही सांख्य परिभाषा में क्रम से तमस, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहा गया है। तमस् (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग) तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)–यह सांख्य और योग में पञ्चपर्वा अविद्या के नाम से जानी जाती है।[2] ये तमस आदि अवान्तर भेद बासठ प्रकार के माने गये हैं। तमस और मोह का आठ–आठ भेद बताया गया है। महामोह के दस और तामिस्र के तथा अन्धतामिस्र के अठारह–अठारह भेद हैं।[3]

१– अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।। २/३ यो० सू०

२– तमा मोहोमहामोहस्तामिस्रा ह्यन्धसंज्ञकः।
अविद्या पञ्चपर्वेषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता।। उद्घृत– पातञ्जल योग प्रदीप पृ०सं० –२८२

३– भेदस्तमतोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः। तामिस्र ऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः।। – सां०का०४८

तमस (अविद्या)

प्रधान, महत्तत्व, अहङ्.कार और पञ्चतन्मात्राएँ–इन आठ अनात्मप्रकृतियों में आत्मभ्रान्तिरूप अविद्या–संज्ञक तम आठ विषय वाला होने से आठ प्रकार का है।

मोह (अस्मिता)

गौण फलरूप अणिमा–महिमा आदि आठ ऐश्वर्य जो परम पुरुषार्थ भ्रान्तिरूप ज्ञान है। वह अस्मिता संज्ञक मोह कहलाता है। यह भी अणिमा, महिमा, लघिमा आदि आठ मोह कहलाता है। यह भी अणिमा, महिमा लघिमा आदि भेद से आठ प्रकार का बताया गया है।

महामोह (राग)

शब्द अर्थ, रूप, रस, गन्ध संज्ञक है। लौकिक और दिव्य विषयों में जो अनुराग है, वह राग संज्ञक[1] महामोह कहलाता है। यह भी दस विषयों वाला होने के कारण दस प्रकार का कहा गया है।

तामिस्र (द्वेष)

दुःख के अनुभव के बाद दुःख की स्मृति पूर्वक दुःख या दुःख के साधन भूत शत्रु आदि में जो बदला लेने की इच्छा या क्रोध उत्पन्न होता है, उसे द्वेष कहते हैं।[2] द्वेष अर्थात् शरीर इन्द्रियादि को दुःख एवं हनन से बचाने के संस्कार ही अभिनिवेश के उत्पादक हैं।

अभिनिवेश अन्धतामिस्र आठ ऐश्वर्य और दस विषय भोग के नाश का भय रूप से होने से अठारह प्रकार के हैं। अविद्या को ही सम्पूर्ण क्लेशों का मूल कारण कहा गया है। जिस प्रकार भूमि में रहकर बीज उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अविद्या के क्षेत्र में रहकर सब क्लेश बन्धन रूपी फल देते हैं। अविद्या ही इन सबका मूल कारण है। ये क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं ये हैं–प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। आदि के अभाव काल में अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकते है,

---

१– सुखानुशयी रागः। – २/७ यो०सू०

२– दुःखानुशयी द्वेषः। – २/८ यो० सू०

जो क्लेश चित्त भूमि में अवस्थित तो हैं, किन्तु अभी जाग्रत अवस्था में नहीं हैं, क्योंकि अपने विषय वे प्रसुप्त कहलाते हैं। जिस प्रकार बाल्यावस्था में विषय भोग की वासनाएँ बीज रूप से दबी रहती हैं, जवान होने पर जाग्रत् होकर अपना फल दिखलाती हैं।

तनु क्लेश वह है जो प्रतिपक्ष भावना द्वारा या क्रिया योग आदि शिथिल कर दिए गए हैं, इसलिए वे विषय के अन्तर्गत आते हुए भी अपने कार्य के आरम्भ करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं, शान्त ही रहते हैं। परन्तु इनकी वासनाएँ सूक्ष्म रूप से चित्त में बनी रहती हैं। यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से अविद्या को भेद–दर्शन के अभ्यास से अस्मिता को, मध्यस्थ रहने के विचार से राग–द्वेष को, ममता के त्याग से अभिनिवेश क्लेश को तनु किया जाता है तथा धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा अविद्या, अस्मिता आदि सभी क्लेशों को तनु किया जाता है।

विच्छिन्न क्लेश की वह अवस्था है, जिनमें क्लेश किसी दूसरे बलवान क्लेशों से दबे हुए शक्ति रूप से रहते है और उसके अभाव में वर्तमान रह जाते हैं। जैसे–द्वेष की अवस्था में राग छिपा होता है और राग की अवस्था में द्वेष छिपा रहता है।

उदार क्लेशों की वह अवस्था बतलाई गयी हैं जो अपने सहायक विषयों को प्राप्त करके अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाती है। जैसे–कि व्युत्थान काल में साधारण व्यक्ति होते हैं। इन सभी का मूल कारण अविद्या है। अविद्या के नाश होने पर इन सभी क्लेशों का भी नाश हो जाता है।

क्रियायोग या सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा तनु किए हुए क्लेश प्रसंख्यान अर्थात् विवेक–ख्याति रूप अग्नि में दग्ध बीज भाव को प्राप्त हो जाते हैं। उसके पश्चात् पुनः अंकुर उत्पन्न करने और फल देने में असमर्थ हो जाते हैं। जैसे–जिस प्रकार अग्नि से जले हुए बीज पुनः नहीं उगते हैं, उसी प्रकार विवेक ज्ञान रूपी अग्नि से जले हुए क्लेश फिर उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

अविद्या

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश रूप जो पाँच क्लेश बताए गए हैं उनमें अविद्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह अन्य चारों क्लेशों की भी उत्पत्ति स्थूल रूप कही गयी है।[1] व्यासदेव ने मात्र इसे प्रसव भूमि ही कहा है।[2] प्रसव भूमि कहे जाने का कारण भोज देव ने बताया है कि–विपर्यय ज्ञान रूपी अविद्या के रहने पर ही उनका उद्भव होता है इसलिए उन्हें अविद्यामूलक कहा गया है।[3] भावागणेश और नागेशभट्ट और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जिन अनात्म पदार्थों में व्यक्ति को आत्मत्व का भ्रम होता है अर्थात् व्यक्ति उनमें अहं या मम बुद्धि रखता है उनके प्रति ही उसे तत्पश्चात् रागादि होता है। इस प्रकार वह अस्मिता एवं रागादि का कारण है।[4]

अविद्या को भाव पदार्थ के रूप में सांख्य और योग दोनों ही दर्शनों में स्वीकार किया गया है। भाष्यकार व्यास ने अपना मत प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार अमित्र शब्द का अर्थ मित्राभाव या मित्र मात्र नहीं स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि वह शत्रु इस विशिष्ट अर्थ को संकेतित करता है उसी तरह से यहाँ पर विद्या मात्र या विद्या का अभाव न स्वीकार करके विद्या से अलग ज्ञान रूप भाव पदार्थ स्वीकार करना चाहिए।[5] वाचस्पति मिश्र भी अविद्या को अभाव पदार्थ न मानकर भाव माने जाने के विषय में अपना तर्क देते हैं कि यदि अविद्या कोई अभाव पदार्थ होती तो वह अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का कारण कैसे मानी जा सकती थी। इसके साथ उन्होंने यह भी कहा है कि यदि विद्याभाव को क्लेश आदि का कारण माना जाये तो विद्यावृत्ति

१– अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। – यो० सू० २/४

२– अत्राविद्या क्षेत्रम् प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां। – व्या०भा० पृ० १४२

३– विपर्ययज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनात्स्थितमेव मूलत्वमविद्यायाः। – भो० वृ० पृ० १४१

४– (क) यदेव हि वस्तु अहं ममेत्यविद्याविषयो भवति तत्रैव रागादिक भवतीति। – भा० ग० वृ०, पृ० ६४
(ख) ना० भ वृ०, पृ० ६४

५– यथानामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रम् किं तु तद्विरुद्धः सपत्नः। एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किं तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरम विद्येति। – व्या० भा०, पृ० १४७

का जिन असम्प्रज्ञात समाधि निष्ठ योगियों मे निरोध हो गया है उनमें भी फिर से क्लेशापत्ति स्वीकार करना पडेगा जो कि कभी भी उपयुक्त नहीं हो सकता है।[1]

विज्ञान भिक्षु ने भी अविद्या के प्रसंग में अपना मत दिया है कि अविद्या यहाँ पर अविवेक को द्योतित न करते हुए वैशेषिकादियों की तरह विशिष्ट ज्ञान को ही प्रकाशित करती है। यह विद्या का विरोधी विशिष्ट प्रकार का मिथ्या ज्ञान है।[2]

विज्ञान भिक्षु ने सांख्य–प्रवचन भाष्य में स्पष्ट किया है कि अविद्या को बहुत तुच्छ अर्थात् अभाव के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता है क्योंकि उसका नाश मात्र तर्क एवं श्रुति वाक्यों के द्वारा नहीं हो सकता है, वरन् उसको नष्ट करने के लिए योगाभ्यास की सबसे अधिक आवश्यकता पडती है।[3]

राग

योग की स्थिति तक पहुँचने में ये राग भी बाधक, बनता है। क्योंकि ये राग–संसार के प्रत्येक मनुष्यों को आत्मसात् कर लेता है। अब प्रश्न उठता है कि यह राग है क्या? यह वह अवस्था होती है जब मनुष्य सुख प्राप्त करने के लिए अपने चित्त में उस सुख को पाने की इच्छा रखता है तो उस इच्छा का न होना ही राग है। 'सुखानुशयी' पद की व्याख्या इस प्रकार से हो सकती है। अनुशेते इति, अनु + शीड़् + णिनि[4] सुखानुशयी, सुखस्य अनुशयी इति सुखानुशयी (ष०त०) सुखानुभव का अनुवर्ती राग नामक क्लेश होता है।

शरीर इन्द्रियों और मन में आत्माध्यास हो जाने पर जिन वस्तुओं और विषयों से सुख प्रतीत होता है, उनमें और उनके प्राप्त होने के साधन में जो इच्छा रूप तृष्णा और लोभ पैदा हो जाता

१– न चासौ विद्याया अभावमात्रेण क्लेशादिबीजम्, विवेक ख्याति पूर्वकनिरोधसम्पन्नाया तथात्व प्रसड़्.ात्। – त०वै०, पृ० १४

२– अस्मिंश्च दर्शने सांख्यानामिवाविवेको नाविद्याशब्दार्थः किं तु वैशेषिकादिवद् विशिष्टाज्ञानमेवेति सूत्रभाष्याभ्या मवमन्तव्यम्। – यो० वा०, पृ० १५।

३– अविवेको युक्तितः श्रवणतश्च न बाध्यते नोच्छिद्यते। – सा०प्र० भा०, पृ० ३२

४– (नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। – पा०सू० ३/१/३४१ वृद्वयभावो निपातनात् (यथा) विशयी –सि०कौ०पृ०५६४)

है, उसके जो संस्कार चित्त में पड़े रह जाते हैं, उसी का नाम राग–क्लेश हैं।

इन्द्रिय–इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी इन्द्रियों के भोगने में स्थित जो राग और द्वेष हैं दोनों के वश में न हों, क्योंकि वे दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं।[1]

सुख का अनुभव होने के बाद उसकी मनुस्मृति के कारण उससे सम्बन्धित जो तृष्णा है वहीं राग कही जाती है।[2] वाचस्पति ने यहाँ पर अस्मिता के बाद राग का उल्लेख किए जाने का कारण बतलाते हैं, क्योंकि विवेक ज्ञान हो जाने पर अविद्या की निवृत्ति होने से, अविद्या मूलक अस्मिता के उच्छेद हो जाने के बाद ही राग आदि का उच्छेद सम्भव है। यही कारण है कि अस्मिता के बाद उसका उल्लेख सूत्रकार ने किया।[3]

द्वेष

द्वेष की उत्पत्ति राग के ही कारण मानी जाती है, क्योंकि चित्त में राग के संस्कार जम जाने पर जिन वस्तुओं से शरीर, इन्द्रियों और मन दुःख प्रतीत हो या जिनके द्वारा सुख प्राप्ति के साधनों में विध्न उत्पन्न होने लगे। उनसे मन ही मन द्वेष की भावना उत्पन्न होने लगती है। अब प्रश्न उठता है कि ये द्वेष आखिकार है क्या? जिन वस्तुओं या जिन साधनों से दुःख प्रतीत हो, उनसे जो घृणा और क्रोध हो, उसके जो संस्कार चित्त में पड़े उसको द्वेष–क्लेश के नाम से जाना जाता है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार ''जिज्ञासा पद का प्रयोग द्वेष की इच्छा–विशेषता को प्रकाशित करता है।[4] का तात्पर्य यह है कि द्वेष भी चित्त में रहता है, इसलिए क्लेश है। यो० सू० के अनुसार दुःख के अनुभाविता को दुःखानुभव की स्मृति पूर्वक दुःख या दुःख के साधन भूत पदार्थ के प्रति

१– इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौह्यस्य परिपन्थिनौ।। – गीता ३/३४

२– सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः। स राग इति। – व्या० भा० पृ० १५३

३– विवेकदर्शने रागादीनां विनिवृत्तेरविद्यापादितास्मिता रागादीनां निदानमित्यस्मितानन्तरं रागादील्लक्षयति। – त० वै०, पृ० १५३

४– अत्र जिघांसेति वचनाद् द्वेषाऽडपीच्छाविशेष एवेत्याशयः। – यो० वा०, पृ० १५४

जो प्रतिहिंसा, मन्यु, मारने की इच्छा या क्रोध होता है वह द्वेष है।[1]

अभिनिवेश

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँच क्लेशों में से अन्तिम क्लेश अभिनिवेश है। जीवन के प्रति जो सबसे ऊँची इच्छा है, उसी को अभिनिवेश कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी चाहे वह मूर्ख हो या विद्वान्, बालक हो या वृद्ध, कोई भी मरना नहीं चाहता, बल्कि दीर्घायु की इच्छा करता है। यह आत्माशी ही अभिनिवेश क्लेश कही गयी है।[2] अभिनिवेश का अर्थ है ''मा न भूयं भूयासमिति'' ऐसा न हो कि मैं न होऊँ, किन्तु मैं बना रहूँ। 'शरीर विषयादिर्भिः मम वियोगो मा भूदिति' शरीर और विषयादि (रूपरसादि) मेरा वियोग न हो। आत्मा अजर और अमर है।[3] इसी कारण से इसका वर्णन दुःख मूलक द्वेष के बाद किया है जो विज्ञान भिक्षु का मानना है।[4]

यह आत्माशी क्योंकि जातमात्र बालक में भी देखी जाती है। इसलिए पूर्व जन्म में इस मरण दुःख का उसके द्वारा उपभोग किया जाता है। इसका अनुमान होता है, ऐसा टीकाकारों ने कहा है।[5] यह अभिनिवेश रूप क्लेश संस्कार मात्र से जन्म जन्मान्तर में प्रवहणशील है।[6]यहाँ पर अभिसन्धि है कि पैदा हुआ प्राणी प्रत्यक्षानुमान आदि प्रमाणों का प्रयोग किए बिना भी मारक वस्तु को देखकर डरता या कॉपता है आखिर ऐसा क्यों है? न उसने अपने इस जीवन में मरण का

१– दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति। – द्रष्टव्यः यो० सू० – २/८

२– सर्वस्य प्राणिन् इयामात्माशीर्नित्या। भवति मा न भूवं भूया समिति। – व्या० भा०, पृ० १५४

३– य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तो न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। गीता द्वि०अ०१९–२५तक

४– द्वेषमूलकतया द्वेषस्य पश्चादभिनिवेशं लक्षयति। – यो० वा०, पृ० १५५

५– (क) त० वै०, पृ० १५५
(ख) यो० वा०, पृ० १५६

६– (क) स्वभावेन वासनारूपेण वहनशीलो न पुनरागन्तुकः। – त० वै०, पृ० १५५
(ख) स्वरसेन संस्कारमात्रेणवहतीति स्वरसवाही। – यो० वो० पृ० १५५–५६

प्रत्यक्ष किया, न अनुमिति की, न शास्त्रादि श्रवण से ही अभी तक उसे मरण–दुःख का बोध होता है। फिर ऐसा क्यों हुआ? इससे सिद्ध होता है कि यह भय उसे पूर्व जन्म में प्राप्त मरण का भय है। यही उसमें संस्कार रूप से बना रहता है। और यही मारक वस्तु को देखकर प्रकट हो रहा है। इससे पूर्व जन्म में अनुभूत मरण के दुःख का अनुभव होता है, ऐसा अनुमान लगाया जाता है।

कर्म और कर्मफल

संसार में प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है, जिसका फल वह अपने आगामी जीवन या जन्मान्तर में प्राप्त करता है। उसका वर्तमान जन्म भी पहले किए गए कर्मों का ही परिणाम है। कॉस्टर का मत है कि योग दर्शन में बताए गए मार्ग का अनुसरण करने के द्वारा व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं हो जाता है। सामान्यतः अज्ञान वश उसने जो कर्म किए है, उनका फल तो वह निश्चित ही पाता है, किन्तु ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर वह कर्मों को इस प्रकार कर सकता है कि वह यथेच्छ भविष्य का निर्माण कर सके।[१]

कर्मजन्य संस्कारों का समुदाय कर्माशय कहलाता है। यह संस्कार समुदाय ही अदृष्ट रूप में वर्तमान रहता हुआ प्राणियो को कर्मफल का भोग कराता है। इसी संस्कार समूह को 'धर्माधर्म' या पुण्य–पाप कहते हैं। ये कर्माशय अविद्यादि क्लेशों सहित किए गए कर्मों से उत्पन्न होते हैं। क्लेश रहित होकर किए गए कर्मों से कर्माशय नहीं बनते।[२] जैसे–लब्धविवेकख्याति योगी के द्वारा किए गए कर्मो से कर्माशय नहीं बनते। कर्माशय के दो भेद बताए गए हैं। पहला दृष्टजन्मवेदनीय और दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय। दृष्ट जन्म का अर्थ है वर्तमान जन्म (जीवन्) और अदृष्ट जन्म का

१-It represents man as the sole and absolute master of his own fate forever what he has sown in the time of ignorance he must inevitably reap, but when he attains enlightenment it is for him to sow what he ehooses and reap accordingly-c\Coster Geraldine, Yoga & Western psy phychology P.86

२– 'यस्य नाहड़कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। – इति स्मृतिः

अर्थ है इस जीवन के बाद वाले सभी जन्म (जीवन) वेदन का अर्थ है—अनुभव। इसलिए दृष्टजन्म वेदनीय का अर्थ हुआ इसी जन्म (अर्थात् इसी जीवन) में अनुभवनीय है फल जिनका, ऐसे कर्माशय अर्थात् एवज्जीवनानुभवनीय फलक कर्माशय। अदृष्टजन्म वेदनीय का अर्थ है भविष्यत्कालिक जन्मों की जीवनावधि में अनुभवनीय है फल जिनका वैसे कर्माशय अर्थात् भविष्यजनन्मानु भवनीय फलक कर्माशय। इस प्रकार इस सूत्र में सहेतुक एवं फल कारक सहित कर्माशय बताए गए हैं।

कर्मफल सम्बन्धी योग के सिद्धान्त का अभिप्राय क्या है? इसको समझाने का प्रयत्न भाष्यकार ने किया है। यदि हम साधारण रूप से सूत्र के अर्थ को ग्रहण करते हैं। तो 'क्लेश' नामक कर्ममूल के रहने पर कर्माशय का विपाक होता है और 'क्लेश' के उच्छिन्न हो जाने पर कर्माशय का विपाक नहीं होता, तब एक बहुत बडी अनुपपत्ति का सामना करना पड़ता है। वह अनुपपत्ति यह है कि इस मान्यता के अनुसार विवेकख्याति के द्वारा क्लेशों का उच्छेद हो जाने पर प्रारब्ध कर्माशयों का फल नहीं होना चाहिए, किन्तु उस दशा में भी प्रारब्ध कर्माशयों का विपाक होना स्वीकार किया गया है। इस अनुपपत्ति का निराकरण करने के लिए भाष्यकार कहते है कि कर्माशय का फल जब तक मिलता रहे, तब तक क्लेशों की सत्ता को स्वीकार करना सूत्रकार का अभिप्राय नहीं है। प्रत्युत कर्माश्य का फल मिलने की शुरुआत होने के कारण समय मे क्लेशों की सत्ता का होना अनिवार्य है पुनः उसके बाद जब तक वह फल मिलता रहे, तब तक क्लेश बने रहें या बीच में ही उच्छिन्न हो जाये। इसमें कोई अन्तर नहीं आता है। कर्माशय क्लेशों के रहने पर ही विपाकारम्भी होते है, अर्थात् फल देना प्रारम्भ करते हैं। क्लेश रूपी मूल के उच्छिन्न हो जाने पर कर्माशय फल देना नहीं प्रारम्भ करते[1] जो कर्माशय प्राणी के जन्म काल से ही प्रारम्भ कर चुके है। अर्थात् जो प्रारब्ध कर्माशय हैं केवल उन्हीं का फल विवेकख्याति के बाद भी मिलता रहता है।

१– 'आरम्भशब्दाज्जीवमुक्तस्यारब्धविपाकेषु न क्लेशाः कारणमित्युक्त तस्य ह्यारब्ध एव विपाक. कर्मणा समाप्यत इति। –यो० वा, पृ० १६५

यदि मनुष्य के द्वारा किए गए कर्मो के कर्माशय बनते हैं तो उन्हे उन कर्मो के फल जन्म, आयु और भोग के रूप में निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं और यदि कर्माशय नहीं बनते हैं तो ये फल प्राप्त होना बंद हो जाता है।

जब शरीर को छोडने का समय आयेगा तो यही हिंसा सम्बन्ध रखने वाले कर्माशय प्रधान रूप से जागेंगे और उसी सारी मनोवृत्तियों के अनुसार वैसी ही किसी हिंसक योनि में उसका अगला जन्म होगा और वैसी ही आयु और भोग होगा। जैसी कहावत है 'अन्त समय जो मति सो गति' तथा गीता और उपनिषद में भी इसी भाव मात्र को व्यक्त किया गया है।[१]

दुःख

विषय–सुख के भोग काल में परिणाम दुःख, ताप–दुख और संस्कार दुःख बना रहता है तथा गुणों के स्वभाव में ही विरोध है, इसलिए विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ (सुख भी जो विषय जन्य है) दुःख ही है।[२]

जिस प्रकार विषय से युक्त स्वादिष्ट पदार्थ भी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए त्यागने योग्य है, इसी प्रकार जिन योगी जनों को सम्पूर्ण क्लेश और उनके विभाग का ज्ञान हो गया है उनके लिए संसार सब विषय, सुखों में दुःख ही दुःख दिखाई देता है, क्योंकि इन सुखों में भी चार प्रकार के दुःख समाहित रहते है। परिणाम दुःख–विषय–सुख के भोग से इन्द्रियों को तृप्ति कभी नहीं प्राप्त होती है, बल्कि जैसे–जैसे मनुष्य विषय और भोग में फंस जाता है वैसे–वैसे उसकी इच्छा और अधिक बलवती होती जाती है।

विषयों के भोग से इन्द्रियाँ कमजोर हो जाती हैं अन्त में इन्द्रियों में विषय–भोग की शक्ति बिल्कुल नहीं रह जाती है और तृष्णा सताती है। यह सुख भी अन्त में दुःख ही है।

१– (क) कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्त्वि है व सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।। – मुण्डक ३/२/२

(ख) यं यं वापिस्मन्भावं त्यजत्यान्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभवितः।। गीता ८/६

२– परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तय विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। २/१५ यो० सू०

विषय सुख को प्राप्त करने के लिए राग–क्लेश उत्पन्न होता है और उनमें जो बाधाएँ उत्पन्न होती हैं उनसे द्वेष क्लेश की उत्पत्ति होती है। इस सुख के समाप्त होने पर दुःख, सुख के भोग काल में भी परेशान करता है। इसलिए यह सुख भी परिणाम में ताप, दुःख ही सिद्ध होता है।

संस्कार दुःख

सुख भोग के जो संस्कार चित्त पर बनते हैं उनसे ही राग की उत्पत्ति होती है। मनुष्य उस राग को प्राप्त करने का प्रयास करता है, इसको प्राप्त करने के लिए जो बाधाएँ आती हैं, उनसे द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राग–द्वेष के भी संस्कार पड़ते हैं। ये संस्कार आवागमन के चक्र में डालने वाले होते हैं, इसलिए यह सुख परिणाम में संस्कार दुःख ही है।

गुण–वृत्ति–विरोध–दुःख

सत्व, रज और तम ये तीनों ही क्रम से प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थित स्वभाव वाले कहे गए हैं। इनकी क्रम से सुःख, दुःख और मोह रूप वृत्तियॉ बताई गई हैं ये तीनों ही गुण परिणामी हैं जब कभी भी सत्व, रजस् और तमस् को दबा लेता है तब सुख वृत्ति का उदय होता है। जब रजस्, सत्व और तमस को दबा लेता है तब दुःख की उत्पत्ति होती है और जब तमस्, सत्व और रजस् को दबा लेता है तब मोह की उत्पत्ति होती है। इन तीनों ही अवस्थाओं में परिणाम युत रहता है, इसलिए इसकी वृत्तियों में परिणाम का होना आवश्यक बताया गया है और सुख के पश्चात् दुःख और मोह का होना स्वाभाविक है। यह गुण–वृत्तियों के विरोध से सुख में दुःख की प्रतीति होती है। जिस प्रकार मकड़ी का जाला भी आँखों में पड़कर बहुत अधिक दुःख प्रदान करता है। इसी तरह योगियों का चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है उनको थोड़ा भी दुःख और क्लेश खटकता है।

प्रश्न उठता है कि जब संसार में दुःख ही दुःख है तो इन दुःखों से छुटकारा कैसे प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् किस दुःख से छुटकारा मिल सकता है और किस दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकता है? जो दुःख भोगा जा चुका है उससे छुटकारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है

इसलिए वह हेय योग्य नहीं हुआ और जो दुःख इस समय भोगा जा रहा है वह भी आने वाले समय में हेय नहीं हो सकता है। इसलिए जो दुःख अभी तक आया ही नहीं है बल्कि भविष्य में आने वाला है जिसका अनुभव भी इस समय नहीं हुआ है वही दुःख हेयता को प्राप्त हो सकता है अर्थात् छोड़ा जा सकता है।

प्रकृति पुरुष संयोग

चित्त में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और बाह्य जगत का भी पडता है। चित्त चेतन पुरुष और बाह्य जगत से अलग होकर ही ग्राह्य, ग्रहण और गृहीतृ आदि सब प्रकार के विषयों का प्रकाशक होता है।

चित्त का स्वभाव है कि वह जिस विषय से उपरक्त होता है उसी के आकार को धारण कर लेता है चित्त जड है और किसी वस्तु के ज्ञान हेतु चेतना आवश्यक है। इसलिए चेतन पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर ही वह किसी वस्तु के आकार को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। चिदाभासित चित्त का जिस बाह्यार्थ का सम्बन्ध होता है, उसी से उपरक्त होकर तदाकाराकारित हो जाता है।

किसी भी वस्तु के ज्ञान काल में चित्त के इन तीनों रूपों की झलक प्राप्त हो सकती है। उदाहरण के लिए "पुष्पमहमनुभवामि" इस अनुभव में पुष्प शब्द ग्राह्य विषय का "अहम्" पद चेतन ग्रहीता का और 'अनुभवामि" शब्द साक्षात्कार स्वरूप अनुभवात्मक चित्त वृत्ति (ग्रहण) का भासक है। इसलिए वह सर्वार्थग्राही है।

वैनाशिक पक्ष की उक्त शङ्का भी अयुक्त ही है, क्योंकि वह (चित्त) संहृत्यकारी होने से असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी परार्थ (पुरुष के अर्थ) हैं।[२] यद्यपि चित्त असंख्य

१– द्र० "योगभाष्यविवृत्ति" – स्वामी ब्रह्मालीन मुनि – पृ० ८३२

२– "तदसंख्येमवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्" – यो० सू० ४/२४

वासनाओं से भरा हुआ है, इसलिए उसी को भोक्ता मानना चाहिए क्योंकि वासना का आश्रय ही भोग का आश्रय भी होता है, ऐसा नियम है किन्तु चित्त स्वयं ही मिलजुल कर कार्य करने वाला होने से दूसरे के लिए है। कहने का तात्पर्य है कि चित्त स्वयं अपने लिए नहीं, वरन् पुरुष के भोग एवं मोक्ष के लिए है। अतः जिसके लिए भोग एवं मोक्ष का सम्पादन होगा, वह पुरुष ही भोक्ता होगा, न कि स्वयं चित्त। चित्त दूसरे के लिए ही है इस बात का प्रमाण उसका संघातकारित्व है। जितने भी संघात है या जितने भी पदार्थ मिलजुल कर कार्य करने वाले है वे सब पदार्थ होते हैं।[1] उदाहरण– गृह, शय्या आसनादि संहत्यकारी होने से अपने लिए नहीं वरन् असंहत्यकारी पुरुष या गृह स्वामी के उपयोग के लिए होता है।

वैनाशिक मत में चित्त ही आत्मा कहा गया है इसलिए वे संहत्यकारी चितान्तर को ही पूर्वचित्त से भोगापवर्ग द्वारा प्रयोजनवान स्वीकार करते हैं। इस तरह से एक संघात को दूसरे संघात के लिए प्रयोजन–युक्त मानने पर तो इस परम्परा का कभी अन्त न होगा, क्योंकि संघात परार्थ ही होता है जिसके लिए चित्त, भोग एवं मोक्ष का सम्पादन करता है, वह यदि पुरुष माना जाएगा तो सारा दोष ही समाप्त हो जायेगा। इसका कारण है कि पुरुष असंहतकारी है इसलिए यह दूसरे के प्रयोजन के लिए नहीं है। फिर सांख्य योग के मत में चित्त जड़ है। इसलिए उसके द्वारा सम्पादित भोग एवं मोक्ष का फल भोक्ता, चित्त से दूसरा चेतन पुरुष ही सिद्ध होता है। वही एक मात्र निरवय भी है।

संयम और उसकी सिद्धियाँ–

संयम का शाब्दिक अर्थ है नियन्त्रित करना। धारणा, ध्यान और समाधि ये अंतरङ्.ग साधन कहे गए है ये तीनों ही जब एक आलम्बन का आश्रय लेते है तब संयम ने नाम से जाने जाते हैं। इसलिए इन तीनों को शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार संयम कहा जाता है। उस संयम को

१– "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यर्थं "प्रवृत्तेश्च।।" ईश्वर कृष्ण सांख्य कारिका नं० १७।

जीतने से योगी को प्रज्ञा का प्रकाश होता है। जैसे–जैसे संयम दृढ़तर होता जाता है। वैसे–वैसे समाधि प्रज्ञा निर्मलतर होती जाती है।

वास्तव में संयम का ध्यान रखना आवश्यक है। जब धारणा, ध्यान एवं समाधि एक ही विषय से युक्त हो तभी उसकी संयम संज्ञा होती है। यदि धारणा अन्य विषयिणी हो, ध्यान अन्य विषयक हो और समाधि किसी अन्य विषय की लगाई जाय तो ऐसी अवस्था में इन तीनो के लिए संयम शब्द का व्यावहार नहीं किया जा सकता है वैसे समाधि कहने से ही धारणा एवं ध्यान का समावेश हो जाता है। क्योंकि समाधि धारणा एवं ध्यान पूर्वक ही होती है। धारणा की वे प्रकृष्टावस्था में ध्यान और ध्यान की उत्कृष्टावस्था मे समाधि का स्वतः आविर्भाव हो जाता है।

योग साधना की वह अवस्था जिसमें संयम प्राप्त किया जा चुका हो वह चित्त भूमि ही उत्तम भूमि हो कहलाती है।

धर्म लक्षणा

जिस प्रकार चित्त के धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते है इसी प्रकार पाँच भूतों और इन्द्रियों में भी होते है। यद्यपि पहले के चार सूत्रों में धर्म, लक्षण और अवस्था–परिणाम का नाम वर्णित नहीं फिर भी उसमें चित्त के परिणाम दिखाए गए हैं।

धर्मी के अवस्थित रहते हुए भी पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर उसके अन्य धर्म की प्राप्ति होना ही धर्म–परिणाम है। धर्मी चित्त के दो धर्म व्युत्थान संस्कार और निरोध–संस्कार में से व्युत्थान संस्कार का दबना और निरोध संस्कार का प्रकट होना धर्मी–चित्त का धर्म परिणाम है। मृत्तिका रूप धर्मी का पिण्ड रूप धर्म को छोड़कर घट रूप धर्म को स्वीकार करना उसका धर्म परिणाम है।

चित्त रूप धर्मी में स्वरूपतः कोई अन्तर न आते हुए[१] जो उपर्युक्त समाधि, एकाग्रता एवं निरोध परिणाम होते हैं वे ही परिणाम धर्म कहलाते हैं क्योंकि उन अवस्थाओं में चित्त के एक

१– न हि चित्तं धर्मि संप्रज्ञातावस्थायामसंप्रज्ञातावस्थायां

च संस्काराभिभव प्रादुर्भावयोः स्वरूपेण भिद्यत इति। –त० वै०, पृ० २८७

धर्म का अभिभव एवं अन्य धर्म का प्रादुर्भाव होता है।[1] विज्ञान भिक्षु ने अपने मन्तव्य में लिखा है कि धर्म–विशेष द्वारा अनागतादि लक्षण का त्याग करके वर्तमानादि लक्षण को प्राप्त करना लक्षण परिणाम कहा जाता है।[2] जैसे–व्युत्थान के संस्कारों का अभिभव होने पर जो निरोध के संस्कार प्रादुर्भूत होते है। वे अपने अनागत लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त करते हैं और अभिभूत हुए वर्तमान के संस्कार अपने वर्तमान लक्षण को त्याग कर अतीत लक्षण को प्राप्त हो जाते हैं। यह लक्षण–परिणाम जबकि अतीत अनागत एवं वर्तनान रूपों वाला है, धर्म का होता है।[3]

विदेहा–वृत्ति

शरीर के बाहर चित्त की अकल्पित वृत्ति महाविदेह कही जाती है उससे ज्ञान के आवरण का भी नाश हो जाता है।[4] यहाँ पर चित्त के ज्ञान को ढकने वाले क्लेश, कर्म और विपाक के संस्कारों का नाश करने वाली "महाविदेहा धारणा" रूपिणी सिद्धि के विषय में बताया जा रहा है। इस सिद्धि का साधन संयम ही है। संयम के विषय में जो कुछ भी बताया गया है उनको (मन की कल्पना के द्वारा) बुद्धि के अन्दर सन्निविष्ट करके शरीर के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित किया जाता था, किन्तु इस संयम में मन को शरीर के बाहर किसी विषय में स्थित किया जाता है। जब शरीर के बाहर मन को स्थापित किया जाता है, तब विदेहा नाम की धारणा बनती है। इस विदेहा धारणा की साधारण स्थिति में मन बाहर स्थित रहने पर भी योगी के शरीर से निरपेक्ष नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर से उसका सम्बन्ध बना रहता है, किन्तु जब बाहर स्थापित यह मन सर्वथा शरीर सम्बन्ध निरपेक्ष हो जाता है अर्थात् बाहर ही 'अस्मीति' अर्थात् "मैं यहाँ हूँ"–इस प्रकार की भावना वाला कर लिया जाता है, तब यह मनोवृत्ति 'महाविदेहा' नाम की धारणा कही जाती है।

१– अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मतिरोभावे धर्मान्तरप्रादुर्भावस्यैव धर्मपरिणामत्वमिति भावः। –यो० वा०, पृ० २६७

२– अवस्थितस्य धर्मस्यानागतादिलक्षणत्यागे वर्तमानादिलक्षणलाभः। –यो० वा०, पृ० २६७

३– धर्माणां चातीतानागतवर्तमानरूपता लक्षणपरिणामः। –त० वै०, पृ० २६३

४– बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा, ततः प्रकाशावरणक्षयः –३/४३ या० सू०

भूतजय

भूतों के स्थूल शब्दादि रूप, स्व (सामान्य) रूप, सूक्ष्म (तन्मात्र) रूप, अन्वय (त्रिगुण) रूप और अर्थवत्ता (भोगापवर्गसम्पादन) शक्ति रूप में किए गए संयम से योगी को भूतजय (सिद्ध) होता है।[1] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश का अपना–अपना विशिष्ठ आकार ही उसका स्थूल रूप है। यही भूतों का पहला रूप कहा गया है। भूतों का दूसरा रूप उनका अपना–अपना नियत धर्म है जिनके द्वारा वे जाने जाते हैं। जैसे–पृथ्वी की मूर्ति और गन्ध, जल का स्नेह, अग्नि की उष्णता, वायु की गति या कम्पन और आकाश का अवकाश देना स्वरूप है। इस सामान्य के ही शब्द इत्यादि विशेष हैं वैसे ही यह भी कहा गया है–एक सामान्य में समन्वित होने वाले इन (पृथिवी इत्यादि का) शब्दादि धर्मों से अलगाव स्पष्ट होता है। इस शास्त्र में सामान्य और विशेष का समुदाय 'द्रव्य' (माना गया) है। समूह दो प्रकार का होता है– पहला शब्दों से अप्रकटित भेदों वाले अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह का एक भाग देवता है और दूसरा मनुष्य, इन्हीं दोनों से यह (देव, मनुष्य) समूह बना हुआ कहा जाता है और वह समूह[2] विवक्षित भेद वाला और अविवक्षित भेद वाला होता है। आमों का वन, ब्राह्मणों का संघ और आम्रवन तथा ब्राह्मण संघ। यह समूह पुनः दो प्रकार का बताया गया है पहला युत सिद्ध अवयवों वाला और दूसरा अयुत सिद्ध अवयवों वाला। युतसिद्धावयवों वाला समूह है वन या संघ। अयुत सिद्ध अवयवों वाला समूह शरीर या वृक्ष या परमाणु है।

अयुत सिद्ध (अपृथक्करणीय) अवयव भदों में अनुगत रहने वाला समूह द्रव्य है। ऐसा पतञ्जलि का मत है। यही भूतों का स्वरूप कहा गया है। इसके पश्चात सूक्ष्म रूप के विषय में बताया जा रहा है। भूतों का कारणभूत तन्मात्रा ही उनका सूक्ष्म रूप है। उस भूतों का अवयव परमाणु है जो स्वयं सामान्य विशेषात्मक और अयुत सिद्ध अवयव भेदों में अनुगत समूह रूप द्रव्य

१– स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद्भूताजयः।

२– अयुत्सिद्धावयव भेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः – यो० भा० ३/४४

है। इसी प्रकार सभी तन्मात्राएँ भी समुदाय रूप द्रव्य कहे गये हैं। यह भूतों का तीसरा सूक्ष्म रूप है। भूतों का चौथा रूप प्रख्या प्रवृत्ति और स्थिति के स्वाभावों का चौथा—रूप प्रख्या प्रवृत्ति और स्थिति के स्वाभावों वाले तथा अपने कार्यों के स्वाभावों में अनुपतन करने वाले सत्वादि तीनों गुण ही अन्वय शब्द के द्वारा कहे गए हैं। इन भूतों का पॉचवॉ रूप 'अर्थवत्व' तीनों गुणों में विद्यमान 'भोगापवर्गप्रयोजनता, क्योंकि ये गुण तन्मात्रों, भूतों और भौतिक पदार्थों में वर्तमान ही हैं इसलिए ये सभी पदार्थ अर्थवान हुए। अब इन पॉचों रूप वाले, इन पाँचों भूतों में किए गए संयम से भूतों के उन रूप का साक्षात्कार और उन पर विजय मिलती है। इस पञ्चभूत जय से पाँचों भूत और उनकी प्रकृतियाँ (अर्थात् तन्मात्राएँ) बछडे का अनुसरण करने वाली गायों की तरह इस योगी की इच्छाओं की पूर्तिकारिणी होती है।

इन्द्रियजय

भूतों की पाँच अवस्थाओं की तरह इन्द्रियों की भी पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं जो क्रमशः ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय एवं अर्थवत्व के नाम से जानी जाती हैं।

ये इन्द्रियाँ ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषयों का ज्ञान कराती है और ग्रहणावस्था के नाम से जानी जाती हैं।[1] सांख्य एवं योग दर्शन के अनुसार इन्द्रिय रूपी नलिकाओं के माध्यम से चित्त बाहर आकर विषयकाराकारित हो जाता है। उसके बाद ही उसे निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए पहले इन्द्रियाँ तदाकाराकारित होती है। उसके बाद ही उसे निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए पहले इन्द्रियॉ तदाकाराकारित होती हैं फिर चित्त। इन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का ग्रहण किया जाता है। वह उनके सामान्य और विशेष दोनों ही विषयों का किया जाता है। यदि इन्द्रिय निरपेक्ष मन के द्वारा वस्तुओं के विशेष रूपों का ज्ञान माना जाएगा तो फिर किसी व्यक्ति की नेत्र—ज्योति अर्थात् चक्षु इन्द्रिय न होने से जो अन्धा कहा जाता है या उसे पदार्थ का दर्शन नहीं होता। ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है।[2] इसलिए सिद्ध होता है

१— सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्य, तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम्। — व्या० भा०, पृ० ३७४

२— बाह्येन्द्रियतन्त्रं हि मनो बाह्ये प्रवर्तते, अन्यथान्धबधिराद्यभावप्रसङ्.यात्। त० वै०, पृ० ३७४

कि इन्द्रियों के द्वारा सामान्य और विशेष दोनों रूप का ज्ञान होता है।

प्रकाशात्मक महत् का अयुतसिद्ध अवयव रूप परिणाम ही सात्विक अहड्.कार है। उसमें कार्य रूप से अनुगत सामान्य विशेषात्मक द्रव्यविशेष ही इन्द्रिय कहा जाता है।[1] यही इन्द्रियों की स्वरूप नामक द्वितीय इन्द्रिय कही गयी है।

इन्द्रियों की तीसरी अवस्था को अस्मिता नाम से पुकारा गया है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का सामान्य रूप से जो कारण है, वही अहड्.कार, इन विशिष्ट इन्द्रियों की तीसरी अवस्था है ऐसा वाचस्पति मिश्र का कहना है।[2] विज्ञान भिक्षु स्वमन्तव्य में उद्घृत करते हैं कि अहड्.कार शब्द का प्रयोग करने के कारण किसी को अभिमान नामक वृत्ति का बोध न हो जाये। इसी निराकरण के लिए भाष्यकार ने इस शब्द को उद्धृत करते हुए 'अस्मितः लक्षण' विशेषण भी प्रयुक्त कर दिया है।[3]

प्रकाश, क्रिया एवं स्थितिशील गुणों की व्यवसायात्मक और अव्यवसायत्मक नामक दो परिणाम होते हैं। व्यवसायात्मक के रूप में बदले हुए तीनों गुण अर्थात् गुणत्रय ग्राह्याकार तन्मात्र, भूत और भौतिक पदार्थ हाते हैं और व्यवसायात्मक रूप में बदले, गुणत्रय अहड्कार और एकादश इन्द्रियॉ होती हैं इसलिए व्यवसायात्मक रूप में बदले होने वाले गुणत्रय ही इन्द्रियों की चतुर्थावस्था माने जाते हैं।[4]

पुरुष के भोग एवं मोक्ष को सम्पन्न करना रूप जो प्रयोजन है, वही गुणों की पुरुषार्थवत्ता है, यही इन्द्रियों की पंचम अवस्था बताई गई है।[5] इन्द्रिय जय से प्राप्त होने वाली सिद्धियों के रूप में मनोजयित्व, विकरण भाव और प्रधान जय होता है।[6] मनोजयित्व की प्राप्ति हो जाने पर शरीर

१– स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वमिस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयव भेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम्। –व्या० भा०, ३७४

२– अहड्कारो हीन्द्रियाणां कारणमिति यत्रेन्द्रियाणि तत्र तेन भवितव्यमिति। – त० वै०, पृ० ३७५

३– तत्राभिमानाख्यवृत्तिभ्रमनिरासायास्मिता लक्षण इति विशेषणाम्। – यो० वा०–पृ० ३७६

४– चतुर्थरूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहंकाराणि परिणामः। – व्या०भा०,पृ०३७४

५– पञ्चम रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति। – व्या०भाव, पृ० ३७४

६– ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च। – यो० सू० ३/४८

मन के समान तीव्र गति वाला हो जाता है, ऐसा विज्ञान भिक्षु ने अपनी ही वाणी के द्वारा स्पष्ट किया है।[1] विकरण भाव की सिद्धि हो जाने के बाद साधक का शरीर एक जगह पर रहते हुए भी बहुत दूर के प्रदेशों में अतीत और अनागत काल के अत्यन्त छोटे पदार्थ को भी देखने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है अर्थात् शरीर निरपेक्ष हो उसकी इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में समर्थ हो जाती है, इसलिए इसको विकरण भाव कहा गया है।[2]

सम्पूर्ण इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं संयम के द्वारा जीत लेने के बाद साधक प्रधान जय नामक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। जिसके फलस्वरूप प्रकृति के सम्पूर्ण विकार उसके वश में हो जाते हैं, वाचस्पति के अनुसार इसी को प्रधान जय के नाम से पुकारते हैं।[3]

विवेक ज्ञान निरूपण

क्षण और उनके क्रम में किए गए संयम से भी विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रश्न उठता है कि क्षण किसे कहते हैं। क्षण के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार द्रव्य का सबसे छोटा विभाग जो भाग रहित है, वह परमाणु है। उसी प्रकार समय की सबसे छोटी विभाग रहित गति ही क्षण है या जितने समय में चलाया गया परमाणु एक देश को छोड़कर दूसरे देश को प्राप्त हो जाता है वह समय लगातार की मात्रा ही क्षण कहलाती है। उन क्षणों के प्रवाह का लगातार बहना ही क्रम कहलाता है।

क्षण और उसका क्रम दोनों एक वस्तु नहीं है। ये बुद्धि के निर्माण किए हुए मुहूर्त, दिन, रात, मास आदि होते हैं। वस्तु से शून्य होते हुए भी काल को शब्द–ज्ञान के पीछे विकल्प से व्यवहार में लोग वस्तु के समान जानते हैं। क्षय, क्रमाश्रित होने से ही कोई वस्तु नहीं है। एक क्षण के बाद दूसरा क्षण आना क्रम कहलाता है। योगी जन इसी को काल कहते हैं। दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते और क्रम से भी दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते, क्योंकि पूर्व वाले क्षण से उत्तर वाले

१– अनुत्तमो मनोवच्छीघ्रतरः कर्मेन्द्रियवृत्तिविजयाद् भवति। – यो० वा०, पृ० ३७७

२– विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः। – व्या० भा०, पृ० ३७६

३– सान्वयेन्द्रियजयात्सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजयः। – त० वै०, पृ० ३७६

क्षण का अन्त न होना ही क्षणों का क्रन हैं। इसलिए वर्तमान ही एक क्षण है, पूर्व और उत्तर क्षण नहीं हैं। इसलिए इन दोनों का एकत्व भी नहीं है। अतीत और अनागत क्षण वर्तमान क्षण का ही परिणाम कहने योग्य है। उस एक वर्तमान क्षण से ही सम्पूर्ण लोक परिणाम होते हैं। सब धर्म उस एक क्षण के ही आश्रित हैं। इसलिए क्षण और उसके क्रम में संयम करने से इन दोनों का साक्षात्कार पर्यन्त विवेकज–ज्ञान उत्पन्न होता है।

भाव यह है कि जैसे–नैयायिक सबसे छोटे निर्विभाग पदार्थ को परमाणु मानते हैं वैसे ही योगाचार्य सत्वादि के एक परिणाम–विशेष को द्रव्य रूप क्षण मानते हैं। क्षणों के प्रवाह का अविच्छेद अर्थात् पूर्वाभाव होना क्रम कहलाता है। पर यह क्रम वास्तव में सत्य नहीं है, यह कल्पना पर आश्रित है, क्योंकि दो अगले पिछले क्षणों का एक समय में समाहार होना असम्भव हैं। इसलिए घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, मास वर्ष आदि रूप काल भी वास्तव में वस्तु शून्य है। इनमें विकल्प से व्यावहार हो रहा है। वास्तव में एक वर्तमान क्षण ही सत्य है। उसी एक क्षण का परिणाम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बताया गया है। ऐसा जो एक वर्तमान क्षण है और उसका जो यह कल्पित क्रम हैं, उसमें संयम करने से विवेक–ज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेक ज्ञान की रूपरेखा क्या है यह किस तरह से किसी दो पदार्थों या व्यक्ति का अलग–अलग ज्ञान कराता है, इस सन्दर्भ में विचार निम्नवत् है। जाति, लक्षण और देश के द्वारा भिन्नत्व का निर्धारण न होने से समान रूपों का अलग–अलग ज्ञान विवेक द्वारा ही होता है।[१] पदार्थो के, एक दूसरे से भेद निश्चित कराने के कारण जाति, लक्षण और देश होते हैं। जैसे–एक देश में समान लक्षण अर्थात् काले रंग की और एक मैंस हो तो उन दोनों में जाति से भेद है। जाति और देश समान होने पर जैसे एक चितकबरी गाय है और एक लाल गाय हो, उनका भेद लक्षण से होता है। जाति और लक्षण समान होने पर जैसे–दो आँवले समान जाति और लक्षण के हो तो उनका पूर्व देश व उत्तर देश से अन्तर या भेद जाना जाता है। जिसने इस दोनों आँवले को पहले देखा है, उसकी दृष्टि बचाकर यदि कोई पूर्व देश के आँवले को उत्तर देश में और उत्तर देश के आँवले को पूर्व देश में रख दें तो तुल्य देश होने पर इन दोनों में संशय रहित यथार्थ ज्ञान द्वारा

यह विभाग निश्चय नहीं हो सकता कि यह पूर्ववाला है यह उत्तर वाला है इसका निश्चय विवेक ज्ञान से हो सकता है। यह ज्ञान योगी को विवेक ज्ञान से किस प्रकार होता है? इसको भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि उत्तर ऑवले के क्षण सहित देश से पूर्व ऑवले का क्षण–सहित देश भिन्न है। जब वे आँवले अपने देश, क्षण, अनुभव में भिन्न है तब उन दोनों के देश, क्षण, का अनुभव उन दोनों के भेद का कारण है। इसी दृष्टान्त की तरह समान जाति, लक्षण, देश के परमाणुओं में पूर्व देश वाले परमाणु का वह देश निश्चय न होने पर उत्तर वाले के देश का भिन्न अनुभव क्षणों सहित भेद से होता है। उन दोनों देश–क्षण–सहित परमाणुओं के ज्ञान में समर्थ योगी ही को उन दोनों के भेद का ज्ञान होता है।

विवेक ज्ञान तारक, सर्वविषयक, सर्वथा विषयक ओर अक्रम होता है।[1] यहाँ तारक[2] शब्द 'तृ' धातु णिच् सूत्र ण्वुल प्रत्यय से निष्पन्न होता है। यह प्रथम पुरुष एक वचन का शब्द है। यहाँ पर 'तारक शब्द का अर्थ है 'तारयतीति तारकम्' अर्थात् संसार रूपी सागर से प्राप्त कराने वाला या उद्धार करने वाला होता है। इसकी उत्पत्ति होने पर सब पदार्थों का एक साथ ज्ञान हो जाता है, इसलिए सब विषयों के लिए दोष दर्शन, वैराग्य की सुदृढ़ता, विवेक ख्याति में निखार और निर्विप्लवता का होना सुनिश्चित ही रहता है। इसलिए सर्वथा विवेक ख्याति अर्थात् धर्ममेध समाधि को पुष्ट करता हुआ यह कैवल्य को निश्चित ही करता है। इसलिए विवेक ज्ञान को तारक कहा गया है।[3] सर्वविषय होने के कारण कुछ भी इसका अविषय नहीं रहता है अर्थात् सम्पूर्ण विषय ही इसको प्राप्त हो जाते हैं कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं रह जाता है जो उसकी विषयता के अन्तर्गत न हो।[4] सर्वथा विषय का अर्थ है कि भूत, भविष्यद् और वर्तमान सब को सभी रूप में जानने

१– (क) तारकंसर्व विषयं सर्वथाविषयमक्रम चेति विवेकजं ज्ञानम्, त० वै० ३/५४
(ख) संसारसागरात्तारयतीति तारकम्। त० वै०, पृ० ३८७

२– 'तारयत्यगाधात्संसारसागराद्योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमित्युच्यते। – रा० म० वृ०, पृ० ८४

३– यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयादिरूपम्, अतः सर्वत्र दोषसाक्षात्कारेणोक्तवैराग्य द्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः।' –यो० वा०, पृ० ३८८

४– ''नास्य क्वचित्कथञ्चित्कदाचिदगोचर इत्यर्थः।'' – त० वै०, पृ० ३८२

लगता है। अक्रम का अर्थ यह है कि एक ही क्षण में उपस्थित सबको सब प्रकार से ग्रहण करता है। यह विवेक जन्य ज्ञान परिपूर्ण होता है, क्योंकि मधुमती से लेकर जहाँ तक इस योग प्रदीप की परिसमाप्ति होती है वह योग प्रदीप इसी का अंश है।

कैवल्य विचार

कैवल्य को ही मोक्ष तथा निर्वाण भी कहा जाता है। गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति होने पर पुरुष को कैवल्य प्राप्त होता है। महर्षि पतञ्जलि ने कैवल्य के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए सूत्र का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है –

"पुरुषार्थ शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्[1]

स्वरूप प्रतिष्ठा वा चित्शक्तेरिति।।"

अर्थात् पुरुष के प्रयोजन से शून्य गुणों का स्वकारण में विलय या चितिशक्ति (पुरुष) की अपने स्वरूप में अवस्थिति को ही कैवल्य बताया है।

'विवेकख्याति' और 'क्षण क्रम' में किए गए संयम से होने वाली 'विवेक ज्ञान' रूपी सिद्धि की कैवल्य के प्रति कारणता है कि नहीं ? इसका निर्णय करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि विवेकजज्ञानरूपी सिद्धि को प्राप्त कर लेने वाले या इस विवेकज ज्ञान रूपी सिद्धि को भी न प्राप्त करने वाले को केवल विवेक ख्याति मात्र से ही कैवल्य प्राप्त हो जाता है। 'विवेक ख्याति' ही कैवल्य प्रदान करती है वही कैवल्य के लिए हेतु है। विवेकख्याति जन्य 'विवेकजज्ञान' रूपी सिद्धि चाहे योग को प्राप्त हुई हो, चाहे न हुई हो इससे कैवल्य लाभ में अन्तर नहीं आता। कैवल्य की प्राप्ति तो विवेक ख्याति से ही होती है।

बुद्धि और पुरुष दोनों की शुद्धि का स्वरूप क्या है। इसको स्पष्ट किया जा रहा है कि पुरुष की शुद्धि का स्वरूप है 'उपचरित भोगों का भी अभाव' और बुद्धि की शुद्धि का स्वरूप है। 'पुरुष'

१– यो० सू० ४/३४ भोज ने 'चितिशक्तिरिति' ऐसा पाठ माना है। अन्यत्र चितिशक्तिरिति ऐसा पाठ मिलता है।

की बुद्धि में भिन्नता की ख्याति के रूप का होना। इस बुद्धि, शुद्धि और पुरुष शुद्धि के समान होने पर अर्थात् दोनों के समान रूप से शुद्ध हो जाने पर कैवल्य होता है।

चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर ही कैवल्य होता है।[1] सत्व–चित्त का पुरुष के समान शुरू होना है। इसका अर्थ है कि पुरुष में रजस् और तमस की अनुभूति न रह जाये जिससे वह पुरुष और चित्त का भेद दिखलाकर गुणों के परिणामों का वास्तविक ज्ञान कराकर पुरुष को अपना स्वरूप साक्षात् दिखा सके। पुरुष की शुद्धि यह है कि चित्त में आत्म अध्यास के कारण उसके भोग को अपना सनझ रहा था। उसका चित्त और पुरुष के भेद के यथार्थ ज्ञान से हमेशा के लिए अभाव हो जाता है। अविद्या के नाश से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश दग्धबीज के समान नष्ट हो जाते हैं। उनके न रहने पर सकाम कार्यों का भी अभाव हो जाता है। सकाम कार्यों के अभाव से, उनकी वासना से, फल की भावना का वृक्ष पैदा नहीं होता। वृक्ष के अभाव में उसके फल, जन्म आयु और भोग भी नहीं प्राप्त होते हैं फिर उनका स्वाद दुःख, सुख भी नहीं मिल सकता है। इस तरह गुणों का प्रयोजन, पुरुष का भोग–अपवर्ग भी समाप्त हो जाता है। इसी को कैवल्य कहते हैं। कैवल्य ही को अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, स्वरूपावस्थिति, गुणाधिकार, समाप्ति परमधाम और परमपद भी कहते हैं।

पञ्चसिद्धियाँ

योग का मुख्य प्रयोजन कैवल्य को प्राप्त करना है, जिसके यथार्थ स्वरूप का विशिष्ट विवरण कैवल्य पाद में दिया गया है। कैवल्य का निर्णय चित्त एवं चिति पर निर्भर है। इस तरह पॉच प्रकार के सिद्ध चित्तों मे कैवल्योपयोगी चित्त के निर्धारण के लिए सूत्रकार ने कैवल्य पाद में सबसे पहले पॉच प्रकार की सिद्धियों का निरूपण किया गया है।

अतः पञ्च प्रकार की सिद्धियों के पाँच मूल हैं अर्थात् सिद्धियाँ पाँच हेतुओं से उत्पन्न होती है–जन्म से, औषधि से, मन्त्र से, तप से और समाधि से।[1] इसलिए निमित्त भेद के कारण सिद्धियाँ

१– सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। – यो० सू०, ३/५५

२– "जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।" – यो० सू० ४/१

भी पाँच प्रकार की होती हैं–

(१) जन्म से प्राप्त सिद्धियाँ

देहान्तर में प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ ही जन्मना सिद्धि कहलाती है। इस प्रकार की सिद्धियाँ पूर्व जन्म में किए गए किसी कर्म विशेष से अभिव्यक्ति के फलस्वरूप इस जन्म में प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए–पक्षियों को आकाश में उड़ने की शक्ति स्वभावतः जन्म से ही प्राप्त होती है। भगवान कपिल जन्म से ही दिव्य ज्ञान से युक्त थे। विज्ञान भिक्षु के अनुसार लौकिक कर्मों के परिणाम स्वरूप देवादि अन्य (मनुष्येतर) देहो, जो जन्म मात्र से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उन्हें जन्मजात सिद्धियाँ कहा जाता है।[1]

(२) औषधि जन्य सिद्धियाँ

किसी रसायन–विशेष के प्रयोग से जो सामर्थ्य विशेष की प्राप्ति होती है अथवा वस्त्वन्तर परिणाम किया जा सकता है। उसे औषधिजन्य सिद्धियाँ कहते हैं।[2] प्राचीन काल में सोमरस पान और अन्यान्य औषधियों के सेवन से काया कल्प द्वारा जरा पूर्ण शरीर को पुनः युवा बनाने आदि का प्रचलन था। संजीवनी औषधि सबसे प्रसिद्ध है। जिसे हनुमान जी ने लक्ष्मण के लिए शक्ति अस्त्र पर प्रयोग किया था। आधुनिक युग में सम्पूर्ण शरीर को शव के तुल्य करने के लिए क्लोरोफार्म का प्रयोग किया जाता है। विज्ञान भिक्षु तथा भाष्यकार के मतानुसार–रसायनादि का प्रयोग असुर भवन में भी होता है।[3]

(३) मन्त्र से उत्पन्न सिद्धियाँ

नाना प्रकार के मन्त्रों के उच्चारणाभ्यास से साधक को आकाश मार्ग में गमन करने की आदि विभिन्न सिद्धियों के द्वारा प्राप्त हो जाती है। उन्हें ही मन्त्रणा सिद्धियाँ कहा गया है।

१– ऐहिकेन कर्मणा देवादिदेहान्तरे जन्ममात्रेण भवन्ती अणिमादिसिद्धिर्जन्मजेत्यर्थः। – यो० वा०, पृ० ३६७

२– ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादि। – व्या० भा०, पृ० ३६८

३– असुरभवनेष्विति प्रायिकाभिप्रायेणोक्तम्। – यो० वा०, पृ० ३६७

(४) तप से उत्पन्न सिद्धियाँ

तप के द्वारा अशुद्धि के दूर हो जाने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।[1] चित्त में तप के द्वारा साधक संकल्प सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।[2] जिसके परिणामस्वरूप वह स्वेच्छा से ही अणिमा आदि शक्तियों को तुरन्त प्राप्त कर लेता है।

(५) समाधि से उत्पन्न सिद्धियाँ

समाधि से उत्पन्न हुआ चित्त ही कैवल्य प्राप्ति के योग्य होता है। इन पाँचों सिद्धियों में ही कैवल्य प्राप्ति के योग्य होता है। इन पॉचों सिद्धियों में समाधि–जन्य सिद्धि ही सबसे उत्तम है क्योंकि समाधि के द्वारा ही साधक अपने चरम लक्ष्य कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

चतुर्विध कर्म

प्रत्येक प्राणी हर समय कुछ न कुछ कर्म करता रहता है, जिसका फल वह अपने आगामी जीवन या जन्मान्तर में प्राप्त करता है। वर्तमान जन्म भी पूर्वकृत कर्मों का ही परिणाम है। योगी के कर्म को पाप–पुण्य से रहित बताया गया है।[3] अतः कर्मों के चार भेद हुए–पापात्मक (कृष्ण), पुण्यपापात्मक (शुक्ल–कृष्ण), पुण्यात्मक (शुक्ल), पुण्य और पाप रहित (अशुक्ल–अकृष्ण)[4]। यहाँ पर शुक्ल शब्द श्वेत का वाचक होने के कारण पुण्यात्मक शब्द के लिए प्रयुक्त किया गया है क्योंकि सात्विक कर्मों से ही पुण्य संस्कार उत्पन्न होता है और कृष्ण शब्द का अर्थ काला होता है। अतः पाप संस्कार के लिए कृष्ण शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि सात्विक कर्मों से ही पुण्य संस्कार उत्पन्न होता है और कृष्ण शब्द का अर्थ काला होता है। अतः पाप संस्कार के लिए कृष्ण शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि सात्विक कर्मों से ही पुण्य संस्कार उत्पन्न होता है और

१– तपसा संकल्पसिद्धः। – व्या०, वा०, पृ० ३६६

२– कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

३– कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। – यो० सू० ४/७

४– चतुष्पदा खल्वियं कर्मजातिः। कृष्णा शुक्लकृष्णा शुक्लाऽशुक्ला कृष्णश्चेति। – व्या० भा०, पृ० ४०४

कृष्ण शब्द का अर्थ काला होता है। अतः पाप संस्कार के लिए कृष्ण शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि सात्विक कर्मों से ही पाप संस्कार की उत्पत्ति होती है।

(१) कृष्ण कर्म

ये कर्म दुरात्माओं के द्वारा सम्पादित किए जाते हैं।[1] विज्ञान भिक्षु का मत है कि ये तमोवर्धक होने के कारण दुःखदायी होते हैं।[2] दास गुप्त एवं मानस के भेद दो प्रकार के कृष्ण कर्म मानते है। बाह्य कार्य से तात्पर्य झूठ बोलना, दूसरों का धन अपहरणादि मानते हैं। मानस कर्म से तात्पर्य, श्रद्धा, वीर्य आदि शुक्ल कर्मों के विरोधी से है।[3]

शुक्ल

ये मात्र मानसिक कर्म होने के कारण, बाह्य साधनों के अभाव में पर–पीड़ादि से रहित होते हैं, इनका सम्पादन तपस्वी या स्वाध्यायशील उच्च कोटि के साधकों द्वारा किया जाता है।[4] विज्ञान भिक्षु के मत में क्योंकि ये कर्म सत्त्ववर्धक है। इसलिए सुख फल देने वाले हैं।[5] दास गुप्ता ने इन्हें धार्मिक कर्म माना है।[6]

शुक्ल कृष्ण कर्म

जो कर्म सामान्य लोगों के द्वारा पूर्ण किए जाते हैं अर्थात् सामान्य लोगों के द्वारा जो कर्म सम्पन्न किए जाते हैं वे शुक्ल और कृष्ण प्रकार के कर्म कहलाते हैं।[7] यद्यपि अच्छे उद्देश्य क

१– तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्। –व्या० भा०, पृ० ४०४।

२– कृष्ण दुःखफलदा, तमोवर्धकत्वात्। –यो० वा० ४०५

३- These are of two kinds viz bāhya and Mānasa, the former being of the nature of speaking ill of others, stealing other's property, etc and the latter of the nature of such states as are opposed to sraddha, virya, etc; which are called the sukla karma,

—Das Gupta S.N., Y.P.R.p. 102

४– शुक्ला तपः स्वाध्यायध्यानवताम्। सा हि केवले मनस्यायतत्वाद बहिः साधनानधीना न परान्पीडयित्वा भवति। –व्या० भा०, पृ० ४०४

५– शुक्ला, सुखफलदा, सत्त्ववर्धकत्वात्। यो० वा०, पृ० ४०५

६- The sukla karmas are virtuous or meritorious deeds Dass - Guptta, S.N. 4 P.R. —P. 103

७– शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम् – यो० वृ०, पृ० ४३४

लिए भी किए गए हों तथापि कर्म क्योंकि बाह्य साधनों का आश्रय लेकर किए जाते हैं इसलिए इनके द्वारा दूसरे प्राणियो को किसी न किसी प्रकार की हानि पहुँचती ही है। इसलिए शुक्ल के साथ–साथ इसका कृष्णत्व भी बताया गया है।[1] दास गुप्ता के अनुसार "वैदिक यज्ञादि भी जो शुक्ल कर्म कहे जाते हैं पशु हिंसा आदि के कारण कृष्णत्व युक्त ही होते है।[2]

अशुक्लाकृष्ण

जो कर्म पहले कहे गए कर्मों से भिन्न होते हैं। वे योगियों के द्वारा सम्पादित कर्म कहलाते हैं क्योंकि पहले बताए गए तीनों कर्मों के कर्माशय बनते हैं, परन्तु योगियों के द्वारा किए गए कर्मों के कर्माशय नहीं बनते हैं और कर्माशय न बनने के कारण उन्हें किसी प्रकार का कर्म नहीं प्राप्त होता है। अतः संन्यासित के समस्त क्लेश क्षीण हो जाते हैं। इसलिए उनके कर्म आगे के जन्मों में फल को उत्पन्न करने के लिए कर्माशय नहीं बनाते हैं क्योंकि कहा गया है क्लेश मूलक कर्म ही दृष्ट एवं अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं। विज्ञान भिक्षु ने कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है कि विहित अथवा निषिद्ध कर्म यदि अभिमान पूर्वक किए जायं तभी क्रमशः स्वर्गादि शुभ एवं पीड़ादि अशुभ फल को प्रदान करते हैं परन्तु संन्यासी इस कर्त्तव्य के अभिमान से रहित हो कर्म करता है। अतः वे कर्म उसे फल नहीं देते यही कारण है कि वे अशुक्ला कृष्ण कहे जाते हैं।[3]

योगियों के अलावा जो तीन प्रकार के कर्म हैं उनसे कर्माशय बनता है। जो जाति, आयु और भोग रूपी फल प्रदान करता है। वह दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय भेद से दो प्रकार के होते हैं–

वाचस्पति मिश्र के अनुसार जो कर्म इसी जन्म में फल प्रदान करते हैं। चाहे वह पाप कर्म हो या पुण्य कर्मों का फल हो। उसे दृष्टजन्मवेदनीय कहा जाता है। जिस कर्माशय का फल

१– शुक्लकृष्णा बहिः साधनसाध्या, तत्र परपीडनुग्रह द्वारेणैव कर्माशयप्रचयः। – व्या० भा० पृ० ४०४

२- Even the vedic duties, though meritorious, are associated with sins, for they entail the saeribieing of animals —Das Gupta S.N., Y.P.R. P. 103

३– विहितं हि कामनायां सत्यामेव स्वर्गादिफलम् ददाति, विहितं निषिद्धं चोभयमप्युपादानाख्याभिमाने सत्यमेव फलं ददातीति भावः। –यो० वा०, पृ० ४०६

भविष्य के जन्मों में मिलने वाला होता है। वे अदृष्टजन्मवेदनीय कहलाते हैं। ऐसा विज्ञानभिक्षु के स्पष्ट रूप से कहा है।[1]

वासना

कर्मों के चारों भेदों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् उनमें से कर्माशय उत्पन्न करने वाले भेदों को प्राप्त कर उनसे उत्पन्न फल भोगों की सूचना देने वाली वासनाओं के विषय में बताया जा रहा है। योगियों के कर्मों को छोड़कर शेष तीन प्रकार के कर्म ही वासनाओं की अभिव्यक्ति का कारण होते हैं। कर्म करने के कारण बुद्धि में जो संस्कार बनते हैं वे ही कर्माशय कहलाते हैं। कर्माशय संस्कारों के कारण ही जाति, आयु और भोग नामक त्रिविध विपाक प्राप्त होते हैं और इन्ही विपाकों की स्मृति से वासना नामक संस्कार उत्पन्न होता है। वासनाएँ कर्माशय की भांति जाति, आयु और भोग रूपी फल उत्पन्न नहीं करती। वासना संस्कार त्रिविध फलों की स्मृति भर कराते हैं। 'ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्तावासनास्ताश्चानादिकालीना इति। वासना संस्कार विपाक जन्य होते हैं और चित्त में अव्यक्त रूप से रहते हैं। जिस तरह का कर्म विपाक मिलना होता है, उसी के अनुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति होने लगती है। उस कर्मफलभोग के प्रतिकूल या उससे विरुद्ध वासनाओं की अभिव्यक्ति नहीं होती। कहने का तात्पर्य है कि कर्म के अनुसार जैसा फल प्राप्त होने को होता है। उसी के सदृश या अनुरूप वासना संस्कार, जो कि अनादि काल से चित्त में प्रसुप्त पड़े रहते हैं। अभिव्यञ्जित हो जाते हैं। यद्यपि चित्त में अनादि काल से त्रिविध प्रकार के फल भोगों से उत्पादित विविध प्रकार के वासना संस्कार पड़े रहते हैं, किन्तु उनमें से अभिव्यक्ति केवल उन्हीं वासना संस्कारों की होती है, जो आसन्न फलभोग के अनुरूप होते हैं।

इसका आशय यह है कि नरक रूपी फल देने वाले कर्म का विपाक होने पर नरक योनि मिलती है और उस समय उस नारकीय प्राणी की केवल वही वासनाएं अभिव्यक्त होंगी, जो नरक के फल के अनुरूप होंगी। इसी प्रकार पशु, पक्षी, मनुष्यों का जन्म देने वाले कर्मों का विपाकोन्मुख

१– दृष्टादृष्टजन्मनी वर्तमानभविष्यती। – यो० वा०, पृ० १६०

होने पर क्रमशः पशु जीवन योग्य, पक्षी जीवन भोग्य और मनुष्य जीवन भोग्य फलों के अनुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति उस फल प्रद कर्मों के द्वारा होती है।

इस विषय में निश्चित है कि कर्म जहाँ एक ओर स्वानुरूप फल की सृष्टि करता है, वहीं दूसरी ओर भोक्ता में तत्फल भोगानुकूल वासना संस्कारों की अभिव्यक्ति का भी निमित्त बनता है। तादृश वासनाओं की अभिव्यक्ति के बिना फल भोग्य अधूरा ही रह जाता है और वासनाओं के उद्‌बोध से फलभोग की पूर्ति होती है। पशु रूप में जन्म लेने के बाद उस फल भोग के अनुकूल तृणभक्षणादिक प्रवृत्ति रूप वासना की अभिव्यक्ति होगी, देवोचित्त केवल सुगन्ध ग्रहण मात्र से सन्तोष की वासना नहीं अभिव्यक्ति होगी। इन सब तथ्यों से विपाकानुकूल वासनाओं की अभिव्यक्ति तत्वत् स्वविपाकानुगुणा एव वासनाः कर्माभिव्यञ्जनीया इति भाष्यार्थः।

जो भी कर्माशय जब कभी जन्मायुभोगरूपी फल देने के योग्य होता है, तभी तदनुरूप वासना की अभिव्यक्ति होती है। इस वासनाभिव्यक्ति में स्थान, देश और बीच के जन्मों का अन्तर आ जाने पर भी कोई बाधा नहीं पडती है। जिस प्रकार का फलभोग प्राप्त होना होता है, उसके अनुरूप ही वासनाएँ अव्यवहित रूप से अभिव्यक्त होने लगती हैं कहने का तात्पर्य है कि पूर्व जन्म में जब कोई वासना बनी होगी तो उसकी स्मृति भी उसी रूप की होगी और यह अभिव्यक्ति कर्म संस्कारों की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ होगी क्योंकि उस वासना के अनुरूप पूर्वानुभव काल में भी सदृश कर्म संस्कार की अभिव्यक्ति ही निमित्त रही होगी, उसी के सदृश कर्म संस्कार जब फिर कभी अभिव्यक्त होने की स्थिति में आये तो तादृश वासना संस्कारों का ही वृत्ति लाभ करना या अभिव्यक्त होना ही तर्क संगत होगा, अन्य प्रकार के वासनाओं का नहीं।

सभी प्राणियों की अपने विषय में स्वाभाविक शुभ कामना हमेशा होती है कि "मैं' सदा रहूँ, मेरा नाश न हो। इसी 'आत्माशी' के नित्य होने के कारण यह सिद्ध होता है कि प्राणी मरने का दुःख पहले भोग चुका है अर्थात् हर प्राणी अपने वर्तमान जीवन के पहले मरने का दुःख उठा चुका है और मरना तभी हुआ होगा, जब उसके पहले वह जन्म ले चुका होगा। बिना जन्म और जीवन के मृत्यु कहाँ? इस प्रकार सभी प्राणियों का पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है और उस पहले वाले जीवन

में भी उसका यही आत्माशी रहती है। इससे उसके पहले भी मरणानुभव और उसके पूर्व का जन्म और जीवन सिद्ध होता है। इस आधार पर निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक प्राणी अनादिकाल से जन्म–मरण के चक्र में फंसा चला आया है। इसलिए अनादिकाल से प्राप्त उन–उन जीवनों में किए विविध प्रकार के सुखदुःखादि के अनुभवों से उसके चित्त में 'वासना' नामक संस्कारों का बनना निश्चित है। इस प्रकार वासनाओं का अनादिकाल से बनते रहना और चित्त में संचित रहना सर्वथा सिद्ध हो जाता है।

वर्तमान जन्म में मरण का अनुभव नहीं किए हुए जीव को द्वेषात्मक दुःख की याद से उत्पन्न होने वाला मरण भय कैसे हो सकता है? जैसे–कोई छोटा सा बालक है, जिसने जीवन में अभी न तो स्वयं मरण का अनुभव किया है और न तो किसी का मरण देखा ही है, वह माँ की गोद से गिरने की स्थिति आने पर घबराता–छटपटाता हुआ मॉ के आँचल को या माँ के गले से लटकते हुए किसी आभूषणादि को जोर से पकड लेता है, चीख उठता है। आखिर मरने के भय से ही तो वह घबराता–चिल्लाता है। यह मरण भय उसे कैसे उत्पन्न हुआ? न तो उसे इस जीवन में मरण का प्रत्यक्षानुभव हुआ, न उसने अन्य लोगों के मरण के दुःख का ही प्रत्यक्ष या अनुमान किया है।

जिन निमित्तों द्वारा वासनाएँ बनती हैं और इकट्ठी होती हैं, उन निमित्तों का उच्छेद हो जाने पर वासनाओं का भी उच्छेद हो जाता है। अतः उनकी नित्यता की शङ्.का नहीं करनी चाहिए। वासनाओं के उक्त निमित्तों का स्पष्टीकरण पूर्व रूप से भाष्यसिद्धि में किया जाएगा। इन वासनाओं का हेतु अविद्या है, फल है, पुरुष का भोगापवर्ग नामक पुरुषार्थ। 'आश्रय' है– अनिरुद्ध चित्त और 'आलम्बन' हैं– जगत के वे सारे विषय जिन्हें सम्मुख पाकर वासनाएँ अभिव्यक्त होती हैं।

महर्षि पतञ्जलि अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि किसी वस्तु का विनाश नहीं होता, बल्कि वस्तु की केवल अतीतावस्था हो जाती है, उसी को लोग गल्ती से अभाव प्राप्त या विनष्ट मान लेते हैं। वास्तविकता यह है कि किसी भी सत् वस्तु का अभाव नहीं हो सकता। जब उसका अनुभव नहीं होता तब वह अतीतावस्था वाली हो जाती है, उसी को लोग

गल्ती से अभाव प्राप्त या विनष्ट मान लेते हैं। वास्तविकता यह है कि किसी भी सत् वस्तु का अभाव नही हो सकता। जब उसका अनुभव नहीं होता तब वह अतीवास्था वाली हो जाती हैं। इसी प्रकार अनुभव होने के पूर्व भी वह वस्तु (अनागतावस्था) में रहती है। जो वस्तु पहले नहीं रहती, उसकी उत्पत्ति या उपस्थिति कभी नहीं हो सकती।

कहने का तात्पर्य है कि वस्तु के वर्तमान रूप, भूत तथा भविष्यत् रूपों में जो भेद या अन्तर होता है, वह उस वस्तु के वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् रूपों में जो भेद या अन्तर होता है, वह उस वस्तु के वर्तमान काल में सत् होने और भूत–भविष्यत् काल में असत् होने के कारण होता है–ऐसा नहीं समझना चाहिए। वस्तु के तीनों कालों के रूप में जो अन्तर है, वह केवल तत्तत् काल में स्थित उस वस्तु के विशिष्ट रूपों के अन्तर के कारण होता है। वस्तुओं में जो काल भेद होता है। उस भिन्न कालिकता के कारण ही वस्तु के रूपों में अन्तर आ जाता है। न कि वस्तु के कभी होने और कभी न होने के कारण उदाहरण के लिए कोई वस्तु वर्तमान काल में रूप, रस, गन्धादि गुणों से युक्त दृष्टिगोचर होती है, वही वस्तु अनागत और अतीतावस्था में रूप, रसादि से युक्त दृष्टि गोचर–नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं है कि अनागत अवस्था में वह वस्तु असत् थी, वर्तमान काल में सत् हो गयी और अतीतावस्था में फिर असत् हो जायेगी अर्थात् सत्ता के कारण उसमें रूपरसादियुक्त रूप से दृष्टिगोचर होने का लक्षण होता है और असत्ता के कारण यह लक्षण नहीं रह जाता। फिर क्या बात है जिसके कारण उसी वस्तु में कभी दिखाई पड़ने और कभी न दिखाई पड़ने वाला अन्तर वस्तुओं के काल भेद–मात्र का अन्तर है। वस्तु का वर्तमान काल उसे दृष्टि गोचर या अभिव्यक्त किए रहता है और अतीत तथा अनागत काल उस वस्तु को सर्वसाधारण तथा अनागत काल उस वस्तु को सर्वसाधारण के लिए अभिव्यक्त या दृष्टिगोचार नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तुएँ अतीत और अनागत दशा में भी स्वरूपतः विद्यमान रहती हैं। उनके वर्तमान रूप से उनका अतीत और अनागत रूप भिन्न रहता है और वह मित्रता उनकी असत्ता के कारण नहीं, प्रत्युत्काल भेद के कारण होती है।

जीवन्मुक्त–

विवेकख्याति के द्वारा पुरुष और चित्त में भेद के देखने वाले के आत्मभाव की भावना निवृत्त हो जाती है।[1] विवेकख्याति द्वारा जब योगी को पुरुष और चित्त का भेद साक्षात् हो जाता है। तब उसकी आत्मभावना कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ? इत्यादि भावना निवृत्त हो जाती है। वह चित्त में ही सारे परिणाम देखता है, उसके धर्मों से भिन्न अपने को अपरिणामी ज्ञान स्वरूप अनुभव करने लगता है।

जिस प्रकार के चित्त में यह भावना होती है, वही आत्म–ज्ञान उपदेश का अधिकारी है और वही योगाभ्यास द्वारा विवेक–ज्ञान का सम्पादन करता है। उसी विवेक ज्ञान से यह आत्मभाव–भावना निवृत्त होती है। जिसको यह आत्मभाव–भावना ही नहीं, उसको न तो इस आत्मज्ञान के उपदेश का अधिकार ही है, न उसको विवेक–ज्ञान ही उत्पन्न होता है और न आत्म भाव–भावना की निवृत्ति होती है।

भाष्यकार के अनुसार हम अनुमान के द्वारा यह जान सकते हैं कि किसके चित्त में यह भावना उदय हुई है और किसके चित्त में उदय नहीं हुई है? जैसे–वर्षा ऋतु में तृणों के अङ्कुरों का प्रादुर्भाव देखकर उन तृणों के बीजों की सत्ता का अनुमान किया जाता है, वैसे ही जिस पुरुष को मोक्ष–मार्ग श्रवण से रोमाञ्च, हर्ष और अश्रुपात हो उस पुरुष ने विवेक–ज्ञान के बीजभूत और अपवर्ग के साधन जो यम, नियम आदि कर्म हैं, उनका पूर्व में अनुष्ठान कर लिया है, और उसके चित्त में आत्मभाव–भावना का उदय भी है। जिन पुरूषों की पूर्व जन्म में शुभ कर्मों के अनुष्ठान के अभाव से केवल पूर्व पक्ष में ही रुचि हो और सिद्धान्त में अरुचि हो। उनके चित्त में अनुमान से आत्मभाव–भावना का अनुदय जानना चाहिए।

विशेष दर्शन के उदय होने पर विशेष दर्शी के चित्त के विषय में कहा गया है कि विशेष दर्शन के उदय होने पर विशेष–दर्शी का चित्त विवेक–मार्ग–संचारी होकर कैवल्य के अभिमुख

१– विशेषदर्शिन आत्मभाव भावना विनिवृत्तिः।। – ४/२५ यो० सू०

होता है।[1] समाधि पाद में भाष्यकार ने चित्त को एक नदी के रूप में कल्पित किया था और बताया था कि चित्त रूपी नदी को दो धाराएँ होती हैं–एक कल्याणवहा और दूसरी पापवहा। दोनों में से पापवहा धारा विवेक ख्याति के पूर्व प्रबल रूप से चलती रहती है। योग–साधना के क्रम में उस धारा को वैराग्य के द्वारा धीरे–धीरे सुखाया जाता है और विवेक अर्थात् तत्वज्ञान के अभ्यास से द्वारा कल्याण वहा धारा को प्रवाहित किया जाता है। जब विवेकख्याति की सिद्धि होती है। इसके फलस्वरूप चित्त की पापवहाधारा पूर्णतः सूख जाती है और कल्याण वहा धारा प्रवाह से चलने लगती है। इससे विवेक ख्याति के बाद भी चित्त की सत्ता और उसकी सक्रियता पूर्णतः सिद्ध होती है किन्तु इस काल में चित्त की सक्रियता पहले से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। वह केवल विवेकज्ञानरूपी कार्य को करता है। विषयों के प्रति क्लेश पूर्ण भावना से उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। यही उसकी विवेकनिम्नता है। उसका लक्ष्य भोगात्मक संसार न होकर कैवल्य हो जाता है कैवल्य प्राप्ति ही उसका एकमात्र उद्देश्य रह जाता है।

विवेक प्रवाही चित्त में बीच–बीच में कभी–कभी व्युत्थान की वृत्तियॉ किस लिए उत्पन्न हो जाती है, ऐसा क्यों है, यह बताया जा रहा है कि उस विवेक ज्ञान के बीच–बीच में अन्य व्युत्थान की वृत्तियाँ (भी) (पूर्व के व्युत्थान के) संस्कारों से उदय होती है, जब तक चित्त में पुरूष और चित्त की भिन्नता का ज्ञान प्रबलता से रहता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति कैवल्य की ओर रहती है, पर जब–जब इस विवेक ज्ञान में शिथिलता आने लगती है तब–तब व्युत्थान के संस्कार अर्थात् व्युत्थान की ममता और अहंता की वृत्तियाँ 'यह मेरा है' ''मैं सुखी हूँ'' मैं दुःखी हूँ इत्यादि उत्पन्न हो जाती हैं। यह प्रत्यान्तराणि अर्थात् समाधि की वृत्तियों से भिन्न व्युत्थान की वृत्तियाँ इसलिए बीच–बीच में उत्पन्न होती हैं कि विवेकख्याति (विशेष दर्शन) अभी अत्यन्त परिपक्व नहीं हुई है और अनादि काल से प्रवृत्त व्युत्थान के संस्कार अभी भी कुछ बलवान हैं इन व्युत्थान संस्कारों

१– तदा विवेकनिम्नं कैवल्य प्राग्भारं चित्तम्। – यो० सू० ४/२६

का दग्धबीज होना। क्लेशों के समान (ही) कहा गया है।[1] जैसे–अविद्यादि क्लेश जले हुए बीज की तरह उगने में असमर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार विवेकख्याति रूपी ज्ञानाग्नि से जले हुए बीज वाले, पहले के (व्युत्थान) संस्कार (व्युत्थान) ज्ञान को उत्पन्न करने वाले नहीं रह जाते। (विवेकख्यातिरूप) ज्ञान से संस्कार तो चित्त के भोगापवर्ग कार्य की समाप्ति तक बने रहते हैं किन्तु व्युत्थान कारक लौकिक ज्ञान नहीं उत्पन्न करते। अतएव निस्तरङ्ग चित्त का एक रूप से परिणत होना मोक्षकारक कहा गया है।

धर्ममेध समाधि

इस अविरत विवेक–प्रत्यय–प्रवाहिनी–समाधि में निरन्तर विवेक धर्म की वृष्टि होती है। अतः इस समाधि को धर्ममेध समाधि कहते हैं।

"मिह सेंचने" धातु से निष्पन्न 'मेघ' शब्द का अर्थ होता है– सिंचन करने वाला। आकाशस्थ वारिद वृष्टि द्वारा जल का सिंचन करता है। इसलिए मेघ कहलाता है। एतत् सूत्रीय समाधि समस्त क्लेश कर्मनासिका विवेक ख्याति से चित्त को सींचती है या आप्लावित करती है। इसलिए मेघ पद वाच्य है। "अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्" योगी याज्ञवल्क्य की इस उक्ति के अनुसार योग द्वारा आत्मसाक्षात्कार रूप विवेक–ख्याति ही परम धर्म है। अतः "धर्म–विवेकख्याति मेहति वर्षतीति धर्ममेघः" अर्थात् विवेक–ख्याति रूप धर्म का अभिवर्षण करने वाली समाधि "धर्ममेघ" कहलाती है।

इस सूत्र में "धर्ममेघ" शब्द की व्याख्या करते हुए श्री वाचस्पति एवं विवरणकार शंकर ने सर्वथा विवेक ख्याति प्रवाहित रहने से, इस समाधि को 'धर्ममेघ' कहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि विवेक ख्याति रूप धर्म का मेहन करने से वह समाधि धर्ममेघ कहलाती है। राघवानन्द सरस्वती धर्ममेघ शब्द का अर्थ पर वैराग्य करते हैं। सम्प्रज्ञात की पूर्णवस्था में पर वैराग्य का उदय होता है। विवेक ख्याति मे भी वैराग्य होना ही परवैराग्य है।

१– हानमेषां क्लेशवदुक्तम्। यो० सू० ४/२८

भोज ने धर्ममेघ समाधि को प्रकृष्ट एवं परम पुरुषार्थ साधक अशुक्ल, अकृष्ण, धर्म का सिंचन करने वाली बतलाया है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जो परिणाम दोष से दूषित हो, वह धर्म अशुक्ल–अकृष्ण कैसे हो सकता है? इसका समाधान है कि विवेक ख्याति के राग सहित अभ्यास से विवेक प्रत्यय और पुण्य कर्माशय का सचय होता है, जिससे वह विवेकवृत्ति निरुद्ध नहीं होती। अतः चित्तलय एवं कैवल्योपलब्धि में बाधक सिद्ध होती है। इसी से उस विवेक–वृत्ति से भी वैराग्य उक्त हुआ है। जब विवेकख्याति से वैराग्य हो जाता है तो उससे किसी फल की इच्छा भी नहीं रह जाती क्योंकि निष्काम कर्म द्वारा कर्माशय संचित नहीं होता है। धर्ममेघ समाधि का उदय विवेक ख्याति से विरक्त चित्त में ही होता है। इसलिए उस अवस्था में प्रवाहित होने वाला विवेक धर्म भी अशुक्ला–अकृष्ण होता है अर्थात् कर्माशय का संचयकारी नहीं होता।

श्री टैमनी ने धर्ममेघ समाधि के विषय में कहा है कि "जब विवेकख्याति और पर वैराग्य का युगपद् दीर्घकालीन सतत् अभ्यास क्रमशः एक दूसरे को दृढ़ करता हुआ, अत्यन्त तीव्र अवस्था प्राप्त करता है, तब उसकी चरम सीमा धर्ममेघ समाधि में पहुॅच जाता है। इस धर्ममेघ की अवस्था में पहुँचने पर संस्कारों के समस्त बीज भस्मसात हो जाते हैं और उस शाश्वत सत्य का ताला खुल जाता है। जिसमें पुरुष नित्य निवास करता है।"

उपर्युक्त धर्ममेघ समाधि से क्लेश–कर्मों की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। धर्ममेघ समाधि लाभ के बाद भागी के समस्त अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश वासना मूल सहित नष्ट हो जाते हैं। साथ ही पुण्यापुण्यात्मक कर्माशय भी समूल विनष्ट हो जाते हैं। अतः क्लेश एवं कर्मों की निवृत्ति होने पर विद्वान योगी जीवित रहता हुआ भी मुक्त हो जाता है।

परिणामाक्रम समाधि

योग–दर्शन में समस्त जगत को गुणत्रय का परिणाम माना गया है। इन गुणों का स्वभाव अत्यन्त चंचल है। एक क्षण के लिए भी ये निष्क्रिय नहीं होते। जब इनकी साम्यावस्था होती है, तो इनका सरूप परिणाम होता है और प्रकृति में क्षोभ के अनन्तर ये अपने विरूप परिणाम को प्रकट करने लगते हैं तथा महद् अहंकारादि की सृष्टि हो जाती है, क्योंकि जगत का प्रत्येक

पदार्थ ही गुणात्मक है। इसलिए वह गुणों के स्वभाव के अनुकूल ही परिणत होता रहता है। तात्पर्य यह है कि चित्त और अन्य भौतिक पदार्थों में भी निरन्तर परिणाम क्रिया होती रहती है। चित्त के परिणाम को उसकी व्युत्थान एवं निरोधावस्था के अन्तर्गत वैभिन्य के द्वारा दिखाया गया है, व्युत्थानावस्था में पहले व्युत्थान की वृत्तियों को दबाया जाता है और निरोध वृत्तियों का अभ्यास किया जाता है इसी को परिणामक्रम समाधि कहा गया है।[1]

चित्त के एकाग्र हो जाने पर चित्त का जो वृत्यात्मक परिणाम होता है। वह समाधि परिणाम की तरह भिन्न प्रकार का न होकर एक समान ही होता है। तात्पर्य यह है कि एकाग्रता विषयक वृत्ति का ही अभिभव होता है और तत्सदृश वृत्तियों का ही उदय होता है। इसका कारण दोनों ही टीकाकार[2] पूर्वावस्था का सम्पन्न होना अर्थात् सवार्थर्ता (व्युत्थान) का क्षय होना मानते हैं। इसे चित्त के एकाग्रता परिणाम कहा गया है।[3] समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर उनके संस्कार चित्त में बने रहते हैं जिनका निरन्तर परिणाम होता है कि उनके संस्कार चित्त में बने रहते हैं, जिनका निरन्तर परिणाम होता है कि उनके परिणाम को निरोध परिणाम कहा गया है। व्युत्थान के संस्कारों का अभिभव एवं निरोध के संस्कारों का प्रादुर्भाव ही निरोध परिणाम कहा गया है।[4] वाचस्पति मिश्र का मत है कि यद्यपि चित्त में जो यह संस्कारात्मक परिणाम कहा गया है। वह अनुभव नहीं होता परन्तु क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक है, इसलिए निरोध काल में चित्त परिणाम को

१– (क) सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः। –यो० सू० ३/११

(ख) आत्मभूतयोः सर्वार्थतैकाग्रतयोर्धर्मयोर्यवपायोपज। नौ सर्वार्थतया अपाय एकाग्रताया उपजनसयोरनुगतं चित्तं समाधीयते पूर्वापरीभूतसाध्यमानसमाधिविशेषणं भवतीति। –त० वै०, पृ० २८६

२– (क) सर्वार्थता चित्तधर्मः। एकाग्रतापि चित्तधर्मः। –व्या० भा०, पृ० २८६

(ख) व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्माः, निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः। – वा० भा०, पृ० २८६

३– यो० सू० ३/१३

४– व्युत्थानानिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण चित्तान्वयो निरोधपरिणामः। – यो० सू० ३/६

मानना आवश्यक है।[1]

चित्तरूप धर्मी के ये वृत्ति एवं संस्कार धर्म है।[2] इसलिए इन तीनों चित्त परिणामों का निरूपण चित्त के धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम को भी बताता है। जो मात्र चित्त में ही नहीं वरन् भूतों एवं इन्द्रियों में भी होते हैं।[3]

१– निरोधे तु नानुभूयते परिणामः न चाननुभूयमानो नास्ति, चित्तस्य त्रिगुणतया चलत्वेन क्षणमप्यपरिणामस्यासंभवादित्यर्थः।
–त० वै०, पृ० २८७

(ख) तथा च चित्तं स्वात्मभूतयोः स्वकार्ययोः स्वार्थतैकाग्रतयोधर्मर्मयोरपायकाल उपजनकालेचानुगतं यत्समाधीयते स समाधि परिणाम इत्यर्थः। –त० वै०, पृ० २९०

२–(क) ततः पुनः समाधेः पूर्वापरीभूताया अवस्थायाः निष्पत्तौसत्यो शान्तोदितावतीत वर्तमानौतुल्यौ
च तौ प्रत्ययौ चेति तुल्यप्रत्ययौ –त० वै०, पृ० २९०

(ख) ततः सर्वार्थतयाः निःशेषतः का वेकारप्रत्याकारै सति, शान्तोदितावतीतो त्पद्यमानौ तुल्यप्रत्ययो
चित्तस्यैकाग्रताकालीनः पुनः परिणामो भवति। –यो० वा०, पृ० २९०

३– ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः। –यो० सू० ३/१२

चतुर्थ–अध्याय

पुराणों में अष्टाङ्.ग पातञ्जल योग दर्शन

(पुराणवार प्रत्येक अङ्.ग का विशद विवेचन)

पातञजल योग दर्शन में समाधि हेतु योग के आठ अङ्.गो की चर्चा की गयी है, जो इस प्रकार हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अङ्.गो की विवेचना पुराणों में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, जिसके प्रत्येक अङ्.गों पर संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत है।

मार्कण्डेय पुराण में योग के आठ अङ्.गों में से यम के विषय में कुछ भी नहीं बताया गया है। गरुड़ पुराण में कहा गया है कि योग के आठ अङ्.गों के माध्यम से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इन आठ अङ्.गों में से यम के पॉच भेद बताये गये है जिनमें से पहला है अहिंसा–प्राणियों की कायिक, वाचिक एवं मानसिक रूप से हिंसा न करना ही अहिंसा कहा गया है।[1] दूसरा, भूतों का हित करने वाले वाक्यों को ही सत्य बताया गया है। तीसरा है अस्तेय–परायी वस्तुओं का ग्रहण न करना ही अस्तेय है। चौथा है–ब्रह्मचर्य, मैथुन का न करना ही ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत रखा गया है। पाँचवॉ है अपरिग्रह–जिसके विषय में गरुड़ पुराण में कहा गया है कि समस्त वस्तुओं का परिग्रह न करना ही त्याग है।[2] यहाँ पर अपरिग्रह शब्द को त्याग के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

ब्रह्म पुराण में भी योग के आठ साधनों में से यम के विषय में कुछ भी उपलब्ध नहीं है। विष्णु पुराण में मात्र इतना ही ज्ञात कराया गया है कि यम के द्वारा मनुष्य की पापों की राशि कम हो जाती है, अतएव हमें पाँचों यमों का निरन्तर पालन करते रहना चाहिए। ये पाँच यम हैं–

१– मुक्तिरष्टाङ्.ग विनानात् संक्षेपात्तद्वदे श्रृणु।
यमाः पंचत्वहिंसाधा अहिंसा प्राण्यहिंसनम्।। –गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड सम्पादक पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ० १३२, श्लोक सं०–२६

२– सत्यं भूत हितम् वाक्यमस्तेयं स्वग्रहं परम्।
अमैथुन ब्रह्मचर्य सर्वत्यागोऽपरिग्रहः।। – गरूड़ पुराण, वही श्लोक सं० ३०

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह।[1] गायत्री पुराण में यम की विस्तृत विवेचना की गयी है। इस पुराण में बताया गया है कि मन को वश में रखने के लिए पॉच यम का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। यहॉ पर गरुड़ पुराण की भांति यम के सभी वर्गों की विस्तृत विवेचना उपलब्ध है। यम के पहले वर्ग अहिंसा के विषय में बताया गया है कि किसी भी प्रकार की हिंसा न करना अहिंसा पालन है। मन, वाणी और देह के द्वारा प्राणिमात्र को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना भी अहिंसा ही है। किसी के लिए हिंसा को उकसाना, किसी को गाली देना, मारना या उसके प्रति दुर्भावना रखना आदि व्यावहार को भी हिंसा का ही रूप बताया गया है। अतएव अहिंसा का पालन करने के लिए इस प्रकार की मनोवृत्ति का त्याग कर देना चाहिए।[2]

गायत्री पुराण में दूसरा यम है—सत्य, जिसके विषय में बताया गया है कि समस्त कार्यों में असत्य के व्यावहार से बचना चाहिए। कभी भी किसी भी परिस्थिति में झूठ का सहारा नहीं लेना। चाहिए कभी कभी अनजाने में बोला गया मिथ्या वचन भी अनुचित ही बताया गया है, तब जानबूझकर किंचित् भी असत्य का उच्चारण तो पाप कर्म ही कहलाता है। यहॉ पर महाभारत के युद्ध में युधिष्ठिर के कहे गये असत्य वचनों का वृत्तांत उदाहरण स्वरूव दिया जा सकता है— युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य के लिए 'नरो वा कुञ्जरो वा' कहकर असत्य का आचरण किया, किसी ने युद्ध में यह अपवाद फैला दिया कि अश्वत्थामा मारा गया। द्रोणाचार्य इससे व्यथित होकर युद्ध से हटना चाहते थे, किन्तु सत्यता जानने के लिए उत्सुक थे। वे समझते थे कि युधिष्ठिर सत्यवादी हैं, वह कभी मिथ्या नहीं कहेंगे, इसलिए उनका आग्रह था कि.यदि युधिष्ठिर, कहें कि वह मर गया तो 'मैं मान लूँगा'। वस्तुतः युद्ध में अश्वत्थामा नाम का हाथी मारा गया था। युधिष्ठिर ने सत्यवादी होने को ढोंग किया और तथ्य को छिपाते हुए कहा कि अश्वत्थामा मारा

१— पराशर मुनि प्रणीत, श्री श्री विष्णुपुराण, सम्पादक—पं० श्री राम जी शर्मा, पृ० सं० ५३।

२— गायत्री पुराण, सम्पादक—डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १४

गया, किन्तु धीरे से कहा कि 'नहीं जानता कि वह मनुष्य था या हाथी था'। इसके पीछे की बात को द्रोणाचार्य ने नहीं सुना और अश्वत्थामा का मरण हुआ जानकर उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये।[1] अतः इस असत्य वचन के द्वारा ही हिंसा भी हो गयी। अतएव यहाँ पर अहिंसा तथा सत्य नामक दोनों ही यमों का पालन नही हो पाया है।

यम के तीसरे अड्.ग अस्तेय की चर्चा गरुड़ पुराण में बहुत संक्षिप्त रूप में की गयी है किन्तु गायत्री पुराण में इसका विश्लेषण विस्तृत है। इसमें बताया गया है कि अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। अन्याय या अनधिकार से किसी के धन का अपहरण करना, लूटना, छीनना आदि भी चोरी के ही अन्तर्गत आता है। जो लोग व्यापार में छल करके कम माप तौल करके अधिक बताते हैं, वे भी चोरी ही करते हैं। मार्ग में कोई वस्तु यदि पड़ी मिले, उसे उठाकर ले जाना भी चोरी के समान ही है। जिस किसी का हो उसे खोज करके प्राप्त करा दिया जाय। अतएव जिस–जिस कार्य में चोरी जैसे दोष की सम्भावना निहित हो, उनका परित्याग करना अस्तेय कहा गया है।[2]

यम के चतुर्थ अड्.ग ब्रह्मचर्य की विस्तृत विवेचना गायत्री पुराण में की गयी है। गरुड पुराण के अलावा अन्य पुराणों में भी इसे संक्षिप्त रूप में समझाया गया है। गायत्री पुराण में ब्रह्मचर्य का तात्पर्य मैथुन का त्याग बताया गया है। इसके लिए मैथुन सम्बन्धी विचारों का ही परित्याग करना चाहिए। गृहस्थ धर्म में प्रविष्ट युवा वर्ग के लिए यह उपदेश नहीं है किन्तु उन्हें भी परनारी से बचने का आचरण तो करना ही चाहिए। जो लोग विरक्त हो रहे हैं उन्हें मैथुन सम्ब्रन्धी चिन्तन और चर्चा में भी रुचि नहीं रखनी चाहिए।[3] यम के पाँचवें भेद अपरिग्रह के विषय में भी गायत्री पुराण में

१– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १५
२– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १५
३– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १५

विशद विवेचना की गयी है। यहाँ पर अपरिग्रह शब्द का अर्थ है, वस्तुओं का संचय न करना। क्योंकि अपने हित के लिए लोभ के वशीभूत होकर अनावश्यक धन सम्पत्ति, भोग सामग्री आदि को एकत्र करने से, दूसरो को उसके उपभोग से वंचित रखने की सम्भावना रहती है। ज्ञानियों की मान्यता के अनुसार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् समस्त विश्व ही हमारा कुटुम्ब है इसलिए सभी को अनिवार्य आवश्यकताओं का ध्यान रखना प्रत्येक मनुष्य का धर्म बन जाता है। किसी वस्तु विशेष में आसक्ति रखकर, उसे जुटाये रखना अपरिग्रह ही है; इसलिए मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को इन सभी से बचना चाहिए।[१] मत्स्य पुराण में योग के सभी सिद्धान्तों का वर्णन न करते हुए मात्र कर्म योग का ही वर्णन किया गया है। अतः यहाँ पर अष्टांग योग के पहले सिद्धान्त यम के विषय में कुछ संकेत अवश्य मिलता है, लेकिन स्पष्ट वर्णन अनुपलब्ध है। भविष्य पुराण में भी मत्स्य, ब्रह्म तथा मार्कण्डेय पुराण की भांति यम के किसी भी सिद्धान्त की चर्चा नहीं की गयी है।

कूर्म पुराण में पातञ्जल योग दर्शन में वर्णित आठ अङ्गों में से सभी अङ्गों की चर्चा विधिवत् की गई है। अष्टाङ्ग योग के प्रथम अङ्ग यम के पाँचों अङ्गों–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सभी का वर्णन उपलब्ध है। इनके विषय में बताया गया है कि ये मनुष्यों के चित्त को शुद्धि प्रदान करने वाले हैं।[२] समस्त प्राणियों में सर्वदा मृदु मन और क्लेश का उत्पन्न

१– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम पृ०सं० १६

२– अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः प्रोक्ताश्चित्त शुद्धि प्रदानृणाम्।।
कूर्म पुराण, सम्पादक पं० श्री राम शर्मा आचार्य पृ० सं० ६८, श्लोक सं० १३

न करना अहिंसा कही गयी है।[1] अहिंसा से परम अन्य कोई भी धर्म नहीं है और अहिंसा से अधिक कोई सुख भी नहीं है। विधि पूर्वक यज्ञादि में जो हिंसा शास्त्रोक्ति होती है, उसे अहिंसा कहा गया है।[2] सत्य से सभी कुछ की प्राप्ति हुआ करती है, क्योंकि सत्य में सभी कुछ प्रतिष्ठित है। यथार्थ का कथन जो आधार है उसी को द्विजातियों के द्वारा सत्य कहा गया है। पराये द्रव्य का हरण करना चाहे वह चोरी से किया गया हो अथवा बलपूर्वक किया गया हो उसे स्तेय कहा जाता है। उसका आचरण न करना ही अस्तेय है, जो धर्म का साधन होता है। कर्म, मन और वचन से सर्वदा सभी अवस्थाओं में सर्वत्र मैथुन का त्याग करना ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है। आपत्ति के समय में भी तथा इच्छा से द्रव्यों का जो ग्रहण नही करता है, उसे ही अपरिग्रह कहा जाता है। उसका प्रयत्नपूर्वक पालन किया जाना चाहिए।[3]

प्रायः सभी पुराणों में योग के आठ अङ्.गों को स्वीकार किया गया है। शिव पुराण में योग के विषय में कहा गया है कि अक्सर सभी योग आठ या छः अङ्.गों से युक्त होते हैं। यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि–ये ही विद्वानों द्वारा आठ अङ्.ग बताये गये हैं। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि–ये संक्षेप में योग के छः लक्षण बताये गये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन्हें ही सत्पुरुषों ने यम कहा है। इस प्रकार यम पाँच अवयवों के योग से युक्त बताया गया है।

१– कर्म्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिसा परमर्षिभिः।।
कूर्म पुराण, सम्पादक– पं० श्री राम शर्मा आचार्य श्लोक सं० १४, पृ० ६८
२– कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागं ब्रह्मचर्यम्प्रचक्षते।।
–कूर्म पुराण, वही, श्लोक सं०–१८, पृ० ६६
३– द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि तथेच्छाया।
अपरिग्रहमित्याहुस्तं प्रयत्नेन पलयेत्।। कूर्मपुराण, वही, श्लोक सं० १६

पातञ्जल योग के आठ साधनों में से दूसरा साधन है–नियम। नियमों का प्रयोग पुराणों मे विस्तृत रूप से विवेचित है। ये नियम क्या है? क्या इसके बिना समाधि नहीं लगायी जा सकती ?आदि सारे विषयों पर पुराणों में विधिवत् व्याख्या की गई है, जो निम्नवत् है–

मार्कण्डेय पुराण में योग के अन्य सिद्धान्तों की विवेचना तो प्राप्त होती है, किन्तु अष्टाड्.ग योग के नियम की चर्चा नहीं की गई है। इस पुराण में देवी, देवताओं के कथांशों का वर्णन किया गया है। इसमें सभी तीर्थस्थल, पर्वत, नदियों की महिमा भी बतायी गई है। गरुड़ पुराण में योग के आठ सिद्धान्तों में से नियम की भी चर्चा मिलती है, जिसके विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि सत्य आदि पॉच नियम होते हैं, जो बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के बताये गये हैं शौच,सत्य एवं संतोष है–शपथचर्या, इन्द्रियों का निग्रह है– स्वाध्याय, मन्त्रों का जप है प्रणिध ान।[1] ब्रह्म पुराण में अष्टाड्.ग योग की चर्चा तो की गई है किन्तु अष्टाड्.ग योग के यम, नियम की चर्चा नहीं की गई है। विष्णु पुराण में अष्टाड्.ग योग नियम के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि संगत चित्त से स्वाध्याय, शौच, संतोष और तप का आचरण ही नियम है। इन यम, नियम का सकाम भाव से आचरण करने पर पृथक्-पृथक् फल प्राप्त होते हैं और निष्काम भाव से सेवन करने से मोक्ष प्राप्त होता है।[2] गायत्री पुराण में अष्टाड्.ग योग के नियम को विस्तृत रूप में विश्लेषित किया गया है। गायत्री पुराण में नियम के पाँच भेदों की भी चर्चा की गई है जिसमें शौच का अर्थ पवित्रता, से हैं मन, वाणी और शरीर तीनों को शुद्ध रखना ही शौच का साधन बतलाया गया है।[3]

१– नियमाः पञ्च सत्याद्या वाह्यमाभ्यन्तरं द्विधा। ?
शौचं सत्यञ्च सन्तोषस्तपश्चेन्द्रियनिग्रहः।।
गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा, पृ०सं० १३२, श्लोक सं० ३१, ३२

२– श्री श्री विष्णु पुराण, श्री पं० राम जी शर्मा सम्पादक पृ० सं० ५३।

३– गायत्री पुराण, हिन्दी अनुवादित, डा० चमन लाल गौतम, सम्पादक, संस्कृत संस्थान, बरेली, १६६३ पृ० सं० १६

शरीर की शुद्धि में नित्य कर्म के साथ दन्त धावन, स्नानादि कर्म सम्मिलित हैं। योगी जन इसके लिए वस्ति धौति, नेति आदि क्रियाएँ नियमित रूप से करते रहते हैं। सामान्य जन भी अपने अपने ढंग से शरीर शुद्धि का प्रयत्न करते ही है। सात्विक और संयमित आहार भी देह शुद्धि का एक कारण होता है क्योंकि असन्तुलित और असात्विक आहार से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप दुर्बल हुए शरीर की बाह्य शुद्धि के लिए दूषित वातावरण से दूर रहना आवश्यक है। कुत्सित विचार के लोगों के सड्.ग का भी परित्याग करें। मन शुद्ध रहता है तो वाणी भी शुद्ध रहती है इसलिए मन का शोधन अत्यन्त आवश्यक है जिसके लिए अविवेक पूर्ण चिन्तन नहीं करना चाहिए।[1]

इसके पश्चात दूसरा नियम है सन्तोष। सन्तोष का अर्थ है कि भगवान की इच्छा से जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसमें तृप्त रहना। आशा और अभिलाषा जितनी बढ़ती है, असन्तोष भी उतना ही अधिक बढ़ता है। व्यावसायिक मनुष्य को देखो, वह हमेशा निन्यानबे के फेर में पड़ा रहता है। एक रुपया है तो वह बढ़कर दो हो, दस हो, पचास हो, नब्बे हो, फिर निन्यानबे हो फिर सौ हो जाये किन्तु सौ होने पर भी सन्तुष्टि नहीं होती। पुनः वृद्धि होती है और निन्यानबे से सौ होने की लालसा बनी रहती है वह कभी दूर ही नहीं होती कल्याण चाहने वालों को उस प्रवृत्ति से सदैव दूर रहना चाहिए।[2]

तप का अभिप्राय गायत्री पुराण में निरर्थक सुख का परित्याग बताया गया है। मनुष्य को कष्ट सहने का अभ्यास करना चाहिए। अनेक प्रकार के व्रतादि के आचरण का उपदेश इसलिए दिया गया है। जिससे मन, प्राण, शरीर और इन्द्रियों को इस प्रकार वश में किया जाय, जिससे

१– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, वही पृ० सं० १६

२– गायत्री पुराण, वही पृ० सं० १७

कि भूख, प्यास, सुख–दुख, मान–अपमान की चिन्ता छोडकर अपने अपने कर्त्तव्य का पालन करे। सब प्रकार की साधना नें तपस्या का आचरण आवश्यक है। जैसे स्वर्णादि मूल्यवान धातुएँ भी तपाने से ही शुद्ध होती है। तप मनुष्य को शुद्ध बनाने का एक श्रेष्ठ साधन है।[1]

स्वाध्याय का तात्पर्य गायत्री पुराण में अध्ययन करना, मनन करना बताया गया है। वेद, शास्त्र, उपनिषद, पुराणादि तथा अन्यान्य ग्रन्थों में शिक्षाएं भरी पडी है, उनका ज्ञान अध्ययन से ही होता है। अध्ययन में भी अभ्यास परम आवश्यक है। किसी भी ग्रन्थ की आत्मा में प्रविष्ट होकर, उसमें निहित रहस्य को जानना ही स्वाध्याय का परम उद्देश्य है, जो कि एक बार पढ़ने सुनने मात्र से पूरा नहीं हो सकता। स्वाध्याय में उत्कृष्ट चरित्रों का ज्ञान, जप, कीर्तन, भजन आदि भी सम्मिलित है।[2]

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ गायत्री पुराण में ईश्वर में विश्वास और उनकी शरण में जाना बताया गया है। मन, वचन और कर्म से भगवान की भक्ति, उपासना ध्यानादि करते हुए स्वयं का समर्पण करना ही श्रेय कामना वालों का कर्त्तव्य है। वास्तव में अन्तः करण की शुद्धि भी इसमें परमावश्यक है। योगी जन इसके लिए अष्टाड्.ग योग का अभ्यास करते हैं।[3] मत्स्य पुराण तथा भविष्य पुराण में अष्टाड्.ग योग के किसी भी अंग की चर्चा नहीं की गई है।

कूर्म पुराण में पातञ्जल योग दर्शन में वर्णित अष्टांग योग के द्वितीय अंग नियम के विषय में कहा गया है कि तप स्वाध्याय सन्तोष शौच, ईश्वर का अर्चन ये संक्षेप में नियम कहे गए हैं। जो योग की सिद्धि प्रदान करने वाले होते हैं।[4] उपवास परक तथा कृच्छ चान्द्रायणादि के द्वारा

१– गायत्री पुराण, सम्पादक, डा० चमन लाल गौतम पृ० सं० १७
२– गायत्री पुराण, वही पृ०सं० १८
३– गायत्री पुराण, वही पृ० सं० १८
४– तपः स्वाध्यायसन्तोषौ शौच मीश्वरपूजनम्।
समान्नियमाः प्रोक्त योगसिद्धि प्रदायिनः।।
कूर्म पुराण, पं० श्री राम शर्मा सम्पादक, श्लोक सं० २० पृ० सं० ६६

जो शरीर शोषण किया जाता है उसी को तापस लोग उत्तम तप कहते हैं।[1] वेदान्त शत् रुद्रिय और प्रणव आदि के जप को बुध लोग जप कहते हैं। स्वाध्याय पुरुषों को सत्व सिद्धि प्रदान करने वाला कहा जाता है। स्वाध्याय के भी तीन भेद हैं– वाचिक–उपांशु और मानस ये उनके नाम हैं। इन तीनों की उत्तरोत्तर विशेषता मानी गई है। ऐसा ही वेदार्थ के वादी जन कहते हैं। जो दूसरे सुनने वालों को शब्द का बोध उत्पन्न करने वाला अत्यन्त ही स्पष्ट होता है। उसी स्वाध्याय को वाचिक स्वाध्याय कहा गया है। अब उपांशु का लक्षण बतलाते है।[2] दोनों होठों के स्पन्दन मात्र से दूसरे का अशब्द बोधक होता है। यही उपांशु जप कहा गया है। यह वाचिक जप से साधु जप होता है जो पद के अक्षरों की संगति से परिस्पन्दन रहित होता है तथा मन्त्र के सब शब्दों के चिन्तन के बल पर होता है। उसी जप को मानस जप कहते हैं। यदृच्छा लाभ से जो वित्त पुरुषों को लाभ प्राप्त होता है। ऋषि वृन्द इसी को सन्तोष का प्रशस्त लक्षण कहते हैं।[3] शौच शौच बाह्य और आभ्यनन्तर दो प्रकार का होता है। बाहरी शौच तो मिट्टी और जल से बताया गया है और आन्तरिक शौच मन की शुद्धि से ही हुआ करता है।[4]

१– उपवासपराकादिकृच्छचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणम्प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्।। कूर्म पुराण, पं० श्री राम शर्मा–सम्पादक, पृ०सं० ९९, श्लोक सं० २१
२– यः शब्दबोधजननः परेषां श्रृण्वतां स्फुटम्
स्वाध्यायो वाचीकः प्रोक्त उपांशेरथ लक्षणम्।। (कूर्म पुराण, सम्पादक– पं०राम शर्मा पृ०सं० १००)
३– यद्वच्छालाभतो वित्तं अलपुं सोभवेदिति।
प्राशस्त्यमृषयः प्राहुःसन्तोषं सुखलक्षणम्।। (कूर्म पुराण, सम्पादक–पं० श्री राम शर्मा,) पृ०सं० १००
श्लोक २७
४– बाह्य माभ्यन्तर शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्य मनः शुद्विरथान्तरम्।।
कूर्म पुराण, सम्पादक–श्री राम जी शर्मा आचार्य
पृ०सं० १००, श्लोक सं० २८

वाणी, मन और शरीर के कर्मों से स्तवन स्मरण और पूजा के द्वारा जो सुनिश्चित शिव में भक्ति की भावना होती है इसी को ईश का पूजन कहा जाता है।[1]

शिव पुराण में अष्टाङ्ग योग के यम के साथ ही साथ नियम के विषय में भी विशद चर्चा की गई है। जिसमें यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि नामक अष्टाङ्गयोग की चर्चा की गई है। शिव पुराण में नियम के विषय में मात्र शौच, सन्तोष, तप, जप (स्वाध्याय) और प्रणिधान नामक पाँच भेद ही बताए गए हैं।

मार्कण्डेय पुराण में अष्टाड्.ग योग के तृतीय अड्.ग आसन के विषय में कहा गया है कि पद्मासन अर्द्धासन, स्वस्तिकासनादि आसनों को बांधकर हृदय में प्रणव मन्त्र का जप करते समय योगानुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिए। साधक को सरल भाव से समासन अर्थात् जो आसन ऊँचा नीचा (ऊबड़–खाबड़) न हो, ऐसा आसन जमाकर दोनों पाँव और जंघाएं आगे की ओर बटोरकर, मुँह बन्द कर संयत चित्त से इस प्रकार बैठें कि जिससे हाथ से जननेन्द्रिय अथवा अण्डकोश छुआ न जा सके। इस आसन में सिर कुछ ऊँचा रहे और दाँतों से दाँत रगड़े न जायं। दृष्टि नासिकाग्र में स्थिर रहे, वह इधर-उधर विचलित न हो। योगाभ्यासी व्यक्ति उस समय रजोगुण के द्वारा तमोगुणी वृत्ति का और सत्व गुण के द्वारा राजसिक वृत्ति का निरास कर केवल मात्र निर्मल तत्व में अवस्थान करता हुआ योग साधन करे।[2]

१– स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाड्.मनःकायकर्मभिः।
सुनिश्चिलाशिवेभक्तिरेतदीशस्यपूजनम्।।
कूर्म पुराण, सम्पादक श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ० सं०१००, श्लोक सं० २६

२– मार्कण्डेय पुराण, वही पृ०सं० १२६

गरुड पुराण में योग के अड्.गों की विस्तृत व्याख्या न करके सक्षेप में वर्गीकृत करके स्पष्टीकरण किया गया है। गरूड़ पुराण में यम, नियन आदि अड्.गों की व्याख्या स्पष्ट करने के पश्चात आसन के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि पद्‌न आदि नाम के आसन हुआ करते हैं।[1] ब्रह्म पुराण में अष्टाड्.ग योग में से मात्र आसन तथा प्राणायाम की चर्चा की गई है शेष छः अंगों (यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) की विवेचना ब्रह्म, वर्णित आसन नामक अड्.ग के सन्दर्भ में विवेचना की गई हैं। ब्रह्म पुराण में आसन की चर्चा से पूर्व आसन के लिए उचित स्थान का भी वर्णन किया गया है। एकान्त आश्रम में,गूढ़ स्थान में, शब्द और भय से रहित पर्वतीय गुफा में, सूने घर मे अथवा पवित्र रमणीय और एकान्त देव मन्दिर में बैठ कर रात के पहले और पिछले पहर में अथवा दिन में पूर्वान्ह और मध्यान्ह काल में एकाग्र चित्त होकर योग साधन करें, भोजन थोडा तथा नियम के अनुकूल हो। इन्द्रियों पर पूरा पूरा नियन्त्रण रखें। सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर योगाभ्यास करना ही उचित बताया गया है। आसन सुखद और स्थिर हो। अधिक ऊँचा या अधिक नीचा न हो। योग के साधक को निःस्पृह, सत्यवादी और पवित्र होना चाहिए। यह निद्रा और क्रोध को अपने वश में रखें। सम्पूर्ण भूतों के हित में तत्पर रहें, सब प्रकार के द्वन्दों को सहन करें। शरीर, चरण और मस्तक को समान स्थिति में रखें दोनों हाथ नाभि पर रखकर शान्त हो पद्मासन में बैठें। दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर लगाकर प्राणायाम पूर्वक मौन रहें।[2] ब्रह्म पुराण में वर्णित उपरोक्त विवेचना से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल आसन से ही योग की सिद्धि नहीं हो जाती है बल्कि साधक को निःस्पृह एकाग्र तथा वैचारिक शुद्धता भी रखनी चाहिए।

१– स्वाध्यायः स्यान्मन्त्रजपः प्रणिधानं हरेर्यजिः।
आसन पद्मकाद्युक्तं प्राणायामों मरूज्जयः।।
पुराण, प्रथम खण्ड पं० श्री राम जी शर्मा
आचार्य सम्पादक, पृ० स० १३२ श्लोक सं० ३२

२– ब्रह्मपुराणाड्.क कल्याण, इक्कीसवे वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ संख्या ५८६

विष्णु पुराण में अष्टाङ्.ग योग के प्रत्येक अङ्.गों का वर्णन किया गया है। जिसमें अष्टाङ्.ग योग के अङ्.गों में से आसन के बारे में कहा गया है कि आसन अष्टाङ्.ग योग का तीसरा अङ्.ग है। विष्णु पुराण में आसन के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि भद्रासनादि आसनों में से किसी एक का अवलम्बन कर यम,नियमादि गुणों से युक्त होकर ही योग का अभ्यास करें।[1] गायत्री पुराण का अवलोकन करने के पश्चात ज्ञात होता है कि उक्त पुराण में अष्टाङ्.ग योग के प्रत्येक अङ्.गों की व्याख्या की गई है। गायत्री पुराण में योगाङ्.गो में से आसन के विषय में कहा गया है कि आसन का अर्थ है–स्थिति सुख सुविधा पूर्वक बैठकर प्राणायाम आदि का अभ्यास किया जा सके, ऐसी स्थिति में बैठना चाहिए। यदि कष्टदायक स्थिति में बैठेंगे तो अभ्यास में मन नहीं लगेगा।[2] अतएव योगाचार्यों ने नाना प्रकार के आसनों का वर्णन किया है। उन सब पर प्रकाश डालने का न तो कोई औचित्य है, न सम्भव ही है। फिर भी एक ऐसे आसन के विषय में बताया गया है कि जिसमें सुखपूर्वक बैठा जा सके। किसी कोमल आसन को बिछाकर पूर्व की ओर मुख करके पद्मासन लगाकर बैठें। अर्थात् पालती लगाकर बैठें, किन्तु दॉया पॉव बायी जॉघ पर रखना चाहिए। सीधा बैठें और शरीर को झुकाएँ नहीं। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर रखा जा सकता है। यह आसन अभ्यास से शीघ्र साध्य होता है।[3]

१– पराशर मुनि प्रणीत् श्री श्री विष्णु पुराण, पृ०सं० ५३।

२– गायत्री पुराण, हिन्दी अनुवादित, डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १८

३– गायत्री पुराण, वही, पृ० सं० १८

मत्स्य पुराण में अष्टाड्.ग योग का कहीं भी कोई वर्णन नहीं मिलता है। भविष्य पुराण में पातञ्जल योग दर्शन के अष्टाड्.ग योग में मात्र प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा की विवेचना तो की गई है किन्तु शेष अन्य पॉच अड्.गों (यम, नियन, आसन, ध्यान और समाधि) की चर्चा नहीं की गई है। कूर्म पुराण में आसन के तीन प्रकार बतलाए गए हैं– स्वस्तिक, पद्म और अर्द्धासन समस्त साधनों में यह अति उत्तम साधन होता है।[1] दोनो पादतल ऊरूओं के ऊपर कर रखें और समासीन स्वरूप में हो तो इसी को पद्मासन उत्तम आसन कहा गया है।[2] दोनों पादतलों को जानु और ऊरू के अन्तर रखें। ऐसे समासीनात्मा पुरुष का आसन परम स्वास्तिक कहा गया है। एक पाद को एक विष्टभ्य करके उसमें रखें–ऐसे स्थित के आसन को अर्द्वासन कहते हैं। यह योग साधन के लिए उत्तम आसन है।[3] शिव पुराण में आसन के आठा भेदों के नाम मात्र बतलाये गये हैं ये हैं–स्वस्तिक, आसन, पद्मासन, अर्द्धचन्द्रासन, वीरांसन, योगासन, प्रसाधितासन, पर्यक्ङासन और अपनी रुचि के अनुसार आसन के विषय में ही बतलाया गया है।[4]

१– आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्मर्द्धासन तथा।
साधनञ्च सर्वेषामतेत्साधनमुत्तमम्।। –कूर्म पुराण, सम्पादक– पं० श्री राम जी शर्मा
आचार्य, पृ०सं० १०३, श्लोक सं० ४३

३– ऊर्व्वोरुपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे।
समासीनात्मनः पद्मेतदासनमुत्तमम्।। –कूर्म पुराण, सम्पादक श्री राम जी शर्मा
आचार्य, पृ०सं० १०३, श्लोक सं० ४४

४– क उभे कृत्वापादतले जानूवेरिन्नरेण हि।
समासीनात्मनः प्रोक्तं मासनंस्वस्तिक परम्।।४५।।
ख एक पादमथैकस्मिन्विष्टभ्योरसि सत्तमाः।
आसीनार्द्धासनमिद योगसाधनमुत्तमम्।। ४६।।
–कूर्म पुराण, सम्पादक–श्री राम जी शर्मा, आचार्य पृ०सं० १०३, श्लोक सं० ४५/४६

पातञ्जल योग मे वर्णित अष्टाड्.ग योग में से चौथा साधन है–प्राणायाम। प्राणायान क्या है ? तथा इसकी क्रिया किस प्रकार से सम्पन्न की जा सकती है। इसका विशद विवरण लगभग समस्त पुराणों में किया गया है। जिसकी व्याख्या पुराणवार यहाँ पर की गई है। जो निम्नवत् है–

मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि प्राणायाम के द्वारा रागादि दोषों का, धारणा[1] के द्वारा पाप का, प्रत्याहार[2] के द्वारा विषयों, का और ध्यान के द्वारा ईश्वर विरोधी गुणों को भी दूर करें। जिस प्रकार पर्वतीय धातुओं को आग में तपाने से उनके दोष जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियजनित दोष दूर हो जाते हैं। इसलिए योग के ज्ञाता पुरुष को पहले प्राणायाम का ही साधन करना चाहिए। प्राण और अपान वायु को रोकने का नाम ही प्राणायाम है। यह लघु, मध्य और उत्तरीय के भेद से तीन प्रकार का बतलाया गया है।

मार्कण्डेय पुराण में लघु प्राणायाम की बारह मात्राएँ बतलाई गयी है। इससे दूनी मात्रा मध्यम और तिगुनी मात्रा का उत्तरीय अथवा उत्तम बताया गया है। पलकों को उठाने और गिराने में जितना समय लगता है, वही प्राणायाम की संख्या के लिए मात्रा कहा गया है। ऐसी ही बारह मात्राओं का लघु नामक प्राणायाम होता है। प्रथम प्राणायाम के द्वारा स्वेद (पसीने) को, मध्यम के द्वारा कम्प को और तृतीय प्राणायाम के द्वारा विषाद को जीता जा सकता है। इस प्रकार क्रमशः इन तीनों दोषों पर विजय प्राप्त करें। जैसे–सिंह, व्याघ्र और हाथी सेवा के द्वारा कोमल हो जाते हैं, उनकी कठोरता दब जाती है, उसी प्रकार प्राणायाम करने से प्राण योगी के वश में हो जाता हैं। जैसे–हाथीवान मतवाले हाथी को भी वश में करके उसे इच्छानुसार चलाता है, उसी प्रकार योगी वश में किए हुए प्राण को अपनी इच्छा के अधीन रखता है। जैसे–वश में किया हुआ सिंह, केवल मृगों को ही मारता है, मनुष्यों को नहीं, उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा वश में किया हुआ

१– देशबन्धश्चित्तस्य धारणा–किसी एक स्थान में चित्त को बाँधना अर्थात् परमात्मा में मन को स्थापित करना धारणा है।

२– इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर चित्त में लीन करना 'प्रत्याहार' कहलाता है।

–मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणाड.क, कल्याण, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०सं० १२८

प्राण केवल पापों का नाश करता है, मनुष्य के शरीर का नहीं। इसीलिए योगी पुरुष को सदा प्राणायाम में संलग्न रहना चाहिए।[1]

मार्कण्डेय पुराण में वर्णित ध्वस्ति, प्राप्ति संवित् और प्रसाद–ये मोक्ष रूपी फल प्रदान करने वाली प्राणायाम की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं। इसके पश्चात इसके स्वरूप के विषय में मार्कण्डेय पुराण में बताया गया है कि जिस अवस्था में शुभ और अशुभ सभी कर्मो का फल क्षीण हो जाये और जिसकी वासना नष्ट हो जाय, उसको 'ध्वस्ति' नाम से पुकारा गया है। जब योगी इस लोक और परलोक के भोगों के प्रति लोभ और मोह उत्पन्न करने वाली समस्त कामनाओं को रोककर सदा अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है, वह निरन्तर रहने वाली 'प्राप्ति' नामक अवस्था है। जिस समय योगी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा ग्रहों के समान प्रभावशाली होकर उत्तम ज्ञान सम्पत्ति प्राप्त करता है और उस ज्ञान सम्पत्ति से भूत–भविष्य की, बातों को तथा दूर स्थित एवं अदृश्य वस्तुओं को भी जान लेता है, उस समय प्राणायाम की 'संवित्त' नामक अवस्था होती है। जिस प्राणायाम से मन, पॉच प्राणवायु, सम्पूर्ण इन्द्रियॉ और इन्द्रियों के विषय प्रसाद को प्राप्त होते हैं, वह उसकी प्रसाद अवस्था है।[2]

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड में अष्टाड्.ग योग के समस्त अड्.गों का अत्यन्त विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। जिसमें वायु का जय प्राप्त करना ही प्राणायाम कहा गया है।[3] मन्त्र के ध्यान से जो मुक्त होता है वह अगभैक कहा जाता है। इस प्रकार से वह दो एवं तीन प्रकार का होता

१– मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणाड्.क वही, पृ०सं० १२६

२– कल्याण, संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्मपुराणांक सम्पादक–हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मन लाल गोस्वामी एम०ए०, शास्त्री। पृ० सं० १२६

३– स्वाध्यायः स्यान्मन्त्रजपः प्रणिधानं हरेर्यजिः।
आसनं पद्मकाद्युक्त प्राणायामो मरुज्जयः।। ३२४

है। पूरण करने से वह पूरक होता है, निश्चल होने से कुम्भक और रेचन से रेचक कहा जाता है।[1] बारह मात्राओं वाला लघु प्राणायाम होता है तथा छत्तीस मात्राओं से मुक्त परन श्रेष्ठ होता है। प्राणायाम के विषय में गरुड़ पुराण के द्वितीय खण्ड में बताया गया है कि– वायु का जय प्राप्त करना ही प्राणायाम है। प्रत्येक प्राणायाम पूरक, कुम्भक और रेचक के भेद से तीन प्रकार होता है। जो प्राणायाम लघु होता है वह दश मात्रा वाला होता है। इससे जो दुगुना होता है वह मध्यम होता है।[2] जिनमें लघु में तिगुनी मात्राएँ होती हैं वह उत्तम प्राणायाम कहा गया है। इस प्राणायाम के गर्भ अर्थात् मध्य में जप एवं ध्यान युक्त गर्भ वाला प्राणायाम विपरीतत्व को भक्षण करने वाला होता है।[3] प्रथम प्राणायाम के द्वारा वेपथु अर्थात् कम्प होता है। तृतीय प्राणायाम से विपाक होता है। इस अनुक्रम से ये दोष हुआ करते है। हृदय में प्रणव का ध्यान करके आसन पर स्थित होकर योग करें।

ब्रह्म पुराण में अष्टाड्.ग योग में से मात्र ध्यान और प्राणायाम का अत्यन्त संक्षिप्त रूप में परिचय दिया गया है। ब्रह्म पुराण मनकी एकाग्रता और प्राणायाम को ध्यान के दो भेदों के रूप में स्वीकार करता है।[4] विष्णु पुराण में अभ्यास के द्वारा जो प्राणवायु को वश में किया जाता है

१– मन्त्र ध्यानयुतो गर्भो विपरीतो हयगर्भकः।
एवं द्विधात्रिधाप्युक्त पूरणात् पूरकः स च।
कुम्भको निश्चलत्वाच्च रेचनाद्रेचकस्त्रिया।।३३।।
–गरुड़ पुराण प्रथम खण्ड सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ० सं० १३२

२– (क) सन्तोषस्तपसा शान्तिर्वासुदेवर्चन दमः।
आसनं पद्मकाद्युक्तं प्राणायामो मरुज्जयः।।३।।
(ख) प्रत्वेव त्रिविधः सोऽपि पूरककुम्भकरेचकैः।
लघुर्यो दशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः।।४।।
–गरुड़ पुराण द्वितीय खण्ड, वही पृ० सं० १६२

३– त्रिगुणाभिस्त मात्राभिरुत्तमः स उदाहृतः।
जप ध्यानयुतो गर्भो विपरीत त्वभक्षकः।।१५
–गरुड़ पुराण, सम्पादक– पं० श्री राम जी शर्मा, आचार्य, पृ०सं० १६३

४– ब्रह्म पुराणाड्.क वही पृ० सं० ५६६

उसे प्राणायाम कहा गया है। वह सबीज (ध्यान तथा मन्त्र पाठ आदि आलम्बन युक्त) और निर्बीज (निरालम्ब) भेद से दो प्रकार का है। सद गुरू के उपदेश से जब योगी प्राण और अपान वायु द्वारा एक दूसरे का निरोध करता है तो (क्रमश. रेचक और कुम्भक नामक) नामक दो प्राणायाम होते हैं और इन दोनों का ही एक समय संयत करने से (कुम्भक) नामक तीसरा प्राणायाम होता है। जब योगी सबीज प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करता है तो उसका आलम्बन भगवान अनन्त का हिरण्यगर्भ आदि स्थूल रूप होता है।[1]

गायत्री पुराण में प्राणायान का अर्थ श्वास–निःश्वास को संयमित करना बताया गया है। योगियों ने इसके भी अनेक भेद बतलाए हैं, किन्तु सामान्यतः पूरक, रेचक और कुम्भक। ये तीनों क्रियाएं ही प्राणायाम में मुख्य हैं। सुख–पूर्वक बैठा हुआ मनुष्य श्वास खींचने के लिए दॉयी नासिका को बन्द करे और बाँयी नासिका से श्वास खींचे यह पूरक है। खींचे हुए श्वास को भीतर रोक रखने को कुम्भक कहते हैं, फिर दाँयी नासिका से श्वास छोड़नी चाहिए, इस क्रिया को रेचक कहते हैं। यह क्रिया अभ्यास होने पर व्युत्क्रम से भी की जाती है अर्थात् दाँयी नासिका से श्वास रोके और बाँयी नासिका से छोड दें। वस्तुतः इस क्रिया में कुम्भक का भी अपना महत्व है। कुम्भक द्वारा जितनी देर श्वास रोके रखने का अभ्यास किया जायेगा, उतनी ही आयु बढ़ जाती है क्योंकि आयु श्वास पर निर्भर करती है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए श्वास शोधनार्थ जो प्राणायाम किया जाता है, उसमें एक नासिका से श्वास खींचते हैं और दूसरे से निकालते हैं। निरन्तर यह करने से नाड़ी शुद्ध होती रहती है।[2] जबकि मत्स्य पुराण में अष्टाड्.ग योग के किसी भी अड्.ग की चर्चा नहीं की गई है।

१– पराशर मुनि प्रणीत–श्री श्री विष्णु पुराण सम्पादक पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ० सं० ५३।

२– गायत्री पुराण, सम्पादक –डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० १६

भविष्य पुराण में कहा गया है कि प्राणायाम से शारीरिक दोष दूर हो जाते हैं। जैसे– आग के ताप में रखने से धातुओं के दोष दग्ध हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायान के द्वारा साधक के इन्द्रिय जनित दोष दग्ध हो जाते हैं। जैसे एक हाथ से मन को एव चित्त को शुद्ध कर पवित्र भावनाओं के द्वारा दुर्व्यसनों को शान्त कर मन, बुद्धि को अत्यन्त पवित्र कर लेना चाहिए। अतः चित्त की शुद्धि के लिए प्रयास करना चाहिए। चित्त की शुद्धि होने से शुभ और अशुभ कर्मों का ज्ञान होता है शुभ और अशुभ कर्मों से छुटकारा प्राप्त कर निर्द्वन्द, निर्मम, निष्परिग्रह और निरहड्.कार होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[1] कर्म कूर्म पुराण में कहा गया है कि प्राण अपनी देह में उत्पन्न वायु का नाम है उसका आयाम अर्थात् निरोध जिसमें किया जाता है वही प्राणायाम उत्तम–मध्यम और अधम तीन प्रकार का प्रतिपादित किया गया है। वह भी फिर दो प्रकार का कहा गया है– एक सगर्भ होता है और दूसरा अगर्भ है।[2] द्वादश मात्राओं वाला मन्द होता है–चौबीस मात्राओं वाला उत्तम

१– इन्द्रियैर्नियतैदेहीं र्दही धाराभिरिव तृप्यते।
सततममृतस्यैव जनार्दन महामते।।
प्राणायामैर्दहेददोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण ससर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान।।
ध्यायमानस्य दह्यन्ते चान्ते दोषा यथाग्निना।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्।।
चित्तं चित्तेन सशोध्य भावं भावेन शोध्येत्।
मनस्तु मनसा शोध्य बुद्धिं बुद्धया तु शोधयेत्।।
चित्तस्यातिप्रसादेन भाति कर्म शुभाशुभम्।
शुभाशुभ विनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।।
निर्ममो निरहंकारस्ततो याति परा गतिम्।।
कल्याण संक्षिप्त भविष्य पुराणाक पृ० सं० १४४, उद्घृत
ब्राह्मपर्व।४५/७–११

२– (क) यमाश्चनियमाः प्रोक्ताः प्राणायामन्निबोधत।
प्राणः स्वदेहजोवायुरायामस्तन्निरोधनम्।।३०।।
–कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, सम्पादक–पं श्री राम जी शर्मा आचार्य, पृ०सं० १०१

प्राणायाम होता है।[1] जो स्वेद, कम्पन, उछ्वास का क्रम से जनन करने वाला होता है तथा मनुष्यों का आनन्द से संयोग होता है वह उत्तमोत्तम होता है। सुनफ नाम वाला–हित योग को ही बुध लोग सगर्भ विजय कहते हैं। यह योगियों का ही कहा गया है। प्राणायाम का लक्षण यही है। व्याहृतियो के सहित प्रणव से युक्त तथा सिर से समन्वित गायत्री मन्त्र का आयत प्राण होकर तीन बार जाप करें। इसी को नाम से प्राणायाम कहा गया है। रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन प्रकार से प्राणायाम कहा जाता है। जिसको यत मन वाले योगियों ने समस्त शास्त्रों में कहा है। बाह्य निःश्वास को ही रेचक कहते हैं और उसका निरोध कर लेना ही पूरक होता है, साम्य से जो संस्थिति होती है। उसे कुम्भक कहा जाता है।[2]

शिव पुराण में प्राणायाम के विषय में कहा गया है कि अपने शरीर में प्रकट की हुई जो वायु है उसको प्राण कहते हैं। उसे रोकना ही उसका आयाम है। उस प्राणायाम के तीन भेद कहे गए हैं– रेचक, पूरक और कुम्भक।[3] नासिका के एक छिद्र को दबाकर या बन्द करके दूसरे से उदरस्थित वायु को बाहर निकालें। इस क्रिया को रेचक कहा गया है। फिर दूसरे नासिका छिद्र के द्वारा बाह्य वायु से शरीर को धौंकनी की भाँति भर लें। इसमें वायु के पूरण की क्रिया होने के कारण इसे 'पूरक' कहा गया है। जब साधक भीतर की वायु को न तो छोडता है, केवल भरे हुए घड़े की भॉति अविचल भाव से स्थित रहता है, तब उस प्राणायाम को कुम्भक नाम दिया जाता

---

१ उत्तमाधयम मध्यत्वात्रिधायं प्रतिपादितः।
य एव द्विविधः प्रोक्तः सगर्भोडगर्भएव च।।३१।
कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, सम्पादक–पं श्री राम जी शर्मा आचार्य, पृ०सं० १०।
२– मात्राद्वादशको मन्दश्च तुर्विशति मात्रकः।
मध्यानः प्राणसंरोधः षट्त्रिशंन्मात्रिकोडन्तकः।।
–कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, वही पृ० सं० १०।
३– संक्षिप्त शिव पुराण, स० हनुमान प्रसाद पोद्दार, वही पृ० सं० ६६७

हैं। योग के साधक को चाहिए कि वह रेचक आदि तीनों प्राणायाम को न तो बहुत जल्दी–जल्दी करें और न बहुत देर से करें। साधना के लिए उद्यत हो क्रम–योग से उसका अभ्यास करें। रेचक आदि में नाडी शोधन पूर्वक जो प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है, उसे स्वेच्छा से उत्क्रमण पर्यन्त करते रहना चाहिए–यह बात योग शास्त्र में बताई गई है। कनिष्ठ आदि के क्रम से प्राणायाम चार प्रकार का कहा गया है। मात्रा और गुणों के विभाग–तारतम्य से ये भेद बनते हैं। चार भेदो में से जो कन्यक या कनिष्ठ प्रणायाम है यह प्रथम उद्घात[1] कहा गया है इसमें बारह मात्राएँ होती हैं। मध्यम प्राणायाम द्वितीय उद्घात है, उसमें चौबीस मात्राएं होती हैं। उत्तम श्रेणी का प्राणायाम तृतीय उद्घात् हैं, उसमें छत्तीस मात्राएं होती हैं। उससे भी श्रेष्ठ जो सर्वोष्कृष्ट चतुर्थ[2] प्राणायाम है, वह शरीर में स्वेद और कम्प आदि का जनक होता है।[3]

योगी के अन्दर आनन्दजनित रोमाञ्च, नेत्रों से अश्रुपात जल्प भ्रान्ति और मूर्च्छा आदि भाव प्रकट होते हैं। घुटने के चारों ओर प्रदक्षिण–क्रम से न बहुत जल्दी और न बहुत धीरे धीरे चुटकी बजाएँ घुटने की परिकमा में इतनी देर तक एक चुटकी बजती है, उस समय का मान एक मात्रा है। मात्राओं को क्रमशः जानना चाहिए। उद्घात क्रम योग से नाड़ी शोधन पूर्वक प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम के दो भेद बताए गए हैं।– अगर्भ और सगर्भ। जप और ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है और जप तथा ध्यान के सहयोग पूर्वक किए जाने वाले प्राणायाम को सगर्भ कहते हैं अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम सौ गुना अधिक उत्तम है। इसलिए योगी जन प्रायः सगर्भ प्राणायाम किया करते हैं। प्राणविजय से ही शरीर की वायुओं पर विजय पाई जाती

१– उद्घात का अर्थ नाभिमूल से प्रेरणा की हुई वायु का सिर में टक्कर खाना है। यह प्राणायाम में देश, काल और संख्या का परिणाम है। –संक्षिप्त शिव पुराण, सं०–हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ० सं० ६६७

२– योग सूत्र में चतुर्थ प्राणायाम का परिचय इस प्रकार दिया गया है। "बाह्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर विषयों को फेंकने वाला प्राणायाम चतुर्थ है।

३– संक्षिप्त शिव पुराण वही, पृ०स० ६६७

है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग , कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय ये दस प्राणवायु हैं। प्राण प्रयाण करता है, इसलिए इसे प्राण कहते हैं। जो कुछ भोजन किया जाता है, उसे जो वायु नीचे ले जाती है उसको अपान कहते हैं। जो वायु सम्पूर्ण अड्.गों को बढ़ाती हुई उनमें व्याप्त रहती है, उसका नाम व्यान है। जो वायु मर्मस्थानों को उद्वेलित करती है, उसकी 'उदान' संज्ञा है। जो वायु सब अड्.गों को समभाव ले चलती है, वह अपने उस समनयन रूप कर्म से 'समान' कहलाती है। मुख से कुछ उगलने में कारण भूत वायु को 'नाग' कहा गया है। ऑख खोलने के व्यापार में 'कर्म' नामक वायु की स्थिति है। छींक में 'कृकल' और जॅभाई में 'देवदत्त' नानक वायु की स्थिति है। 'धनंजय' नामक वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। वह मृतक शरीर को भी नहीं छोड़ती है। क्रम से अभ्यास मे लाया हुआ यह प्राणायाम जब उचित प्रमाण या मात्रा से युक्त हो जाता है, तब वह कर्त्ता के सारे दोषों को दग्ध कर देता है और उसके शरीर की रक्षा करता है।[१]

प्राण पर विजय प्राप्त हो जाय तो उससे प्रकट होने वाले चिन्हों को भली प्रकार से जानें। पहली बात तो यह होती है कि विष्ठा, मूत्र और कफ की मात्रा घटने लगती है, अधिक भोजन करने की शक्ति हो जाती है और विलम्ब से साँस चलती है। शरीर में हल्कापन आता है। शीघ्र चलने की शक्ति प्रकट होती है। हृदय में उत्साह बढ़ता है। स्वर में मिठास आती है। समस्त रोगों का नाश हो जाता है। बल, तेज और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। घृति, मेद्या, भुवापन, स्थिरता, प्रसन्नता आती है। तप प्रायश्चित, या, दान और व्रत आदि जितने भी साधन हैं—ये प्राणायाम की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं है।[२]

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० सं० ६६८
२– संक्षिप्त शिव पुराण, वही।

पातञ्जल योग के अष्टाड्.ग योग मे वर्णित आठ अड्.गो में यन, नियम, आसन ओर प्राणायाम की पुराण वार विशद व्याख्या करने के पश्चात अष्टाड्.ग योग के पंचन अड्.ग प्रत्याहार की चर्चा की जाएगी। प्रत्याहा‌र क्या है? प्रत्याहार को इन आठ अड्.गों में क्यों गिना गया है? या प्रत्याहार की आवश्यकता समाधि में क्यों है? इन सबके विषय में पुराणवार विशद विवेचन किया गया है, जो इस प्रकार है–

मार्कण्डेय पुराण में प्रत्याहार के बारे में कहा गया है कि दृष्टि नासिका के अग्र भाग में स्थिर करे, वह इधर–उधर विचलित न हो। योगाभ्यासी व्यक्ति उस समय रजोगुण के द्वारा तमोगुणी वृत्ति का और सत्व गुण के द्वारा राजसिक वृत्ति का निरास कर केवल मात्र निर्मल तत्व में अवस्थान करता हुआ योग साधन करे। समवाय क्रम से इन्द्रियों और उनके विषयों को तथा मन और प्राणादि वायुओं को वशीभूत करके, कछुआ जिस प्रकार अपने सब अड्.गों को बटोर लेता है उसी प्रकार प्रत्याहार की साधना करनी चाहिए। इस प्रकार काम समूह को प्रत्याहार कर कंवल आत्मा में ही लौ लगा देने से आत्मा के द्वारा आत्मा का दर्शन होता है। विचक्षण योगाभ्यासी को कण्ठ से लेकर नाभि पर्यन्त बाह्य और अभ्यान्तरिक देह की शुद्धि करके प्रत्याहार की साधना करनी चाहिए। (१) मार्कण्डेय पुराण मे बताया गया है कि इन्द्रिय, प्राण आदि और मन को उनके विषयों से हटाकर प्रत्याहार का आरम्भ करें। अपने मन को संयम में रखने वाले योगी पुरुष शब्दादि विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियों को उनकी ओर से भोग द्वारा प्रत्याहृत–निवृत्त करते हैं, इसलिए यह प्रत्याहार कहलाता है।[१]

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, कल्याण–कार्यालय
गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० सं० १२६

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड में रोधन करने को ही प्रत्याहार कहा गया है। जबकि गरुड पुराण के द्वितीय खण्ड में प्रत्याहार के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि अपनी समस्त इन्द्रियों के विषयों से प्राणादि को एवं मन का पूर्णतया निगृहीत करके समवाय के द्वारा प्रत्याहार क्रम से करना चाहिए। जबकि ब्रह्म पुराण में मात्र आसन और प्राणायाम की ही चर्चा की गई हैं शेष यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की चर्चा उक्त पुराण में कही भी उपलब्ध नही हैं।

विष्णु पुराण में प्रत्याहार के बारे में बताया गया है कि प्राणायाम के पश्चात प्रत्याहार का अभ्यास करते हुए शब्दादि विषयों में अनुरक्त हुई अपनी इन्द्रियों को रोककर अपने चित्त की अनुगामिनी बनाता है। ऐसा करने से अत्यन्त, चञ्चल इन्द्रियॉ उसके वशीभूत हो जाती हैं। इन्द्रियों को अपने वश में किए बिना कोई योगी योग–साधना नहीं कर सकता। इस प्रकार प्राणायाम से वायु और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वशीभूत करके चित्त को उसके शुभ आश्रय में स्थित करें।[१]

गायत्री पुराण में कहा गया है कि योग का पाँचवा अड्.ग प्रत्याहार है। इसका अर्थ है इन्द्रियों को वश में करना। इन्द्रियॉ बाह्य विषयों की ओर दौड़ती हैं। योगी जन उन्हें उन–उन विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी रखने का अभ्यास करते हैं क्योंकि जब तक इन्द्रियॉ बाह्यमुखी रहती हैं, तब तक अपने–अपने विषयों के आस्वाद की इच्छा रखती हैं, जिससे मनुष्य के मन, प्राण और शरीर स्वच्छ नहीं हो पाते। ईश्वर प्रणिधान में यह इन्द्रियाँ बहुत बड़ी बाधा है।[२] मत्स्य पुराण में आष्टाड्.ग योग के किसी भी अड्.ग की चर्चा नहीं की गई है। भविष्य पुराण में प्रत्याहार के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रत्याहार से संसर्ग जनित दोष दूर हो जाते हैं।[३] शिव पुराण में अष्टाड्.ग योग

१– पराशर मुनि प्रणीत श्री श्री विष्णु पुराण, स०–पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ५३१

२– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, प्रकाशक, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब वेदनगर, बरेली, पृ० सं० १६

३– संक्षिप्त भविष्य पुराणाक्ङ, व्यवस्थापक–कल्याण कार्यालय, पत्रालय गीता प्रेस, गोरखपुर पृ०सं० १४४

के पॉचवे अड्.ग प्रत्याहार क विषय में बताया गया है कि अपने–अपने विषय में आसक्त हुई इन्द्रियों को वहॉ से हटाकर जो अपने अन्दर निगृहीत करता है, उस साधन को प्रत्याहार कहते हैं। मन और इन्द्रियॉ ही मनुष्य को स्वर्ग तथा नरक में ले जाने वाली हैं। यदि उन्हें वश में रखा जाय तो वे स्वर्ग की प्राप्ति कराती हैं और विषयों की ओर खुली छोड दिया जाय तो वे नरक मे डालने वाली होती हैं। इसलिए सुख की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह ज्ञान वैराग्य का आश्रय ले। इन्द्रिय रूपी अश्वों को शीघ्र ही काबू में करके स्वयं ही आत्मा का उद्धार करें।[1]

पातञ्जल योग दर्शन में वर्णित अष्टाड्.ग योग का छठा अड्.ग धारणा हैं धारणा के विषय में मार्कण्डेय पुराण में बताया गया है कि जिसके द्वारा मन को धारण किया जाय, वह धारणा कहलाती है। धारणा दो प्रकार की होती है। तत्वदर्शी योगियों ने भी योगाभ्यास में दो ही प्रकार की धारणा का उल्लेख किया है। नियतात्मा होकर योगाभ्यास करने से योगी के समस्त दोष मिट जाते हैं, शान्ति लाभ होता है, प्राकृत गुण पृथक रूप से दिखाई देते हैं, परब्रह्म का दर्शन होता है। मार्कण्डेय पुराण में पृथ्वी आदि सात प्रकार की सूक्ष्म धारणाएं बताई गई हैं जिन्हें योगी मस्तक में धारण करता हैं। सबसे पहले पृथ्वी की धारणा है उसे धारण करने से योगी को सुख प्राप्त होता है वह अपने को साक्षात् पृथ्वी मानता है। अतः पार्थिव विषय गन्ध का त्याग कर देता है। इसी प्रकार वह जल की धारणा से सूक्ष्म रस का, तेज की धारणा से सूक्ष्म रूप का, वायु की धारणा से स्पर्श का और आकाश की धारणा से सूक्ष्म प्रवृत्ति तथा शब्द का त्याग करता है। जब अपने मन से धारणा के द्वारा सम्पूर्ण भूतों के मन में प्रवेश करता है, तब उस मानसी धारणा को धारण करने के कारण उसका मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। इसी प्रकार योगवेत्ता पुरुष सम्पूर्ण जीवों की वृद्धि में प्रवेश करके परम उत्तम सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त करता है और फिर उसे त्याग देता है।

१–संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक – हनुमान प्रसाद पोद्दार पृष्ठ सं० ६६८

जो योगी इन सात सूक्ष्म धारणाओं का अनुभव करके उन्हें त्याग देता है, उसको इस संसार में फिर नहीं आना पड़ता। जितात्मा पुरुष क्रमशः इन सातों धारणाओं के सूक्ष्म रूप को देखे और त्याग करता जाये। ऐसा करने से वह परम सिद्धि को प्राप्त होता है। योगी पुरुष जिस–जिस भूत में राग करता है, उसी–उसी में आसक्त होकर नष्ट हो जाता है। इसलिए इन समस्त सूक्ष्म भूतों को परस्पर संसक्त जानकर जो इन्हे त्याग देता है, उसे परमपद की प्राप्ति होती है। पाँचो भूत और मनवृद्धि के इन सातों सूक्ष्म रूपो का विचार कर लेने पर उनके प्रति वैराग्य होता है, जो सद्भाव का ज्ञान रखने वाले पुरुष की मुक्ति का कारण बनता है। जो गन्ध आदि विषयों में आसक्त होता है, उसका विनाश हो जाताा है और उसे बार बार संसार में जन्म लेना पडता है। योगी पुरुष इन सातों धारणाओं को जीत लेने के बाद यदि चाहे तो किसी भी सूक्ष्म भूत में लीन हो सकता है। देवता, असुर, गन्धर्व, नाग और राक्षसों के शरीर में वह भी लीन हो जाता है।[१]

गरुड पुराण के प्रथम खण्ड में योग दर्शन के अष्टाड्.ग योग छठे अड्.ग 'धारणा' के विषय में अत्यन्त सूक्ष्म विवरण ही प्राप्त होता है। यहाँ पर मन की वृत्ति को ही धारणा बताया गया है।[२] द्वितीय खण्ड में बताया गया है जब अट्ठारह प्राणायाम किये जाते हैं तो धारणा विहित होती है। तत्व के जानने वाले योगियों के द्वारा इस प्रकार से दो धारणाओं को ही योग कहा गया है।[३] पहले नाड़ी में, फिर हृदय में और तीसरी, उर स्थल में कण्ठ में, मुख में, नासिका के अग्रभाग में, नेत्र में भ्रूमध्य और मूर्धा में कुछ उससे परे में, उस प्रकार से धारणा दस प्रकार की है जिससे योगाभ्यास

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्मपुराणाड्.क कल्याण–कार्यालय गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३१

२– गरुड़ पुराण, सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ०सं० १३४

३– प्राणायामा दशाष्टौ च धारणा स विधीयते।
द्वे धारणे स्मृतो योगो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।। –गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, पृ०सं० १६३ श्लोक सं० २०

करने वाला अक्षर रूपता को प्राप्त होता है। ब्रह्म पुराण में धारणा के विषय में कोई विशेष तथ्य प्राप्त नहीं होता किन्तु आसन और प्राणायान के विषय में चर्चा अवश्य मिलती हैं। विष्णु पुराण से ज्ञात होता है कि चित्त का सात्विक वृत्ति को किसी बाहरी या भीतरी प्रदेश में लगाना 'स्थापित करना' धारणा है।[2] इसके विषय में बताया गया है कि भगवान का मूर्त रूप चित्त को अन्य आलम्बनों से निःस्पृह कर देता है। इस प्रकार चित्त का भगवान में स्थिर करना ही धारणाा कहलाती है।[3] विष्णु पुराण में कहा गया है कि धारणा बिना किसी आधार के नहीं हो सकती। इसलिए भगवान के जिस मूर्त रूप का जिस प्रकार से ध्यान करना चाहिए उसके विषय में बताया गया है कि जो प्रसन्न वदन और कमल दल के समान सुन्दर नेत्रों वाले हैं, सुन्दर कपोल और विशाल भाल से अत्यन्त सुशोभित हैं और अपने, सुन्दर कानों में मनोहर कुण्डल पहने हुए हैं, जिनकी ग्रीवा शंख के समान और विशाल वक्ष स्थल श्रीवत्स चिन्ह से सुशोभित है, जो तरंगाकर त्रिवली और नीची नाभि वाले उदर से सुशोभित हैं, जिनकी लम्बी लम्बी आठ अथवा चार भुजाएं हैं तथा जिनके जंघा एवं उरू समान भाव से स्थित हैं और मनोहर चरणाविन्द सुघरता से विराजमान हैं, उन निर्मल पीताम्बर धारी ब्रह्म स्वरूप भगवान विष्णु का चिन्तन करें। किराट, हार, केयूर और कटक आदि आभूषणों से विभूषित, शार्ङ्.ग–धनुष, शंख, गदा, खड्ग, चक्र और अक्षमाला से युक्त वरद और अभय हाथों वाले (तथा अंगुलियों में धारण की हुई) रत्नमयी मुद्रिका

१– प्राङ्नाड्यां हृदये चात्र तृतीया चा तथोरसि।
कंण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र भ्रूमध्यमूर्धसु ।। २१।।

२– किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दशधा स्मृता
दशैता धारणाः प्राप्य प्राप्नोत्यक्षररूपताम्।।२२।।

३– यथाग्निरग्नौ संक्षिप्त स्तथात्मा परमात्मानि।
ब्रह्मरूप महापुण्यमोमित्येकाक्षरं जपेत्।।२३।।

गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, सम्पादक–पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य पृ०सं० १६४

से शोभायमान भगवान के दिव्यरूप का योगी को अपना चित्त एकाग्र करके तन्मय भाव से तब तक चिन्तन करना चाहिए जब तक यह धारणा दृढ़ न हो जाय। जब चलते फिरते, उठते बैठते या स्वेच्छानुकूल कोई और कर्म करते हुए भी ध्येय मूर्ति अपने चित्त से दूर न हो तो इसे सिद्ध हुई माननी चाहिए। इसके दृढ़ होने पर बुद्धिमान व्यक्ति शंख, चक्र, गदा और शार्ग्ड आदि से रहित भगवान के स्फतिकाक्ष माला और यज्ञोपवीत धारी शान्त स्वरूप का चिन्तन करें जब यह धारणा भी पूर्ववत स्थिर हो जाये तो भगवान के किरीट, केयूर आदि आभूषणों से रहित रूप का स्मरण करें।[1] विष्णु पुराण में बताया गया है कि जिस प्रकार वायु सहित अग्नि ऊँची ज्वालाओं से युक्त होकर शुष्क तृण समूह को जला डालता है, उसी प्रकार चित्त में स्थित हुए भगवान विष्णु योगियों के समस्त पाप नष्ट कर देते हैं। इसलिए सम्पूर्ण शक्तियों के आधार भगवान विष्णु में चित्त को स्थिर करें, यही शुद्ध धारणा कही गयी है।

गायत्री पुराण में धारणा के विषय में कहा गया है कि योग का छठा अड्.ग धारणा है। अर्थात् चित्त की वृत्ति यदि नासाग्र पर टिक जाय, तो वह उस अड्.ग की धारणा कही जाती है। योगी जन चित्त वृत्ति को भौहों के मध्य में, नासाग्र में, हृत्कमल में, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र अथवा देव–स्वरूप में स्थिर करने का अभ्यास करते हैं। किसी देव प्रतिमा पर धारण करने से भी प्रत्याहार के अभ्यास में सरलता रहती है। वस्तुतः धारणा ध्यान की ही आरम्भिक किया है। धारणा सुदृढ़ होने पर ध्यान में दृढ़ता आती है।

मत्स्य पुराण के प्रथम खण्ड में योग दर्शन में से मात्र कर्म योग की ही चर्चा की गई हैं जबकि मत्स्य पुराण के द्वितीय खण्ड में योग के किसी भी अड्.ग की चर्चा नहीं की गई है।

भविष्य पुराण में 'धारणा' के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि धारणा के द्वारा पूर्वजन्मार्जित कर्म तथा वर्तमान तक के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। अड्.गों की चर्चा अत्यन्त वृहद्

१– पराशर मुनि प्रणीत, श्री श्री विष्णु पुराण, सम्पादक आचार्य राम जी शर्मा पृ०सं० ५३५

रूप नें की गई है। धारणा के बारे में कहा गया है कि हृदय कमल में अथवा नाभि में मूर्द्धा पर्वो में–मस्तक में एवमादि स्थलों में चित्त के बन्धन को धारणा कहते हैं।[1] शिव पुराण में धारणा के विषय में बताया गया है कि चित्त को किसी–स्थान विशेष में बाँधना–किसी ध्येय विशेष में स्थिर करना ही धारणा है। एक मात्र शिव ही स्थान है। दूसरा नही, क्योंकि दूसरे स्थानों में त्रिविध दोष विद्यमान हैं। किसी नियमित काल तक स्थन स्वरूप शिव में स्थापित हुआ मन जब लक्ष्य से च्युत न हो तो धारणा की सिद्धि समझना चाहिए, अन्यथा नहीं। मन पहले धारणा से ही स्थिर होता है, इसलिए धारणा के अभ्यास से मन को धीर बनाया जा सकता है।[2]

पातञ्जल योग दर्शन मे वर्णित अष्टाड्.ग योग का सातवॉ अड्.ग ध्यान है। गरुड पुराण के प्रथम खण्ड में ध्यान के विषय में बतलाया गया है कि ब्रह्मात्म चिन्तन करने को ही ध्यान कहते हैं।[3] यानि योग साधना की सिद्धि हेतु ईश्वर का ध्यान अपरिहार्य है। यहॉ पर उल्लिखित है कि व्रत, आचार, अर्चना, ध्यान, स्तुति और जाप्य में तत्पर स्वायम्भुव आदि मुनिगण कर्म के द्वारा भगवान श्री हरि का ध्यान करते हैं। वह हरि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और अहड्.कार से वर्जित है। पृथ्वी से रहित है, आकाश से हीन तथा तेज से विहीन है। जल से रहित और उसके धर्म से परिवर्जित है एवं समस्त भूतों से रहित है।[4]

१– हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्निपर्वसु मस्तके। एवमादिषु देशषुधारणाचित्तबन्धनम्।।
 –कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, अनुवादित पृ० सं० १०२, श्लोक सं० ३६

२– संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ०सं० ६६८

३– ब्रह्मात्माचिन्ता ध्यानं स्नादधारणा मनसो धृतिः।
 अहं बृह्येत्यवस्थानं समाधिब्रह्मणः स्थितिः
 –गरुड़ पुराण प्रथम खण्ड, पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य, पृ०सं० १३३, ३५

४– स्वायम्भुवाद्यामुनयो हरिं ध्यायन्ति कर्मणा।
 व्रताचारार्चनाध्यानस्तुतिजप्य परायणाः।।
 देहेन्द्रियमनोबुद्धि प्राणाहंड्.कारवर्जितम्।
 आकाशेन विहीनं वै तेजसा परिवर्जितम्।। –गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, वही, पृ०सं० ३०४, श्लोक सं० १ व २

गरुड़ पुराण मे ध्यान का सबसे अच्छा साधन श्री हरि को बताया गया है क्योंकि वे साक्षात् योगी का स्वरूप थे। उनके योगी होने के स्वरूप का चित्रण पद्म पुराण के श्री हरि ध्यान महात्म्य स्पष्ट किया गया है। श्री हरि सम्पूर्ण भूतों के अध्यक्ष, वृद्ध, नियन्ता–प्रभु–विभु चैतन्य रूपता के रूप वाले–सबके अधिपति और निरंजन हैं मुक्त संग, बलि–महेशान और समस्त देवों के द्वारा प्रपूजित हैं। हरि तेज रूप वाले, असत्व और तप से परिवर्जित रजोगुण से रहित और तीनों गुणों से व्यतिरिक्त हैं। सब प्रकार के रूपों से विहीन और हरि कर्त्तृव्य आदि से विवर्जित हैं। वे वासना से रहित हैं। सम्पूर्ण दोषों से विवर्जित, प्यास से रहित और सतत् शोक से वर्जित है।[1]

भगवान वृद्धावस्था और मरण से रहित कूटस्थ मोह से वर्जित उत्पत्ति से रहित और प्रलय से वर्जित हैं। सम्पूर्ण जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं से वर्जित है, अर्थात जाग्रति आदि कोई भी अवस्था उसमें नहीं होती है। जाग्रद आदि के अध्यक्ष हैं। शान्त स्वरूप हैं और सुरों के ईश्वर हैं– जाग्रत आदि में स्थित, नित्य कार्य और कारण से वर्जित हैं। भगवान सर्वदृष्ट मूर्त सूक्ष्म तथा परम सूक्ष्मतर हैं। ज्ञान, दृक, और श्रोत्र के विज्ञान वाले परमानन्द के स्वरूप से समन्वित हैं। वे हरि विश्व से रहित और तैजस से विवर्जित, प्राज्ञ से रहित एवं तुरीय तथा परमाक्षर हैं। सबके गोप्ता सभी के हन्ता और समस्त भूतों के आत्म रूपी बुद्धि, धर्म से विहीन, निराधार शिव हैं।[2]

भगवान समस्त प्रकार की विक्रियाओं से रहित हैं तथा वेदान्तों के द्वारा जानने योग्य हैं, वेदों के स्वरूप वाले, पर–भूत, इन्द्रियों की पहुँच से परे एवं शुभ स्वरूप वाले हैं। वे शब्द से, रस से,

---

१– वासनारहितं शुद्धं सर्वदोषविवर्जितम्।
पिपासावर्जितं तत्तच्छोकमोहविवर्जितम्।। –गरुड पुराण, प्रथम खण्ड, प० श्री राम जी शर्मा आचार्य
श्लोक ३०४, श्लोक स० ७

२– जरामरणहीनं वै कूटस्थ मोहवर्त्तिम्।
उत्पत्ति रहितञ्चैव प्रलयेन विवर्जितम्।।..।।
सर्वाबारहीनं सत्यं निष्कल परमेश्वरम्।
जाग्रत्स्वप्न सुषुपत्यादिवर्जित नामवर्जितम्।।
– – – –निराधार शिव हरिम्।।१३ –गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, वही, पृ०सं० ३०५ (८–१३)

स्पर्श से रहित देव हैं। केवल रूप से रहित हैं। रूप, गन्ध से परिवर्जित हैं, अनादि हैं, ब्रह्म—रन्ध्र के अन्त और अह कवल ब्रह्म हूँ, ऐसे स्वरूप वाले है।[1] गरुड पुराण से पता चलता है कि जितेन्द्रिय हरि का ज्ञान एवं ध्यान करना चाहिए। जो इस विधि से ध्यान करता है वह मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है।[2]

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड से यह भी ज्ञात होता है कि हरि का ध्यान करने मात्र से ही माया—तन्त्र का विमर्दन हो जाता है। वह हरि का ध्यान मूर्त्त ध्यान एवं अमूर्त्त ध्यान इन भेदों से दो प्रकार का होता है। यहाँ पर उल्लिखित है कि कुन्द के पुष्प और गाय के समान दुग्ध के धवल वर्ण वाले हरि का ध्यान मुक्ति की इच्छा करने वालों को करना चाहिए। हरि का स्वरूप विशाल एवं परम सौम्य शंख से समन्वित है। यहाँ पर बताया गया है कि भगवान का मूर्ति स्वरूप महामुनियों के द्वारा ध्यान करने के योग्य है—असुरों के द्वारा भी ध्यान करने योग्य है और देवों के द्वारा भी ध्येय है।[3] सम्पूर्ण जगत का ध्यान रखने वाले भगवान विष्णु का जो लोग रीतिबद्ध होकर

१— विक्रियारहितञ्चैव वेदान्तैर्वेद्यमेव च।
वेदरूप परं भूत्तमिद्रियेयः परं शुभम्।।
शब्देन वर्जितञ्चेव रथेन च विवर्जितम्।
स्पर्शेन रहितं देवं रूपपात्रविवर्जितम्।।
रूपेण रहितञ्चैव बन्धेन परिवर्जितम्।
अनादि ब्रह्मरन्धान्तमहं ब्रह्मास्मि केवलम्।।
—गरुड़ पुराण, प० श्री राम शर्मा आचार्य, प्रथम खण्ड, पृ०सं० ३०६ श्लोक १४, १५, १६

२—एवं ज्ञात्वा महादेव ध्यानं कुर्याज्जितेन्द्रियः
ध्यानं य कुरुते ह्येवं स भवेद् ब्रह्म मानवः।।
—गरुड पुराण, वही, श्लोक स० १७

३— प्रवक्ष्यामिहर्ध्यान मायातन्त्र विमर्दकम्।
भूर्त्तामूर्त्तादिभेदेन तद्ध्यानं द्विविधं हर।।
कुन्दगोक्षीरधवलो हरिर्ध्येयो मुमुक्षुभिः।
विशालेन सुसौम्येन शखङेन च समन्वितः।।
मुनिध्येयोऽसुरध्येयो देवध्येयोऽतिसुन्दरः।
—गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, वही, पृ०सं० ३०७, ३०८

ध्यान करते हैं, वे परमोत्तम गति को प्राप्त होते है।

ब्रह्म पुराण में से ज्ञात होता है कि किसी विषय या वस्तु पर इन्द्रियों को केन्द्रित करना ही ध्यान कहलाता है। यहाँ पर भी ईश्वर के ध्यान पर बल देते हुए कहा गया है कि योगी जन ईश्वर का ध्यान करके ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। योग का सबसे प्रमुख कर्त्तव्य ध्यान ही है जिसे योगियों का सबसे बडा बल कहा जा सकता है। योग विद्या के ज्ञाता मन की एकाग्रता और प्राणायाम यानि इन्हीं दो को ध्यान बतलाया है। योगी को सब प्रकार की आसक्तियों का त्याग करके मिताहारी और जितेन्द्रिय होना चाहिए। उसे रात्रि के पहले और पिछले भाग में मन को परमात्मा में लगाकर अन्तः करण में ईश्वर के प्रति ध्यान लगाना चाहिए।[२]

ध्यान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए ब्रह्म पुराण में कहा गया है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों को मन के द्वारा स्थित करके मन को बुद्धि में स्थापित कर दे और पत्थर की भांति अविचल हो जाय, तभी उसे ध्यान एवं योग युक्त कहते हैं। जिस समय उसे सुनने, सूँघने, स्वाद लेने, देखने और स्पर्श करने की अनुभूति नहीं रहती, जब मन में किसी प्रकार का संकल्प नहीं उठता तथा वह काठ की भाँति स्थिर होकर किसी भी वस्तु का अभिमान या सुध–बुध नहीं रखता, उस समय मनीषी पुरूष उस अपने स्वरूप को ध्यान युक्त अथवा योगयुक्त कहते हैं। ध्यान निष्ठ योगी को अपने हृदय में धूमरहित अग्नि, किरण मालाओं से मण्डित सूर्य तथा विद्युत के प्रकाश की भाँति तेजस्वी आत्मा का साक्षात्कार होता है। धैर्यवान, मनीषी, वेदवेत्ता और महात्मा बाह्मण ही उस अजन्मा एवं अमृत स्वरूप ब्रह्म का दर्शन कर पाते हैं।[३]

१– तस्मात्वमपि देवेश विष्णुं चिन्तय शङ्.कर।
विष्णुध्यानं पठेद्यस्तु प्राप्नोति परमां गतिम्।।
–गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, स०–पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ३०६ श्लोक सं० १८

२– मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाङ्.क कल्याण संक्षिप्त, इक्कीसवें वर्ष का विशेषांक, गोरखपुर, पृ०स० ५६६

३– मार्कण्डेय–ब्रह्मपुराणाङ्.क वही, पृ०सं० ५६६

विष्णु पुराण में बताया गया है कि ईश्वर का ध्यान करते समय परमेश्वर के रूप की ही प्रतीति होती है, ऐसी जो विषयान्तर की स्पृहा से रहित एक अनवरत धारा है, उसे ही ध्यान कहते हैं। यह अपने पूर्व यम–नियमादि छः अड्.गो से निष्पन्न होता है। उस ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य कल्पनाहीन (ध्याता, ध्येय और ध्यान के भेद से रहित) स्वरूप ग्रहण किया जाता है।[1]

गायत्री पुराण में योग का सातवॉ अड्.ग ध्यान बतलाया गया है कि जहॉ चित्त को स्थिर रूप से ठहराया जाय, वहॉ उसकी वृत्ति का समान रूप से ठहरे रहना ही ध्यान है। धारणा में ध्येय के रूप वाली स्थिर वृत्ति की ही ध्यान संज्ञा बनती है अर्थात् निरन्तर ध्येय का बना रहना ही ध्यान है। ध्यान का अधिक अभ्यास ही साधक को समाधि की अवस्था में पहुँचा सकता है।[2] भविष्य पुराण में अष्टाड्.ग योग में से मात्र प्राणायाम, प्रत्याहार तथा ध्यान के विषय में बतलाया गया है। कि संसर्ग जनित दोष एवं ध्यान से जैविक दोषों को त्याग कर ईश्वरीय गुणों को प्राप्त करना चाहिए।[3] कूर्म पुराण में बताया गया है कि देश की स्थिति का अवलम्ब ग्रहण करके ऊपर की ओर जो वृत्ति की सन्तति है, जो कि प्रत्यन्तरों में न हो वही ध्यान होता है।[4]

शिव पुराण के अन्तर्गत ध्यान में 'ध्येयचिन्तायाम्' धातु माना गया है। इसी धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर ध्यान की सिद्धि होती है। अतः विक्षेप रहित चित्त से जो शिव का बारम्बार चिन्तन किया जाता है उसी का नाम ध्यान है। ध्येय में स्थित हुए चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति

१– पराशर मुनि प्रणीत–श्रीश्री विष्णु पुराण, प० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ५३५

२– गायत्री पुराण, सम्पादक डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० २०

३– संक्षिप्त भविष्य पुराणांक संख्या १ कल्याण संक्षिप्त भविश्य पुराणाड्.क, व्यवस्थापक कल्याण कार्यालय,पत्रालयगीता प्रेस, गोरखपुर पृ०सं० १४४

४– देशावस्थिति मागम्ब्यऊद्र्ध्वयावृत्ति सन्ततिः।
प्रत्यन्तरैरसृष्टायातद्ध्यानं सूरयोविदुः।।४०।। –कूर्म पुराण, प० श्री राम शर्मा आचार्य, पृ०सं० १०२

होती है और बीच मे दूसरी वृत्ति अन्तर नही डालती उस ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह रूप से बना रहना 'ध्यान' कहलाता है।[1] सब वस्तुओं को छोडकर केवल कल्याणकारी परम देव देवेश्वर शिव का ही ध्यान करना चाहिए। वे ही सबके परम ध्येय हैं। ये दोनों शिवा और शिव सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त है। श्रुति, स्मृति एवं शास्त्रों से यह सुना गया है कि शिवा और शिव सर्वव्यापक, सर्वदा उदित, सर्वज्ञ एवं नाना रूपों से निरन्तर ध्यान करने योग्य है इस ध्यान के दो प्रयोजन जानना चाहिए। पहला है मोक्ष और दूसरा प्रयोजन है अणिमा आदि सिद्धियों की उपलब्धि। ध्याता, ध्यान और ध्येय प्रयोजन–इन चारों को अच्छी तरह जान कर योगवेत्ता पुरुष योग का अभ्यास करें। जो ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न श्रद्धालु, क्षमाशील, ममतारहित तथा सदा उत्साह रखने वाला है ऐसा ही पुरुष ध्याता कहा गया है अर्थात् वही ध्यान करने में सफल हो सकता है।[2]

शिव पुराण में उल्लिखित है कि साधक को चाहिए कि वह जप से थकने पर फिर ध्यान करे और ध्यान से थक जाने पर पुनः जप करे। इस तरह जप और ध्यान में लगे हुए पुरुष का योग जल्दी सिद्ध होता है। बारह प्राणायामों की एक धारणा होती है। बारह धारणाओं का ध्यान होता है।[3] कुछ लोग मन की स्थिरता के लिए स्थूल रूप का ध्यान करते हैं। स्थूलरूप के चिन्तन में लगकर जब चित्त निश्चल हो जाता है, तब सूक्ष्म रूप में वह स्थिर होता है। भगवान शिव का चिन्तन करने पर सब सिद्धियॉ प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती हैं। अन्य मूर्तियों का ध्यान करने पर भी शिव रूप का अवश्य चिन्तन करना चाहिए। जिस–जिस रूप में मन की स्थिरता लक्षित हो, उसका बारम्बार ध्यान करना चाहिए। ध्यान पहले सविषय होता है, फिर निर्विषय़ होता है–ऐसा ज्ञानी पुरुषों का कथन है। इस विषय में कुछ सत्पुरुषों का मत है कि कोई भी ध्यान निर्विषय होता ही नहीं। बुद्धि की ही कोई प्रवाह रूपा सन्तति 'ध्यान' कहलाती है, इसलिए निर्विषय बुद्धि केवल

१– संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ०सं० ६६८

२– संक्षिप्त शिव पुराण, वही पृ०सं० ६६६

३– संक्षिप्त शिव पुराण, वही

निर्गुण–निराकार ब्रह्म में ही प्रवृत्त होती है। अतः सविषय ध्यान प्रातः काल के सूर्य की किरणों के समान ज्योति का आश्रय लेने वाला है तथा निर्विषय ध्यान सूक्ष्म् तत्त्व का अवलम्बन करने वाला है। इन दो के सिवा और कोई ध्यान वास्तव में नहीं है अथवा सविषय ध्यान साकार स्वरूप का अवलम्बन करने वाला है तथा निराकार स्वरूप का जो बोध या अनुभव है, वही निर्विषय ध्यान माना गया है। वह सविषय और निर्विषय ध्यान क्रमशः सबीज और निर्बीज कहा जाता है। निराकार का आश्रय लेने से उसे निर्बीज और साकार का आश्रय लेने से सबीज की संज्ञा की गई है। अतः पहले सविषय या सबीज ध्यान करके अन्त में सब प्रकार की सिद्धि के लिए निर्विषय अथवा निर्बीज ध्यान करना चाहिए। प्राणायाम करने से क्रमशः शान्ति आदि दिव्य सिद्धियॉ सिद्ध होती हैं। उनके नाम हैं– शांति, प्रशांति, दीप्ति और प्रसाद। समस्त आपदाओं के शमन को ही शांति कहा गया है।[1]

ध्याता, ध्यान और ध्यान प्रयोजन इन चारों को जानकर ध्यान करने वाला पुरूष ध्यान करें। जो ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न हो, सदा शान्तचित्त रहता हो, श्रद्धालु हो और जिसकी बुद्धि प्रसाद गुण से युक्त हो, ऐसे साधक को ही सत्पुरुषों ने ध्याता कहा है। 'ध्यैचिन्तायां' यह धातु है जिसका अर्थ है चिन्तन। भगवान शिव का बारम्बार चिन्तन ही ध्यान कहलाता है। जैसे थोड़ा सा भी योगाभ्यास पाप का नाश कर देता है, उसी तरह क्षणमात्र भी ध्यान करने वाले पुरुष के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। श्रद्धा पूर्वक, विक्षेप–रहित चित्त से परमेश्वर का जो चिन्तन है, उसी का नाम 'ध्यान' है। बुद्धि के प्रवाहरूप ध्यान का जो आलम्बन या आश्रय है, उसी को साधु पुरूष 'ध्येय' कहते हैं। स्वयं साम्ब सदाशिव ही वह ध्येय हैं। मोक्ष सुख का पूर्ण अनुभव और अणिमा आदि ऐश्वर्य की उपलब्धि–ये पूर्ण शिव ध्यान के साक्षात् प्रयोजन कहे गये हैं। ध्यान से सौख्य और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है। इसलिए मनुष्य को सबकुछ छोड़ कर ध्यान में लग जाना चाहिए।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, पृ० सं० ७०४

बिना ध्यान के ज्ञान नहीं होता और जिसने ध्यान का योग नही किया है, उसका ध्यान नहीं सिद्ध होता। जिसे ध्यान और ज्ञान दोनों प्राप्त हैं, उसने भवसागर को प्राप्त कर लिया है। समस्त उपाधियों से रहित निर्मल ज्ञान और एकाग्रतापूर्ण ध्यान– ये योगाभ्यास से युक्त योगी को ही सिद्ध होते हैं। जिनके सारे पाप नष्ट हो गये हैं उन्हीं की बुद्धि ज्ञान और ध्यान में लगती है। जिनकी बुद्धि पाप से दूषित है उनके लिए ज्ञान और ध्यान की बात अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे प्रज्जवलित हुई आग सूखी और गीली लकड़ी को भी जला देती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि शुभ और अशुभ कर्म को भी क्षणभर में दग्ध कर देती है। जैसे बहुत छोटा सा दीपक भी महान अंधकार का नाश कर देता है, उसी तरह थोड़ा सा योगाभ्यास भी महान पाप का विनाश कर डालता है। श्रद्धापूर्वक क्षण भर भी परमेश्वर का ध्यान करने वाले पुरुष को जो महान श्रेय प्राप्त होता है, उसका कहीं अन्त नहीं है।[१]

ध्यान के समान कोई तीर्थ नहीं हैं, ध्यान के समान कोई तप नहीं है। और ध्यान के समान कोई यज्ञ नहीं है।[२] अपने आत्मा एवं परमात्मा का बोध प्राप्त करने के कारण योगी जन केवल जल से भरे हुए तीर्थों देव मूर्तियों का आश्रय नहीं लेते (वे आत्म तीर्थ में अवगाहन करते और आत्मदेव के ही भजन में लगे रहते हैं) जैसे अयोगी पुरुषों को मिट्टी और काठ आदि की बनी हुई स्थूल मूर्तियों का प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह योगियों को ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। जैसे लोक में यह देखा गया है कि बाहरी लोग राज्य के भवन में राजकीय पुरुषोचित फल का उपयोग नहीं कर पाते, केवल अन्तःपुर के भागी लोग ही उस फल के भागी होते हैं, उसी

१– यथा वहिर्न्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्। तथा शुभाशुभं कर्म ध्यानाग्निर्दहते क्षणात्।।
ध्यायतः क्षणमात्रं वा श्रद्धयां परमेश्वरम्। यम्दवेत्
सुमहच्छ्रेयस्तस्यान्तो नैव विद्यते।।
–शिव पुराण वशिष्ठ, सं० उ० खं० ३६/२५, २७ पृ०सं० ७०५

२– नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसमं तपः।
नास्ति ध्यानरूपो यज्ञस्तस्माद्धयानं समाचरेत्।।
–शिव पुराण वाभिष्ठ, सं०उ० सं० ३६/२८

प्रकार यहां बाह्यकर्मी पुरुष उस फल को नही पाते, जो ध्यान योगियो का सुलभ होता है।[1]

पातञ्जल योग दर्शन में संकलित, अष्टाङ्.ग योग दर्शन का आठवाँ अङ्.ग 'समाधि' है, जिसका पुराणवार विवेचन निम्नवत् है।

गरुड़ पुराण में समाधि के विषय में कहा गया है कि मैं ही ब्रह्म हूँ– इस प्रकार की जो अतस्थिति होने पर ब्रह्म की स्थिति का प्राप्त हो जाना है, उसे ही समाधि कहा जाता है।[2] दूसरी ओर विष्णु पुराण से पता चलता है कि किसी ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य कल्पनाहीन (ध्याता, ध्येय और ध्यान के भेद से रहित) स्वरूप ग्रहण किया जाता है, उसे समाधि कहते हैं। समाधि से भगवत्साक्षात्कार रूप विज्ञान ही प्राप्तव्य परब्रह्म तक पहुँचाने वाला है तथा सम्पूर्ण भावनाओं से रहित एक मात्र आत्मा ही प्रापणीय यानि वहाँ तक पहुँचने वाला है।[3]

तदन्तर गायत्री पुराण में उल्लिखित है कि जिस अवस्था में ध्येय मात्र की ही प्रतीति रहे और चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाय वही ध्यानावस्था समाधि का रूप ले लेती है। वस्तुतः साधक जब ध्यान का आरम्भ करता है तब उसे यह बोध रहता है कि अमुक ध्येय का ध्यान करता हूँ। उस समय उसे धाता, ध्येय और ध्यान तीनों का आभास पृथक–पृथक होता है। किन्तु ध्यान का आभास बढ़ते बढ़ते जो चित्त धाता है, वह ध्येय रूप में बदल जाता है। उस स्थिति में न तो अपने स्वरूप का बोध रहता है और न यही बोध रहता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। केवल ध्येय स्वरूप का ही बोध रहता है। समाधि का यही स्वरूप है। (१) सांसारिक प्राणी यदि योग के

१– सक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पुद्दार, पृ०सं० ७०५

२– ब्रह्मात्माचिन्ता ध्यानं स्याद्धरणा मनसो धृतिः।
अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिर्ब्रह्मणः स्थितिः।।
गरूड पुराण, प्रथम खण्ड, सम्पादक–प० श्री श्री रामजी शर्मा, पृ०सं० १३३ श्लोक संख्या ३५

३– पराशर मुनि प्रणीत श्री श्री विष्णु पुराण, पृ०स० ५३५

४– गायत्री पुराण, अनुवादित, डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० २०, २१

द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना चाहे तो उसे ब्रह्म के निर्विकार रूप में आस्था रखकर साकार रूप का ध्यान सरल होता है। उसी पर ब्रह्म की परा विद्या महाशक्ति के अनेक रूप है, उनमें एक रूप गायत्री संज्ञक भी है। उसी गायत्री को सावित्री भी कहते हैं। उसका ध्यान परम कल्याणकारी है।

शिव पुराण में समाधि को योग का अन्तिम अङ्ग बताया गया है। जिसके विषय में वर्णित है कि बारह धारणाओं का ध्यान होता है और बारह ध्यान की एक समाधि होती है।[1] समाधि से सर्वत्र बुद्धि का प्रकाश फैलता है। समाधि शब्द को परिभाषित करते हुए शिव पुराण में कहा गया है कि जिस ध्यान में केवल ध्येय ही अर्थरूप से भासता है, ध्याता निश्चल महासागर के समान स्थिर भाव स्थित रहता है और ध्यान स्वरूप से शून्य सा हो जाता है, उसे 'समाधि' कहते हैं।[2]जो योगी ध्येय में चित्त को लगाकर सुस्थिर भाव से उसे देखता है और बुझी हुई आग के समान शान्त रहता है, वह समाधिस्थ कहलाता है। वह न सुनता है, न सूँघता है, न बोलता है, न देखता है न स्पर्श का अनुभव करता है, न मन से संकल्प–विकल्प करता है, न उसमें अभिमान की वृत्ति का उदय होता है और न वह बुद्धि के द्वारा ही कुछ समझता है। केवल काष्ठ की भाँति स्थित रहता है।[3] यानि शिव पुराण में इसी तरह शिव में लीन चित्त हुए योगी को समाधिस्थ कहा गया है। जैसे वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक कभी हिलता नहीं है– निस्पन्दन बना रहता है, उसी तरह समाधिनिष्ठ शुद्ध चित्त योगी भी उस समाधि से विचलित नहीं होता–सुस्थिर भाव से स्थिर रहता है। इस योगी के सारे अन्तराय नष्ट हो जाते हैं, सम्पूर्ण विघ्न भी धीरे–धीरे नष्ट हो जाते हैं और वह कैवल्य प्राप्ति हेतु, दृढ़चित्त हो जाता है।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पुद्दार, पृ०सं० ६६६
२– संक्षिप्त शिव पुराण, वही, पृ०स० ६६६
३– संक्षिप्त शिव पुराण, वही।

पञ्चम–अध्याय

योग शास्त्रीय कर्म सिद्धान्तों की विवेचना

योग शास्त्र में कर्मों का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से बताया गया है। कर्मों का सिद्धान्त है कि मनुष्य जब तक संसार में रहता है, तब तक कोई न कोई कार्य करता ही रहता है। उसका वर्तमान जन्म पूर्व जन्म में किए गए कर्मों का ही परिणाम है। जब मनुष्य जीवन पर्यन्त कार्य करता ही रहता है तब उसी जीवन में ही वह गृहस्थ के कर्त्तव्य का भी निर्वाह करता है। मार्कण्डेय पुराण में बतलाया गया है कि दान, अध्ययन, यज्ञ–ये तीन ब्राह्मण के धर्म हैं और यज्ञ कराना, विद्या पढाना और पवित्र दान लेना–ये तीन प्रकार की उसकी जीविका कही गयी है। दान, अध्ययन और यज्ञ–ये ही क्षत्रिय के भी धर्म हैं। पृथ्वी की रक्षा करना और शस्त्र ग्रहण करके जीवन–निर्वाह करना यह उसकी जीविका है। वैश्य के भी दान, अध्ययन और धर्म– ये ही तीन धर्म हैं। व्यापार, पशुपालन और खेती– ये उसकी जीविका है। दान–यज्ञ और द्विजातियों की सेवा– ये तीन प्रकार का धर्म शूद्र के लिए बतलाया गया है। शिल्प कर्म, द्विजातियों की सेवा और खरीद बिक्री– ये उसकी जीविका है। इस प्रकार ये वर्ण धर्म बतलाए गए हैं। आगे कहा गया है। कि यदि मनुष्य अपने वर्ण धर्म से भ्रष्ट न हो तो वह उसके द्वारा उत्तम सिद्धि को प्राप्त होता है और निषिद्ध कर्मों के आचरण से वह मृत्यु के पश्चात् नरक में पड़ता है।[१]

उपनयन संस्कार होने पर ब्रह्मचारी बालक को गुरू के घर में रहना चाहिए। गुरू के घर में ही रहकर वेदों का स्वाध्याय करे, अग्नि होत्र करे, तीनों समय अर्थात् सुबह दोपहर तथा शाम को स्नान करे, भिक्षा के लिए भ्रमण करे, भिक्षा में मिला हुआ अन्न गुरू को निवेदित करके उनकी आज्ञा के अनुसार ही सदा उसका उपयोग करे, गुरू के कार्यों में ही निरन्तर लगा रहे, भली प्रकार से गुरू को प्रसन्न रखे, गुरू के बुलाने पर एकाग्रचित्त से तत्परतापूर्वक पढ़े, गुरू के मुख से एक

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क–कल्याण गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० सं० ११३

दो या सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान प्राप्त करके गुरू के चरणों में प्रणाम करे और उन्हें गुरू दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। इस आश्रम में आने का उद्देश्य होना चाहिए– गृहस्थाश्रम– सम्बन्धी धर्मों का पालन अथवा अपनी इच्छा के अनुसार वह वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में प्रवेश करे या गुरू के घर में सदैव निवास करते हुए ब्रह्मचर्य निष्ठा को प्राप्त हो– नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन जाय। गुरू के न रहने पर उनके पुत्र की और पुत्र के न रहने पर उनके शिष्य की सेवा करे। अभिमान शून्य होकर ब्रह्मचर्य आश्रम में रहे।[1]

जब गृहस्थाश्रम में आने की इच्छा लेकर ब्रह्मचर्य आश्रम से निकले, तब अपने अनुरूप नीरोग स्त्री से विधि पूर्वक विवाह करे तथा गृहस्थ आश्रम में निवास करते हुए गृहस्थ आश्रम का विधिपूर्वक सञ्चालन करे। अपने पराक्रम से धन पैदा करके देवता, पितर एवं अतिथियों को भक्तिपूर्वक भली–भाँति तृप्त करे और अपने आश्रितों का भरण–पोषण करे। भृत्य, पुत्र, कुल की स्त्रियाँ, दीन, अन्ध और पतित मनुष्यों को तथा पशु–पक्षियों को भी यथा शक्ति अन्न देकर उनका पालन करे गृहस्थ का यह धर्म है कि ऋतुकाल में सहवास करे। अपनी शक्ति के अनुसार पाँचों यज्ञों का अनुष्ठान कें। अपने वैभव के अनुसार पितर, देवता, अतिथि एवं कुटुम्बी जनों के भोजन करने से बचे हुए अन्न को ही स्वयं भृत्यजनों के साथ आदर पूर्वक बैठकर ग्रहण करें।[2]

गृहस्थ आश्रम का पालन करने के पश्चात वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह अपनी सन्तान को देखकर तथा देह झुकी जा रही है, इस बात का विचार करके आत्म शुद्धि के लिए वानप्रस्थ आश्रम में जाय वहाँ वन के फल मूलों का उपभोग करे और तपस्या से शरीर को सुखाता रहे। पृथ्वी पर सोए ब्रह्म चर्य का पालन करे, देवताओं, पितरों और अतिथियों की सेवा में संलग्न रहे। अग्नि होत्र, त्रिकाल स्नान तथा जटा वल्कल धारणा करे, सदा योगाभ्यास

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाङ्क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाङ्क–कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० सं० ११३
२– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाङ्क वही पृ०सं० ११४

मे लगा रहे और वनवासियां पर स्नेह रखे। इस प्रकार यह पापों की शुद्धि तथा आत्मा का उपकार करने के लिए वानप्रस्थ का निर्माण किया गया हैं।

इसके पश्चात चौथा आश्रम संन्यास है। बड़े–बडे ऋषि, मुनियों तथा महात्माओं ने इस आश्रम हेतु भी कुछ उपर्युक्त कर्म बतलाए हैं। वह इस प्रकार है– सब प्रकार की आसक्तियो का त्याग ब्रह्मचर्य का पालन, क्रोध शून्यता, जितेन्द्रियता, एक स्थान पर अधिक दिनो तक रहना, किसी कर्म का आरम्भ न करना, भिक्षा में मिले हुए अन्न का एक बार भोजन करना, आत्म ज्ञान होने की इच्छा को जगाए रखना तथा सर्वत्र आत्मा का दर्शन करना आदि कर्म, इस आश्रम के अन्तर्गत आता है।

इसके अलावा अन्य आश्रमों के भी कुछ कर्त्तव्य बतलाए गए हैं। जो इस प्रकार हैं– सत्य, शौच, अहिंसा, दोष दृष्टि का अभाव, क्षमा, क्रूरता का अभाव, दीनता का न होना तथा सन्तोष धारण करना– ये वर्ण और आश्रम के धर्म संक्षेप में बतलाए गए हैं। जो पुरुष अपने वर्ण और आश्रम सम्बन्धी धर्म को छोड़कर उसके विपरीत आचरण करता है, वह राजा के लिए दण्डनीय है। जो मानव अपने धर्म का त्याग करके पाप कर्म में लग जाते हैं, उनकी उपेक्षा करने वाले राजा के इष्ट[१] और आपूर्त[२] धर्म नष्ट हो जाते हैं।

गृहस्थ धर्म का आश्रय लेकर मनुष्य इस सम्पूर्ण जगत का पोषण करता है और उससे मनोवांछित लोकों को जीत लेता है। पितर, मुनि देवता, भूत, मनुष्य, कृमि, कीट–पतड्.ग, पशु–पक्षी तथा असुर– ये सभी गृहस्थ से ही जीविका चलाते हैं। उसी के दिए हुए अन्न–पान से तृप्ति लाभ करते हैं तथा 'क्या ये हमें भी कुछ देगा ?' इस आशा से सदा उसी का मुँह ताकते

१– देव पूजा, अग्निहोत्र तथा यज्ञ यागादि कर्म 'इष्ट' कहलाते हैं।

२–कुआँ और बावली खुदवाना, बगीचे लगवाना और धर्म शाला बनवाना आदि कार्य 'आपूर्त' धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

सं० मा० ब्र० पुराणाड्.क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क–कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ११४

वेदत्रयी धेनु सबकी आधार–भूता हैं, उसी में सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है और वही विश्व की उत्पत्ति रहते हैं। का कारण मानी गई है। ऋग्वेद उसकी पीठ, यजुर्वेद उसका मध्य भाग तथा सामवेद उसका मुख और गर्दन है। इष्ट और आपूर्त धर्म ही उसके दो सींग हैं। अच्छी–अच्छी सूक्तियाँ ही उस धेनु के रोम हैं, शान्ति कर्म गोचर और पुष्टि कर्म उसका मूत्र है। अकार आदि वर्ण उसके अड्.गों के आधार भूत चरण हैं। सम्पूर्ण जगत का जीवन उसी से चलता है। वह वेदत्रयी रूप धेनु अक्षय है। उसका कभी क्षय नहीं होता। स्वाहा (देव यज्ञ) स्वाधा (पितृ यज्ञ), वषट्कार (ऋषि आदि की प्रसन्नता के लिए किए जाने वाले यज्ञ) तथा हन्ताकार (अतिथि यज्ञ)– ये चार स्तन हैं। स्वाहा रूप स्तन को देवता, स्वधा को पितर, वषट्कार को मुनि तथा हन्तकार रूप स्तन को मनुष्य सदा पीते हैं। इस प्रकार यह त्रयीमयी धेनु सबको तृप्त करती है। जो मनुष्य उन देवता आदि की वृत्ति का उच्छेद करता है। वह अत्यन्त पापाचारी है। उसे अन्धता मिस्त्र एवं तामिस्त्र नरक में गिरना पडता है। जो इस धेनु को इसके देवता आदि बछड़ों से मिलाता है और उन्हें उचित समय पर पीने का अवसर देता है, वह स्वर्ग में जाता है। जैसे– अपने शरीर का पोषण किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य को प्रतिदिन देवता ऋषि, पितर, मनुष्य तथा अन्य भूतों का भी पोषण करना चाहिए। इसलिए प्रातः काल स्नान करके पवित्र हो एकाग्र चित्त से जल द्वारा देवता, ऋषि, पितर और प्रजापति का तर्पण करना चाहिए। मनुष्य, फूल, गन्ध और धूप आदि सामग्रियों से देवताओं की पूजा करके आहुति के द्वारा अग्नि को तृप्त करें।[१]

ब्रह्मा और विश्वेदेवों के उद्देश्य से घर के मध्य भाग में बलि (पूजोपहार) अर्पण करें पूर्व और उत्तर के कोण में मन्वन्तर के लिए बलि प्रस्तुत करें। पूर्व दिशा में इन्द्र को, दक्षिण में यम को, पश्चिम में वरुण को तथा उत्तर में सोम को बलि दें। घर के दरवाजे पर धाता और विधाता के लिए बलि अर्पण करें, घर के बाहर चारों ओर अर्यमा देवता के निमित्त बलि प्रस्तुत करें।

१– सं० मा० ब्र० पुराणाक्ङ, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क–कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ११४

निशाचरों और भूतों को आकाश में बलि दें। गृहस्थ पुरुष एकाग्रचित्त हो दक्षिण दिशा की ओर मुह करके तत्परतापूर्वक पितरों के पिण्ड दें। तदनन्तर विद्वान पुरुष जल लेकर उन्हीं–उन्हीं स्थानों पर, उन्हीं–उन्हीं देवताओ के उद्देश्य से आचमन के लिए जल छोड़े। इस प्रकार गृहस्थ पुरुष घर में पवित्रता पूर्वक गृह–देवताओं के उद्देश्य से बलि देकर अन्य भूतों की तृप्ति के लिए आदरपूर्वक अन्न का त्याग करे। कुत्तों, चाण्डालों और पक्षियों के लिए पृथ्वी पर अन्न रख दे। यह वैश्वदेव नामक कर्म है। इसे प्रातः काल और सायंकाल आवश्यक बताया गया है।

इसके बाद बुद्धिमान पुरुष आचमन करके कुछ काल तक अतिथि की प्रतीक्षा करते हुए घर के दरवाजे की ओर दृष्टि रखे। यदि कोई अतिथि वहाँ आ जाये तो यथा शक्ति अन्न, जल, पुष्प आदि के द्वारा उसका सत्कार करे। अपने ग्रामवासी पुरुष को या मित्र को अतिथि न बनायें। जिसके कुल और नाम आदि का ज्ञान न हो, जो उसी समय यहाँ उपस्थित हुआ हो, भोजन की इच्छा रखता हो, थका माँदा आया हुआ हो, अन्न माँगता हो, ऐसे अकिञ्चन ब्राह्मण को अतिथि कहते हैं। विद्वान पुरुष को उचित है कि वे अपनी शक्ति के अनुसार उस अतिथि का पूजन करें। उसके गोत्र और शाखा न पूछें। उसने कहाँ तक अध्ययन किया है, इसकी जिज्ञासा भी न करें। उसकी आकृति सुन्दर हो या असुन्दर, उसे साक्षात् प्रजापति समझें। वह नित्य स्थित नहीं रहता, इसलिए उसे अतिथि कहते हैं। उसकी तृप्ति होने पर गृहस्थ पुरुष मनुष्य–यज्ञ के ऋण से मुक्त हो जाता है। जो उस अतिथि को अन्न दिए बिना ही स्वयं भोजन करता है, वह केवल पाप भोजन करता है और दूसरे जन्म में उसे विष्ठा खानी पड़ती है। अतिथि जिसके घर से निराश होकर लौटता है। उसको अपना पाप दे स्वयं उसका पुण्य लेकर चल देता है।[१] अतः मनुष्य को उचित है कि वह जल और साग देकर अथवा स्वयं जो कुछ खाता है, उसी से अपनी शक्ति के अनुसार आदर पूर्वक अतिथि का पूजन करें।

१– अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते। स दत्तवा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति। –उद्धृत संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाङ्क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाङ्क–कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ११५

गृहस्थ पुरुष प्रतिदिन पितरों के उद्देश्य से अन्न और जल के द्वारा श्राद्ध करे और अनेक या एक ब्राह्मण को भोजन कराए। अन्न में से अग्राशन निकाल कर ब्राह्मण को दे दे। ब्रह्मचारी और संन्यासी जब भिक्षा मांगने के लिए आयें, तब उन्हें भिक्षा अवश्य दे। एक ग्रास अन्न को भिक्षा, चार ग्रास अन्न को अग्राशन और अग्राशन से चौगुने अन्न को श्रेष्ठ द्विज हन्तकार कहते हैं।[1] भोजन में से अपने वैभव के अनुसार हन्तकार, अग्राशन अथवा भिक्षा दिए बिना कदापि उसे ग्रहण न करें। अतिथियों का पूजन करने के बाद प्रियजनो, कुटुम्बियों, भाई–बन्धुओं, याचकों, आकुल व्यक्तियों, बालकों, वृद्धों और रोगियों को भोजन कराये। इनके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा अकिञ्चन मनुष्य भी भूख से व्याकुल होकर अन्न की याचना करता हो तो गृहस्थ पुरुष वैभव होने पर उसे अवश्य भोजन कराये। जो सजातीय बन्धु अपने किसी धनी सजातीय के पास जाकर भी भोजन का कष्ट पाता है। वह उस कष्ट की अवस्था में जो पाप कर बैठता है, उसे वह धनी मनुष्य भी भोगता है। सांय काल में भी इसी नियम का पालन करें। सूर्यास्त होने पर जो अतिथि वहाँ आ जाय, उसकी यथा शक्ति शय्या, आसन और भोजन के द्वारा पूजा करे। जो इस प्रकार अपने कंधों पर रखा हुआ गृहस्थाश्रम का भार ढोता है, उसके लिए स्वयं ब्रह्मा जी, देवता, पितर, महर्षि, अतिथि, बन्धु–बान्धव, पशु–पक्षी और छोटे–छोटे कीड़े भी जो उसके अन्न से तृप्त रहते हैं। कल्याण कारी वर्षा करते हैं।[2]

१– ग्रासप्रमाणा भिक्षा स्यादग्रं ग्रासचतुष्टयम्।
अग्रं चतुर्गुणं प्रादुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः।। (२६–३५)
–उद्धृत संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाङ्क,
इक्कीसवें वर्ष का विशेषाङ्क–कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ११५

२– मार्कण्डये–ब्रह्म पुराणाङ्क (इक्कीसवें वर्ष का विशेषाङ्क)
कल्याण–कार्यालय गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ११५

श्राद्ध कर्म का वर्णन

गृहस्थ के कर्म तीन प्रकार के हैं– नित्य, नैमित्तिक और नित्यानैमित्तिक। पञ्च यज्ञ सम्बन्धी कर्म नित्य कर्म कहलाता है। पुत्र जन्मादि के उपलक्ष्य में किए हुए कर्म को नैमित्तिक कहते हैं। पर्व के अवसर पर जो श्राद्ध आदि किए जाते हैं, उन्हें विद्वान पुरुषों को नित्य–नैमित्तिक कर्म कहना चाहिए। आभ्युदयिक श्राद्ध नैमित्तिक कर्म है, जिसे पुत्र जन्म के अवसर पर आन कर्म–संस्कारों के साथ करना चाहिए। विवाह आदि मे भी जिस क्रम से यह बताया गया है भली–भांति उसका उपयोग करना चाहिए नान्दी मुख नाम के जो पितर हैं, उन्ही का उसमें पूजन करना चाहिए और उन्हें दधि मिश्रित जौ के पिण्ड देने चाहिए। उस समय यजमान को एकाग्रचित्त होकर उत्तर या पूर्व की ओर मुँह करके बैठना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि इसमें बलि वैश्वदेव नहीं होता। आभ्युदयिक श्राद्ध में युग्म ब्राह्मणों को नियन्त्रित करना और प्रदक्षिणा–पूर्वक उनका पूजन करना उचित है। यह वृद्धि के अवसरों पर किया जाने वाला नैमित्तिक श्राद्ध है। इससे भिन्न और्ध्वदैहिक श्राद्ध है, जो मृत्यु के पश्चात किया जाता है।[१]

मृत व्यक्ति जिस दिन मरा हो, उस तिथि को एकोदिष्ट श्राद्ध करना चाहिए। उसमें विश्वेदेवों की पूजा नहीं होती। एक ही पवित्रक का उपयोग किया जाता है। आवाहन तथा अग्निकरण की क्रिया भी नहीं होती। ब्राह्मण के उच्छिष्ट के समीप प्रेत को तिल और जल के साथ अपसत्य होकर (जनेऊ को दाहिने कन्धे पर डालकर) उसके नाम, गोत्र का स्मरण करते हुए एक पिण्ड देना चाहिए। तत्पश्चात हाथ में जल लेकर कहें– 'अमुक के आश्रम में दिया हुआ अन्न–पान आदि अक्षय हो।' यह कहकर वह जल, पिण्ड पर छोड़ दे; फिर ब्राह्मणों का विसर्जन करते समय कहें– 'अभिरभ्यताम्' (आप लोग सब तरह से प्रसन्न हों)। एकोदिष्ट श्राद्ध एक वर्ष तक प्रति मास करना उचित है। वर्ष पूरा होने पर जब भी श्राद्ध किया जाय, पहले सपिण्डीकरण

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क–कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ११६

करना आवश्यक होता है। उसकी भी विधि बतलाई जाती है। यह सपिण्डीकरण भी विश्वेदेवों की पूजा से रहित होता है। इसमें भी एक ही अर्घ्य और एक ही पवित्रक का विधान है। अग्नि करण और आवाहन की क्रिया इसमें भी नहीं होती। इसमें अपसत्य होकर अयुग्म ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। इसमें तिल, चन्दन और जल से युक्त चार पात्र होते हैं। उनमें से तीन तो पितरों के लिए और एक प्रेत के लिए होता है। प्रेत के पात्र और अर्घ्य को लेकर 'ये समानाः सुमनसः पितरो यमराज्ये' इत्यादि मन्त्र का जप करते हुए पितरों के तीनों पात्रों में सींचना चाहिए। शेष कार्य पूर्ववत् करना चाहिए। स्त्रियों के लिए भी ऐसे ही एकोदिष्ट का विधान है। यदि पुत्र न हो तो स्त्रियों का सपिण्डीकरण नहीं होता। पुरुषों को उचित है कि वे स्त्रियों के लिए भी प्रतिवर्ष उनकी मृत्यु तिथि को विधि–पूर्वक एकोदिष्ट श्राद्ध करें। उनके लिए भी पुरुषों के समान ही विधान है। पुत्र के अभाव में सपिण्ड, सपिण्ड के अभाव में सहोदक, उनके भी अभाव में माता के सपिण्ड[१] और सहोदक[२] इस विधि को पूर्ण करें। जिसके कोई पुत्र नहीं है। उसका श्राद्ध उसके दौहित्र कर सकते हैं। पुत्री के पुत्र नाना का नैमित्तिक श्राद्ध करने के भी अधिकारी हैं। जिनकी द्वयामुष्यायण [३] संज्ञा है, ऐसे पुत्र नाना और बाबा दोनों के नैमित्तिक श्राद्धों में भी विधि–पूर्वक पूजन कर सकते हैं। कोई भी न हो तो स्त्रियाँ ही अपने पतियों का मन्त्रोच्चारण किए बिना श्राद्ध कर सकती हैं। वे भी न हों तो राजा अपने कुटुम्बी मनुष्य से अथवा मृतक के सजातीय मनुष्यों द्वारा दाह आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ पूर्ण कराये, क्योंकि राजा सब वर्णों का बन्धु होता है।[४]

१– पिता से लेकर ऊपर की सात पीढी तक और माता से लेकर नाना आदि पाँच पीढ़ी तक सपिण्डता मानी जाती है। किसी के मत में छ. पीढी ऊपर और छः पीढी नीचे तक के लोग सपिण्ड की गणना में आते हैं।

२– जिनकी ग्यारहवीं से लेकर चौदहवी तक ऊपर की पीढ़ी एक हो, वे सहोदक या समानोदक कहलाते है।

३– वह पुत्र जो एक से तो उत्पन्न हुआ हो और दूसरे के द्वारा दत्तक के रूप में ग्रहण किया गया हो और दोनों पिता उसको अपना–अपना पुत्र मानते हो, द्रयामुष्यायण (दोनों का) कहलाता है। ऐसा पुत्र दोनों को पिण्डदान देता है और दोनों की सम्पत्ति का अधिकारी होता है।

४– मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाङ्क (इक्कीसवें वर्ष का विशेषांक), कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०स० ११६

सपिण्डीकरण के पश्चात् पिता के प्रपितामह लेपभागभोजी पितरों की श्रेणी में चले जाते हैं। उन्हें पितृ–पिण्ड पाने का अधिकार नहीं रहता। उनसे आरम्भ करके चार पीढ़ी ऊपर के पितर, जो अब तक पुत्र के लेप भाग का अन्न ग्रहण करते थे, उसके सम्बन्ध से रहित हो जाते हैं। अब उनको लेप भाग का अन्न पाने का भी अधिकार नहीं रहता। वे सम्बन्ध हीन अन्न का उपभोग करते हैं। पिता, पितामह और प्रपितामह–इन तीन पुरुषों को पिण्ड के अधिकारी समझना चाहिए। इनसे अर्थात् पिता के पितामह से ऊपर जो तीन पीढ़ी के पुरुष हैं, वे लेपभाग के अधिकारी हैं। इस प्रकार छः ये और सातवाँ यजमान, सब मिलाकर सात पुरुषों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध यजमान से लेकर ऊपर के लेपभाग भोजी पितरों तक माना जाता है। इनसे ऊपर के सभी पितर पूर्वज कहलाते हैं। इनमे से जो नरक में निवास करते हैं, जो पशु पक्षी की योनि में पड़े हैं तथा जो भूत–प्रेत आदि के रूप में स्थित हैं, उन सबको विधिपूर्वक श्राद्ध करने वाला यजमान तृप्त करता है। मनुष्य पृथ्वी पर जो अन्न बिखेरते हैं, उससे पिशाच योनि में पड़े हुए पितरों की तृप्ति होती है। स्नान के वस्त्र से जो जल पृथ्वी पर टपकता है, उससे वृक्ष योनि में पड़े हुए पितर तृप्त होते हैं। नहाने पर अपने शरीर से जो जल के कण इस पृथ्वी पर गिरते हैं, उनसे उन पितरों की तृप्ति होती है, जो देव भाव को प्राप्त हुए हैं, पिण्डों के उठाने पर जो अन्न के कण पृथ्वी पर गिरते हैं, उनसे पशु–पक्षी की योनि में पडे हुए पितरो की तृप्ति होती है। कुल में जो बालक श्राद्ध कर्म के योग्य होकर भी संस्कार से वञ्चित रह गए हैं अथवा जलकर मरे हैं, वे बिखेरे हुए अन्न और सम्मार्जन के जल को गृहण करते हैं। ब्राह्मण लोग भोजन करके जब हाथ–मुँह धोते हैं और चरणों का प्रक्षालन करते हैं, उस जल से भी अन्यान्य पितरों की तृप्ति होती है। उत्तम विधि से श्राद्ध करने वाले पुरुषों के अन्य पितर यदि दूसरी–दूसरी योनि में चले गए हो तो भी उस श्राद्ध से उन्हें बड़ी तृप्ति होती है। अन्यायोपार्जित धन से जो श्राद्ध किया जाता है, उससे चाण्डाल आदि योनियों में पड़े हुए पितर तृप्त होते है। इस प्रकार यहाँ श्राद्ध करने वाले भाई–बन्धु अन्न और जल के कण मात्र से अनेक पितरों को तृप्त करते हैं। इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह पितरों के

प्रति भक्ति रखते हुए शाकमात्र के द्वारा भी विधि–पूर्वक श्राद्ध करें। श्राद्ध करने वाले पुरुष के कुल में कोई दुःख नहीं भोगता।

प्रत्येक मास की अमावस्या को जिस दिन चन्द्रमा की सम्पूर्ण कलाएँ क्षीण हो गयी हों तथा अष्टका[1] तिथि को अवश्य श्राद्ध करना चाहिए। किसी विशिष्ट ब्राह्मण के आने पर, सूर्य–ग्रहण और चन्द्र ग्रहण में, अयन आरम्भ होने पर, विषु–वियोग में[2], सूर्य के संक्रान्ति के दिन, व्यतीपात योग में, श्राद्ध के योग्य सामग्री की प्राप्ति होने पर, दुःस्वप्न दिखाई देने पर, जन्म नक्षत्र के दिन एवं ग्रह जनित पीड़ा होने पर स्वेच्छा से श्राद्ध का अनुष्ठान करे। श्रेष्ठ ब्राह्मण, श्रोत्रिय, योगी, वेदज्ञ, ज्येष्ठ सामग, त्रिणाचिकेत[3], त्रिमधु[4] त्रिसुपर्णि[5], षडड्.गवेत्ता, दौहित्र, ऋत्विक, जामाता, भानजा, पञ्चाग्नि–कर्म में तत्पर, तपस्वी मामा, माता–पिता के भक्त, शिष्य–सम्बन्धी एवं भाई–बन्धु– ये सभी श्राद्ध में उत्तम माने गए हैं, इन्हें निमन्त्रित करना चाहिए। धर्म–भ्रष्ट, रोगी, हीनाड्.ग, अधिकड्.ग, दो बार ब्याही गयी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न, काना, पति के जीते जी जार पुरुष से पैदा की हुई सन्तान, मित्र द्रोही, खराब नखों वाला, नपुंसक, काले दांत वाला, कुरूप, पिता के द्वारा कलड्.कत, चुगलखोर, सोमरस बेचने वाला, कन्या को दूषित करने वाला, वैद्य गुरू एवं माता–पिता का त्याग करने वाला, वेतन लेकर पढ़ाने वाला शत्रु, जो पहले, दूसरे की पत्नी रह चुकी हो, ऐसी स्त्री का पति, वेदाध्ययन तथा अग्नि होत्र का त्याग करने वाला, शूद्र जातीय स्त्री के पति होने के दोष से दूषित तथा शास्त्र–विरुद्ध कर्म में लगे रहने वाले अन्यान्य द्विज, श्राद्ध में त्याग देने योग्य हैं।[6]

१– पौष, माघ, फाल्गुन तथा चैत्र के कृष्ण पक्ष की अष्टमि को अष्टका कहते हैं।

२– जिस समय सूर्य विषुव रेखा पर पहुँचते हैं और दिन–रात बराबर होते हैं, उसे 'विषुव' कहते हैं।

३– द्वितीय कठ के अन्तर्गत 'अयं वाव यः पवते' इत्यादि तीन त्रिणाचिकेत नामक अनुवाकों को पढने या उसका अनुष्ठान करने वाला।

४– 'मधुवाताः' इत्यादि ऋचा का अध्ययन और मधुव्रत का आचरण करने वाला।

५– 'ब्रह्म मेतु माम्' इत्यादि तीन अनुवाकों का अध्ययन और तत्सम्बन्धी व्रत करने वाला।

६– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क–कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ११७

श्रेष्ठ द्विजों को देवयज्ञ अथवा श्राद्ध में एक दिन पहले ही निमन्त्रण देना चाहिए। उसी समय से ब्राह्मणों तथा श्राद्ध कर्त्ता को भी संयम से रहना चाहिए। जो श्राद्ध में दान देकर अथवा श्राद्ध में भोजन करके मैथुन करता है उसके रज–वीर्य में एक मास तक पितरों को शयन करना पड़ता है। जो स्त्री सहवास करके श्राद्ध में जाता है और खाता है, उसके पितर उसी के वीर्य और मूत्र का एक मास तक आहार करते हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को एक दिन स्त्री प्रसंगी ब्राह्मणो को कदापि भोजन न कराए। बल्कि समय पर भिक्षा के लिए स्वतः पधारे हुए संयमी यतियों को नमस्कार आदि से प्रसन्न करके शुद्ध चित्त से भोजन करायें जैसे– शुक्ल पक्ष की अपेक्षा कृष्ण पक्ष पितरों को विशेष प्रिय हैं। घर पर आये हुए ब्राह्मणों का स्वागत पूर्वक पूजन करके उन्हें पवित्र युक्त हाथ से आचमन कराने के बाद आसनों पर बिठावें। श्राद्ध में विषम और देव यज्ञ में सम संख्या के ब्राह्मणों को निमन्त्रित करें अथवा अपनी शक्ति के अनुसार दोनों कार्यों में एक ही ब्राह्मण को भोजन कराएँ। यही बात मातामह के सम्बन्ध में भी होना चाहिए। कुछ लोगों का ऐसा मत है कि पितरों और मातामहों के विश्वेदेव कर्म पृथक–पृथक हैं। देव श्राद्ध में ब्राह्मणों को पूर्वाभिमुख और पितृ श्राद्ध में उत्तराभिमुख बिठाना चाहिए। मातामहो के श्राद्ध में भी मनीषी पुरुषों ने इसी विधि का प्रतिपादन किया है। पहले ब्राह्मणों को बिठाने के लिए कुश देकर विद्वान पुरुष अर्ध्य आदि से इनकी पूजा करे। फिर उन्हें पवित्रिक आदि दे उनसे आज्ञा लेकर मन्त्रोच्चारण पूर्वक देवताओं का आवाहन करे। तत्पश्चात जौ और जल आदि से विश्वेदेवों को अर्ध्य देकर गन्ध पुष्प, माला, जल, धूप और दीप आदि विधि–पूर्वक निवेदन करे।

पितरों के लिए ये सारी वस्तुएँ अपसव्य होकर प्रस्तुत करनी चाहिए। पितृ श्राद्ध में बैठे हुए ब्राह्मणों को आसन के लिए द्विगुणभुग्न (दोहरे मुड़े हुए) कुश देकर उनकी आज्ञा ले। विद्वान पुरुष मन्त्रोच्चारण पूर्वक पितरों का आवाहन करे और अपसव्य होकर पितरों की प्रसन्नता के लिए तत्पर उन्हें अर्ध्य निवेदन करे। उसमें जौ के स्थान पर तिलों का उपयोग करे। तदनन्तर ब्राह्मणों को आज्ञा देने पर अग्नि कार्य करे नमक और व्यञ्जन से रहित अन्न लेकर विधि पूर्वक अग्नि मे

आहुति दे, 'सोमाय पितृमते स्वाहा' इस मन्त्र से तीसरी आहुति दे। आहुति से बचे हुए अन्न को ब्राह्मणों के पात्र में परोसे, फिर पात्र में हाथ का सहारा दें, विधि–पूर्वक कुछ और अन्न डालें एवं कोमल वचनों में प्रार्थना करे कि अब आप लोग सुख से भोजन कीजिए, फिर उन ब्राह्मणों को चाहिए कि वे एकाग्र चित्त एवं मौन होकर सुख–पूर्वक भोजन करे, जो–जो अन्न उन्हें अत्यन्त प्रिय लगे, वह–वह तुरन्त उनके सामने प्रस्तुत करे। उस समय क्रोध को त्याग दे और ब्राह्मणों को आग्रह–पूर्वक प्रलोभन दे देकर भोजन कराये। उनके भोजन काल में रक्षा के लिए पृथ्वी पर तिल और सरसों बिखेरें तथा रक्षोध्न मन्त्रों का पाठ करें क्योंकि श्राद्ध में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं। जब ब्राह्मण लोग पूर्ण भोजन कर लें तो पूछे– क्या आप लोग भली–भाँति तृप्त हो गए है ? हॉ हम पूर्ण तृप्त हो गए हैं, फिर उनकी आज्ञा लेकर पृथ्वी पर सब ओर कुछ अन्न बिखेरे। इस प्रकार आचमन के लिए एक–एक ब्राह्मण को बारी–बारी से जल दे। तत्पश्चात उनकी आज्ञा मन, वाणी और शरीर को संयम में रखकर तिल सहित सम्पूर्ण अन्न से पितरों के लिए पृथक–पृथक पिण्ड दे। यह पिण्ड दान ब्राह्मणों के उच्छिष्ट के समीप ही कुशों पर करना चाहिए, फिर पितृ तीर्थ से उन पिण्डों पर एकाग्रचित्त से जल दे। इसी प्रकार मातामह आदि के लिए भी विधि–पूर्वक पिण्ड दान देकर गन्ध–माला आदि के साथ आचमन के लिए जल दे। अन्त में यथा शक्ति दक्षिणा देकर ब्राह्मणों से कहे–'ये विश्वेदेवगण ! आपका कल्याण हो। आप लोग प्रसन्न रहें।' तब ब्राह्मण लोग 'तथास्तु' कहें। इसके बाद उनसे आशीर्वाद की याचना करे और प्रिय वचन कहते हुए भक्ति पूर्वक प्रणाम करके उन्हें विदा दे। दरवाजे तक उन्हें पहुँचाने के लिए पीछे–पीछे जाय और उनकी आज्ञा लेकर लौटे।

तदनन्तर नित्य क्रिया करें और अतिथियों को भोजन कराये। किन्हीं–किन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों का विचार है कि यह नित्य कर्म भी पितरों के उद्‌देश्य से होता है। दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि इससे पितरों का कोई सम्बन्ध नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् करे। किन्हीं–किन्हीं का मत है कि पितरों के

लिए पृथक पाक बनाकर श्राद्ध करना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है—ऐसा नहीं करना चाहिए।[१]

इसके बाद यजमान अपने भृत्य आदि के साथ अवशिष्ट अन्न भोजन करे। धर्मज्ञ पुरुष को इसी प्रकार एकाग्रचित्त होकर पितरों का श्राद्ध करना चाहिए और जिस प्रकार ब्राह्मणों को सन्तोष हो, वैसी चेष्टा करनी चाहिए। श्राद्ध में दौहित्र (पुत्री का पुत्र), कुतप (दिन के पन्द्रह भागों में से आठवॉ भाग) और तिल— ये अत्यन्त पवित्र माने गए हैं। श्राद्ध में आए ब्राह्मणों को तीन बातें छोड देनी चाहिए— क्रोध मार्ग का चलना और उतावली[२] श्राद्ध में चॉदी का पात्र बहुत उत्तम माना गया है। उसमें चाँदी का दर्शन या दान अवश्य करना चाहिए। कहा जाता है—पितरों ने चाँदी के पात्र में गोरूप धारिणी पृथ्वी से स्वधा का दोहन किया था। अतः पितरों को चाँदी का दान अभीष्ट एवं प्रसन्नता बढाने वाला है।

मार्कण्डेय पुराण में गृहस्थ धर्म एवं श्राद्ध कर्म के कर्त्तव्यों को बताया गया है। क्योंकि योग दर्शन में कर्म की विवेचना की गई है कर्म जो हम लोग आजीवन करते रहते हैं। कर्मों के रूप तथा फल भिन्न—भिन्न प्रकार के होते हैं। जो कि कर्माशय का निर्माण करते हैं जितने भी कर्माशय बनते हैं उनका फल हमें भुगतना पड़ता है, वह फल चाहे हमें वर्तमान जन्म में ही मिल जाये या भविष्य में प्राप्त हो। उसी कर्म—विपाक की चर्चा अत्यन्त विशद रूप में की गई हैं।

गरुड़ पुराण में कर्म—विपाक के विषय में स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मनुष्य किए हुए सुकृत के प्रभाव से अनेक प्रकार के स्वर्ग प्राप्त करता है। इस लोक में और परलोक में पुण्यशाली लोगों को भोग—सौख्य आदि स्वरूप वाला बल—पुष्टि—पराक्रम और सत्य उत्पन्न हो जाता है। यह पूर्ण रूप से सत्य है क्योंकि देव वाक्य कभी भी अन्यथा नहीं हुआ करते

१— कल्याण, संक्षिप्त मार्कण्डेय—ब्रह्म पुराणाक, इक्कीसवे वर्ष का विशेषाड्.क—कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ११८

२— त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रं वै कुतपस्तिलाः। वर्ज्यानि चाहुर्विप्रेन्द्रैः कोपाऽध्वगमनं त्वरा।। (३१/६४)

३— कल्याण, संक्षिप्त मार्कण्डेय—ब्रह्म पुराणाड्.क वही पृ०सं० ११६

हैं। धर्म की जय होती है अधर्म की नहीं होती, सदा सत्य की विजय होती है, मिथ्या की कभी नहीं होती, क्षमा जयशील है, क्रोध नहीं, विष्णु विजयी होते हैं, असुर नहीं। क्योंकि सुकृत के द्वारा ही भलाई होती है। जितना उत्कृष्टतम अर्थात् सबसे उच्च पुण्य वाला होगा वैसा ही कृष्ण परायण होगा।[१] इसके पश्चात किस कर्म के द्वारा कर्माशय बनने पर कौन सी योनि प्राप्त होती है तथा शुभ और अशुभ कर्मों का फल क्या है? यह बताया गया है। गरुड़ पुराण में यह भी कहा गया है कि इस संसार में शुभ और अशुभ कर्मों के फलों को त्याग देने से मनुष्य भोगों से मुक्त हो जाते हैं।[१]

आत्मवानों के लिए शासक गुरू है और दुरात्मा दुष्टों के ऊपर राजा शासन किया करता है। इस संसार में जो छिपकर पाप कर्म किया करते हें या जिनके पाप कर्म प्रकट नहीं हो पाते हैं, उनका शासक यमराज हुआ करता है। प्रायश्चितों के अजीर्ण रहने पर यमलोक में अनेक प्रकार से यातनाओं को भोगने के अन्त में अनेक जीवों की सन्तति से वे विमुक्त होते हैं, फिर उन्हें मानुष योनि मिलती है जो उसमें भी वे पूर्वकृत पापों के चिह्नों से युक्त हुआ करते हैं जो पहले मिथ्या भाषी होता है। गौओं के लिए असत्य बोलने वाला मूक (गूंगा) होता है। जो ब्राह्मण की हत्या करने वाला होता है, वह क्षय रोग का शिकार होता है और कोढ़ी होता है। मद्य पीने वाला श्याव दन्त अर्थात् काले दॉतों वाला होता है। सुवर्ण का हरण करने वाला कुनखी (बुरे नाखूनों वाला) होता है। जो गुरू पत्नी गामी पहिले होता है बस दोष युक्त चर्म वाला हुआ करता है। जो संयोगी होता है वह हीन वर्ण वाला हुआ करता है। बिना निमन्त्रण के भोजन करने वाला काक (कौआ) हुआकरता है। दिगम्बर (नगे) बुरे आचार वाले और समस्त देवों की निन्दा करने वाले और मिथ्या

१— धर्मो जयति ना धर्म सत्यै जयति नान्टतम्।
क्षमा जयति न क्रोधों विष्णुर्जयति नासुरः।।
एतत्सत्यं मया ज्ञातं सुकृताच्छोभनू भवेत्।
यथोत्कृष्टम् पुण्य तथा कृष्णपरो भवेत्।।
गरूड़ पुराण द्वितीय खण्ड श्लोक सं० ३/४। मनुष्यो के कर्म–पिपाक कथन पृ०सं० ४७२

भाषण करने वाले घोर नरक में जाया करते हैं। विप्र को पर्युषित (वासी) अन्न प्रदान करने वाले कुब्जता प्राप्त किया करते हैं। मात्सर्ग (डाह) आदि से जात्यान्ध होता है और पुस्तकों का सरण करने वाला पुरुष जन्म से ही अन्धा होता है।[१]

जो नित्य ही फलों का हरण करता है वह मर जाता है। फिर वानर की योनि प्राप्त करता है और इससे मुक्त होकर गलगण्ड रोग वाला हुआ करता है।[२] जो बिना दिए हुए भक्ष्य पदार्थों को खा जाता है। वह मनुष्य सन्तानहीन हुआ करता है और महामूढ़ बनिया होता है, जो समस्त दर्शनों की निन्दा किया करता है वह धर्म के तत्व को नहीं जानता और उसका घोर सागर में पतन हो जाता है। सुवर्ण की चोरी करने वाला गोथा की योनि और विष देने वाला सर्प होता है।[३] प्रव्रज्या का गमन करने से मनुष्य पिशाच होता है। जल के हरण करने से चातक और धान्य के हरण से मूषक होता है। जिस नारी के यौवन की प्राप्ति न हुई हो तो उसका सेवन करने से सर्प की योनि प्राप्त होती है। गुरू पत्नी के गमन की इच्छा रखने वाला पुरुष निश्चय ही कृकलास होता है। जो मनुष्य जय के प्रश्न का भेदन करता है वह मत्स्य होता है। जो विक्रयन करने के योग्य पदार्थों का विक्रय करता है, वह नर विकट नेत्रों वाला होता है। जिस नारी के यौवन की प्राप्ति न हुई 'हो तो उसका सेवन करने से सर्प की योनि प्राप्त होती है। गुरू पत्नी के गमन की इच्छा रखने वाला पुरुष निश्चय ही कृकलास होता है। जो मनुष्य जय के प्रस्न करता है वह मत्स्य होता है का भेदन जो विक्रयन करने के योग्य पदार्थों का विक्रय करता है, वह नर विकट नेत्रों वाला होता

१– गुरुरात्मवतां शास्ता राजा शास्तादुरात्मनाम्।
इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः।। मात्सर्य्यादिपि जित्यन्धः जन्मान्धः पुस्तकं हरन्।।
–गरुड़ पुराण (द्वितीय खण्ड), स० पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, श्लोक सं० ८/६/१०/११/१२/१३/१४ पृ०सं० ३७४

२– फलानि हि हरन्नित्यं भ्रियते नात्र संशयः। मृतो वानरता याति तन्मुक्तो गलगण्डवान्।।
–गरुड पुराण (द्वितीय खण्ड) वही श्लोक सं० १५

३– न जानाति धर्मतत्वं स पतेद्घोरसागरे।
हरन्स्वर्ण भवेद्गोधा गरदः पवनाशनः।।
–गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, मनुष्य के कर्म विपाक कथन, पृ०सं० १७

है। कुयोनि की निन्दा करने वाला स्त्री का प्रवञ्चन करने से उलूक (उल्लू) हुआ करता है। मृतक के ग्यारहवें दिन में भोजन करने वाला पुरुष कुत्ता की योनि प्राप्त किया करता है।[1]

वचन देकर अर्थात् प्रतिज्ञा करके द्विजों को धन आदि न देने वाला गीदड़ होता है। सर्प का हनन (मल) खाने वाला शूकर हुआ करता है। जो द्विजातियों की निन्दा किया करता है वह कछुआ का शरीर प्राप्त किया करता है जो देवलक (पुजारी) होता है। वह चाण्डाल संज्ञा वाली योनि प्राप्त किया करता है। फलों का विक्रय करने वाला दुर्भागी वृषली (शूद्र) का पति वृष हुआ करता है। अग्नि को पैर से स्पर्श करने वाला मार्जार (बिल्ली) हुआ करता है तथा पर मॉस को खाने वाला रोगी होता है। सौदर्या अर्थात् सगी बहिन के साथ गमन करने से षण्ड (नपुंसक) होता है और सुगन्धित पदार्थों का हरण करने से दुर्गन्ध वाला होता है। जो कुछ भी दूसरे का थोड़ा हो या बहुत हो हरण करने से तीतर योनि प्राप्त किया करता है। इस प्रकार के दुष्कर्म करने वाला प्राणी भोग कर और क्रम से नरकों की यातना सहकर शेष जो कुछ भी कर्म रह जाया करता है उनको भोगने के लिए इन निकृष्ट योनियों में जीवात्मा जन्म धारण किया करता है, फिर यह जन्तु सैकड़ों जन्म धारण करके फिर शुभ–अशुभ कर्मो के समान होने पर इसे मनुष्य योनि प्राप्त होती है।[1]

स्त्री पुरुष के प्रसङ्.ग होने पर तथा शुक्र और शोणित के विरुद्ध होने पर यह पॉच तत्वो से (पृथ्वी, आकाश, तेज, जल, वायु) समन्वित परम पुरुष जन्म लिया करता है। धारणा, प्रेरणा, दुःख, इच्छा, संहार, प्रयत्न, आकृति, वर्ण, राग, द्वेष, भाव, अभाव यह सब अनादि और आदि की इच्छा करने वाले अपने कर्म बद्ध उसके समय गर्भ में वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[2] देह धारियों की

१– गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित, स० पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ४७६, श्लोक सं० २२–२८

२ (क) धारणा, प्रेरणा, दुःखमिच्छा सहार एव प्रयत्नाकृतिवर्णाश्चरागद्वेष भवौ।।

(ख) तस्येदमात्मनः सर्व मनादेरादिमिच्छतः। स्वकर्मबद्धस्य तदा गर्भे वृद्धि हि विन्दति।।

गरुड़ पुराण (द्वितीय खण्ड) वही श्लोक सं० ३०, ३१

उत्पत्ति और विनाश पर भी गरुड पुराण में बताया गया है। धर्म से गति ऊर्ध्व गामिनी होती है और अधर्म से अधोगति प्राप्त होती है।समस्त वर्णों की देवत्व और मानुषत्व में अपने कर्मों के आचरण से दान एवं भोग आदि की क्रिया होती है। जो–जो अदृश्य है वह सब कर्मों से जन्य फल होता है। कुत्सित कर्मों से विहित काम क्रिया से अर्जित अशुभ एवं घोर नरक में पतित होता है जिसका फिर कोई प्रतिकार नहीं है।[1]

गरुड़ पुराण में विविध पापों पर भी प्रकाश डाला गया है। उनके अनुसार जो अपनी माता का तिरस्कार किया करते हैं और आचार्य तथा गुरू का भी अपमान करते हैं उन महामूढ़ मानवों का उस वैतरणी नदी[2] में निरन्तर वास रहा करता है। धर्मशीला–विवाहिता और धर्म में विशेष निश्चय वाली पतिव्रता पत्नी का जो त्याग कर देते हैं उन मूढ़ों का निवास इस वैतरणी में सर्वदा रहा करता है। विश्वास में स्थित रहने वाले स्वामी, मित्र, तपस्वी, स्त्री, बालक और विकल आदि का जो छिद्र खोजा करते हैं वे महापापी प्राणी क्रन्दन करते हुए पुत्र के बीच में पच्यमान होकर नारकीय यातनाऍ सहन किया करते हैं। किसी भूखे ब्राह्मण को प्राप्त हो जाने पर जो विघ्न उपस्थित करते हैं, वह वहाँ पर जब तक भूत संप्लव होता है अर्थात् महाप्रलय होता है तब तक कृमियों के द्वारा खाया जाया करता है। जो किसी ब्राह्मण को प्रतिश्रुति करके फिर यथार्थ नहीं दिया करता है, और जो यज्ञ का विध्वंस तथा राज्ञी का गमन करते और चुगली किया करते हैं–

१– स्त्रीपुंसयोः प्रसङ्. च विशुद्ध शुक्रशोणिते।
पञ्च भूत समोपेतः सुपुष्ट' परम्ः पुमान्।।
नरके पतितो भूयो यस्योत्तारो न विद्यते।
गरूड पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित, वही श्लोक सं० २६, ३५ पृ०सं० ४७७–७८

२– या सा वैतरणीनाम्नौ यमद्वारे महासरित्।
यत्प्रमाणा च सा देवी श्रृणु तां मे भयावहाम।।
शतोयोजनविस्तीर्णा पृथुत्वे सा महानदी।
दुर्गन्धा दुस्तरा पापै दृष्टमात्रभयावहा।।
गरूड़ पुराण, वही, पृ०सं० ४७८, श्लोक सं० १२३

मद्यपान करते तथा जो बुलाकर फिर भाषण नहीं करते हैं, उस मनुष्य का वास भी इस वैतरणी में निरन्तर रहता है।[1]

अग्नि लगाने वाला, विष देने वाला, स्वयं दान करके फिर उसका अपहरण करने वाला क्षेत्र तथा सेतु (पुल) का भेदन करने वाला–पराई स्त्री के साथ प्रघर्षण (बलात्कार) करने वाला–ब्राह्मण होकर रस का विक्रय करने वाला विषली (शूद्रा) स्त्री का पति विप्र– जो गोधन का तथा प्यास से आर्त्त का विभेद करने वाला है– कन्या को विशेष रूप से दूषित करने वाला–दान देकर ताप देने वाला–शूद्र होकर कपिला गौ का पान करने वाला और ब्राह्मण होकर मांस खाने वाला–ये सब उस महाभयावह वैतरणी नदी में निरन्तर निवास किया करते है।[2] जो कृपण हैं– नास्तिक हैं और शूद्र प्रकृति वाले हैं, वे उस वैतरणी में वास किया करते हैं। जो सर्वदा क्रोध करने वाला है, अमर्ष करने वाला है, वह नित ही वैतरणी में चिर काल तक निवास किया करता है। जो बहुत ही अहंकार वाला और अपना विकत्थन करने वाला पापी है तथा कृतघ्नी और विश्वाघाती पुरुष होता है। वह वैतरणी में बहुत समय तक निवास करता है।[4]

१– पतिव्रता धर्मशीलां व्यूढ़ां धर्मे विनिश्चताम्।
परित्यजन्ति ये मूढास्तेषां वासोऽत्र एन्ततम्।
कथाभंगकरश्चैव

२– कूटमाक्षी च मद्यपः आहूय नास्ति यो ब्रूते तस्य वासोऽत्र सन्ततम्।
–गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, स० पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ४७६ श्लोक सं० ११–१५

३– ब्राह्मणो रसविक्रेता तथा च वृषली पतिः।
गोधनस्य वृषार्त्तस्य विभेदं कुरूते तुयः।।
कन्या विदूषकश्चैव दानं कृत्वा तापकः।
शूद्रस्तु कपिलागो ब्राह्मणो मासभोजकः।
ऐते वसन्ति सतत मां विचारं कृथाः क्वचित्।।
–गरुड पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित, वही श्लोक सं० १७–१८ पृ०सं० ४८०

४– कृपणो नास्तिक क्षुद्रः स तस्यां निवसेत्खग।
सदामर्षी सदा क्रोधी निजवाक्यप्रमाणकृतः।। –गरुड पुराण, वही, श्लोक सं० १६ पृ०सं० ४८१

कर्म के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा के साथ–साथ कर्म और ज्ञान के अन्तर पर भी दृष्टि डालना समीचीन लगता है। ब्रह्म पुराण से विदित होता है कि शास्त्र में दो भागों का वर्णन है–एक का नाम प्रवृत्ति धर्म है और दूसरे को निवृत्ति धर्म कहा गया है। प्रवृत्ति मार्ग को कर्म और निवृत्ति मार्ग को ज्ञान भी कहते हैं। कर्म (अविद्या) से मनुष्य बन्धन में पड़ता है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है, इसलिए पारदर्शी यति कर्म नहीं करते। कर्म से मरने के बाद जन्म लेना पड़ता है, सोलह तत्वों से बने हुए शरीर की प्राप्ति होती है किन्तु ज्ञान से नित्य, अव्यक्त एवं अविनाशी परमात्मा प्राप्त होते हैं। कुछ मन्द बुद्धि मानव कर्म की प्रशंसा करते हैं, अतः ये भोगासक्त होकर बार–बार देह के बन्धन में पड़ते हैं। परन्तु जो धर्म के तत्त्व को भली–भाँति समझते हैं तथा जिन्हें उत्तम बुद्धि प्राप्त है, वे कर्म की उसी तरह प्रशंसा नहीं करते, जैसे नदी का पानी पीने वाला मनुष्य कुएँ का आदर नहीं करता। कर्म के फल मिलते हैं सुख और दुःख, जन्म और मृत्यु। किन्तु ज्ञान से उस पद की प्राप्ति होती हैं, जहाँ जाकर मनुष्य सदा के लिए शोक से मुक्त हो जाता है। जहाँ जन्म, मृत्यु, जरा और वृद्धि उसका स्पर्श नहीं करते, वहाँ केवल अव्यक्त, अचल, ध्रुव अव्याकृत एवं अमृत स्वरूप पर ब्रह्म की ही स्थिति है। उस स्थिति में पहुँचे हुए मनुष्यों को शीत ऊष्ण आदि द्वन्द्व बाधा नहीं पहुँचाते। मानसिक विकास और क्रिया द्वारा भी उन्हें कष्ट–नहीं होता वे समत्व भाव से युक्त, सबके प्रति मैत्री रखने वाले और सम्पूर्ण प्राणियों के हित में तत्पर रहने वाले होते हैं।[१]

पुराणों में समाज के विभिन्न वर्गों के अलग–अलग कर्मों पर भी प्रकाश डाला गया है। विष्णु पुराण में उल्लिखित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों की विवेचना निम्नवत है। ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि दान दे, यज्ञों द्वारा देवताओं का यजन करे, स्वाध्यायशील हो, नित्य स्नान तर्पण करे और अग्न्याधान आदि कर्म करता रहे। ब्राह्मण को उचित है कि वृत्ति के लिए दूसरों से यज्ञ करावे औरों को पढ़ावे और न्यायोपार्जित शुद्ध धन में से न्यायानुकूल धन द्रव्य संग्रह करे। ब्राह्मण

१– सक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्मपुराणाङ्क, कल्याण, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाङ्क–कल्याण गीता प्रेस, गोरखपुर,, पृ०सं० ५६२

को कभी किसी का अहित नहीं करना चाहिए और सर्वदा समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहना चाहिए। सम्पूर्ण प्राणियों में मैत्री रखना ही परम धर्म है पत्थर में, पराये रत्न में, ब्राह्मण को समान बुद्धि रखनी चाहिए। पत्नी के विषय में ऋतुगामी होना ही ब्राह्मण के लिए प्रशंसनीय कर्म है।[1]

क्षत्रीय को उचित है कि ब्राह्मणों को यथेष्ट दान दे, विविध यज्ञों का अनुष्ठान करे और अध्ययन करे। शस्त्र धारण करना और पृथ्वी की रक्षा करना ही क्षत्रिय की उत्तम आजीविका है। इनमें भी पृथ्वी पालन से ही राजा लोग कृतकृत्य हो जाते हैं, क्योंकि पृथ्वी में होने वाले यज्ञादि कर्मों का अंश राजा को मिलता है। जो राजा अपने वर्ण धर्म को स्थिर रखता है, वह दुष्टों को दण्ड देने और साधू जनों का पालन करने से अभीष्ट लोकों को प्राप्त कर लेता है। लोकपितामह ब्रह्माजी ने वैश्यों को पशुपालन, वाणिज्य और कृषि–ये जीविका रूप से दिये हैं। अध्ययन, यज्ञ, दान और नित्य–नैमित्तकादि कर्मों का अनुष्ठान–ये कर्म उसके लिए भी विहित हैं।

शूद्र का कर्तव्य यही है कि द्विजातियों के प्रयोजन सिद्धि के लिए कर्म करे और उसी से अपना पालन–पोषण करे अथवा (आपातकाल में, जब उक्त उपाय से जीविका निर्वाह न हो सके तो) वस्तुओं के लेने, बेचने अथवा कारीगरी के कर्मों से निर्वाह करे। अति नम्रता, शौच, निष्कपट स्वामि–सेवा, मन्त्रहीन यज्ञ, अस्तेय, सत्सड़्.ग और ब्राह्मण की रक्षा[2] करना–ये शूद्र के प्रधान कर्म हैं। विष्णु पुराण यह भी कहता है कि शूद्र के लिए उचित है कि वे भी दान दे, बलिवैश्वदेव अथवा नमस्कार आदि अल्प यज्ञों का अनुष्ठान करें, पितृ श्राद्ध आदि कर्म करे, अपने आश्रित कुटुम्बियों के भरण–पोषण के लिए सकल वर्णों से द्रव्य संग्रह करे और ऋतु काल में अपनी ही स्त्री से प्रसड़्.ग करे। इनके अतिरिक्त समस्त प्राणियों पर दया, सहनशीलता, अमानिता, सत्य, शौच,

---

१– श्री श्री विष्णु पुराण, अनूदित, सम्पादक पं० रामजी शर्मा, दुर्गा पुस्तक भण्डार, बम्बई, पृष्ठ संख्या – २३३

२– श्री श्री विष्णु पुराण, वही, पृ०सं० २२४

चरण, प्रियवादिता, मैत्री, निष्कामता, अकृपणता और किसी के दोष न देखना–ये समस्त वर्णों के सामान्य गुण हैं। तदनन्तर सब वर्णों के सामान्य लक्षण इस प्रकार हैं। आपत्ति के समय ब्राह्मण को क्षत्रिय और वैश्य वर्णों की वृत्ति का अवलम्बन करना चाहिए तथा क्षत्रिय को केवल वैश्य वृंत्ति का ही आशय लेना चाहिए। ये दोनों शूद्र का कर्म (सेवा आदि) कभी न करें। इन उपरोक्त वृत्तियों को भी सामर्थ्य होने पर त्याग दे; केवल आपात्काल में ही इनका आश्रय ले, कर्म–संकर्ता (कर्मों का मेल) न करे।[1]

पातञ्जल योग दर्शन में कर्म की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। योग में कर्म क्या है, कर्माशय कैसे बनते है और इनका फल किस प्रकार से समायोजित होता है, आदि का दार्शनिक दृष्टि से विशद विवेचन मिलता है। जबकि पुराणों में केवल लौकिक दृष्टि से ही कर्मों का वर्णन मिलता है। विष्णु पुराण में कर्म के विषय में बताया गया है कि मनुष्य अपने जीवन में कौन कौन से कर्म करता है। विष्णु पुराण में मनुष्य के ब्रह्मचर्य जीवन के विषय में स्पष्ट किया गया है कि बालक को उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन कर, सावधानी पूर्वक गुरू गृह में निवास करे। वहॉ रहकर उसे शौच और आचार व्रत का पालन करते हुए गुरू की सेवा सुश्रुषा करनी चाहिए तथा व्रतादि का आचरण करते हुए स्थिर बुद्धि से वेदाध्ययन करना चाहिए। (प्रातः काल और सायंकाल) दोनों सन्ध्याओं में एकाग्र होकर सूर्य और अग्नि की उपासना करे तथा गुरू का अभिवादन करे। गुरू के खड़े होने पर खड़ा हो जाय, चलने पर पीछे–पीछे चलने लगे तथा बैठ जाने पर नीचे बैठ जाय। इस प्रकार कभी भी गुरू के प्रति कोई गलत आ़चरण न करे। गुरूजी के कहने पर ही उनके सामने बैठकर एकाग्रचित्त से वेदाध्ययन करे और उनकी आज्ञा होने पर ही भिक्षान्न भोजन करे। जल में प्रथम, आचार्य के स्नान कर चुकने पर फिर स्वयं स्नान करे तथा प्रतिदिन प्रातः काल गुरूजी के लिए समिधा, जल, कुश और पुष्पादि लाकर दे दे।[2]

१– पराशर मुनि प्रणीत–श्री श्री विष्णु पुराण, स० पं० रामजी शर्मा आचार्य पृ०सं० २२५

२– श्री विष्णु पुराण, वही, पृ०सं० २२६

इस प्रकार अपना अभिमत वेदपाठ समाप्त कर चुकने पर बुद्धिमान गुरूजी की आज्ञा से उन्हें गुरूदक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। फिर विधिपूर्वक पाणिग्रहण कर अपनी वर्णानुकूल वृत्ति से द्रव्योपार्जन करता हुआ सामर्थ्यानुसार समस्त गृहकार्य करता रहे। पिण्ड–दानादि से पितृगण
इस प्रकार अपना अभिमत वेदपाठ समाप्त कर चुकने पर बुद्धिमान गुरूजी की आज्ञा से उन्हें गुरूदक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। फिर विधिपूर्वक पाणिग्रहण कर अपनी वर्णानुकूल वृत्ति से द्रव्योपार्जन करता हुआ सामर्थ्यानुसार समस्त गृहकार्य करता रहे। पिण्ड–दानादि से पितृगण
की, यज्ञादि से देवता की, अन्नदान से अतिथियों की, स्वाध्याय से ऋषियों की, पुत्रोत्पत्ति से प्रजापति की, बलियों (अन्न भाग) से भूतगण की तथा वात्सल्य भाव से सम्पूर्ण जगत की पूजा करते हुए पुरुष अपने कर्मों द्वारा मिले हुए उत्तमोत्तम लोकों को प्राप्त कर लेता है। जो केवल भिक्षा वृत्ति से ही रहने वाले परिव्राजक और ब्रह्मचारी आदि हैं, उनका आश्रय भी गृहस्थाश्रम ही है। अतः यह सर्वश्रेष्ठ है। विप्रगण वेदाध्ययन तीर्थ स्नान और देश दर्शन के लिए पृथ्वी पर्यटन किया करते हैं। उनमें से जिनका कोई निश्चित गृह अथवा भोजन प्रबन्ध नहीं होता और जो जहाँ सायंकाल हो जाता वहीं ठहर जाते हैं, उन सबका आधार और मूल गृहस्थाश्रम ही है। ऐसे लोग जब घर आये तो उनका कुशल प्रश्न और मधुर वचनों से स्वागत करें तथा शैय्या, आसन और भोजन के द्वारा उनका यथाशक्ति सत्कार करे। जिसके घर में अतिथि निराश होकर लौट जाता है (अतिथि) उसके पुण्य कर्मों को स्वयं ले जाता है। गृहस्थ के लिए अतिथि के प्रति अपमान, अहङ्.कार और दम्भ का आचरण करना, उसे देकर पछताना, उस पर प्रहार करना अथवा उससे कटुभाषण करना उचित नहीं है। इस प्रकार जो गृहस्थ अपने परम धर्म का पूर्णतया पालन करता है, वह समस्त बन्धनों से मुक्त होकर अत्योत्तम लोकों को प्राप्त कर लेता है।[१]

१– पराशर मुनि प्रणीत–श्री श्री विष्णु पुराण, स० पं० रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० २२६

इस प्रकार गृहस्थो चित कार्य करते करते जिसकी अवस्था ढल गयी हो उस गृहस्थ को उचित है कि स्त्री को पुत्रों के प्रति सौंपकर अथवा अपने साथ लेकर वन को चला जाय। वहाँ पत्र मूल, फल आदि आहार करता हुआ लोम, श्मश्रु (दाढ़ी, मूँछ) और जटाओं को धारण कर पृथ्वी पर शयन करे और मुनिवृत्ति का अवलम्बन कर सब प्रकार अतिथियों की सेवा करे। उसे चर्म, काश और कुशाओं से अपना बिछौना तथा ओढ़ने का वस्त्र बनाना चाहिए। उस मुनि के लिए त्रिकाल स्नान का विधान है। इसी प्रकार देव–पूजन, होम, सब अतिथियों का सत्कार, भिक्षा और बलिवैश्वदेव भी उसके विहित कर्म हैं। वन्य, तैल आदि को शरीर में मलना और शीतोष्ण को सहन करते हुए तपस्या में लगे रहना उसके प्रशस्त कर्म हैं। जो वानप्रस्थ मुनि इन नियत कर्मों का आचरण करता है वह अपने समस्त दोषों को अग्नि के समान भस्म कर देता है और नित्य लोकों को प्राप्त कर लेता है।[1]

तृतीय आश्रम के अनन्तर पुत्र, द्रव्य और स्त्री आदि के स्नेह का सर्वत्र त्याग कर तथा मात्सर्य को छोड़कर चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करे। भिक्षु को उचित है कि अर्थ,धर्म और कामरूप त्रिवर्ग सम्बन्धी समस्त कर्मों को छोड़ दे, शत्रु–मित्र आदि में समान भाव रखे और सभी जीवों के प्रति सुहृद हो। फिर निरन्तर समाहित रहकर जरायुज, अण्डज और स्वेदज आदि समस्त जीवों से मन, वाणी, अथवा कर्म द्वारा कभी द्रोह न करे तथा सब प्रकार की आसक्तियों को त्याग दे। ग्राम में एक रात और पुर में पॉच रात्रि तक रहे तथा इतने दिन भी तो इस प्रकार रहें, जिससे किसी से प्रेम अथवा द्वेष न हो। जिस समय घरों में अग्नि शान्त हो जाय और लोग भोजन कर चुकें उस समय प्राण रक्षा के लिए उत्तम वर्णों में भिक्षा के लिए जायें। परिव्राजक को चाहिए कि काम, क्रोध तथा दर्प, लोभ और मोह आदि समस्त दुर्गुणों को छोड़कर ममता शून्य होकर रहे। जो मुनि समस्त प्राणियों को अभयदान देकर विचरता है, उसको भी किसी से कभी कोई भय नहीं होता। जो ब्राह्मण चतुर्थ आश्रम में अपने शरीर में स्थित प्राणादि सहित जठराग्नि के उद्देश्य से

१– पराशर मुनि प्रणीत–श्री श्री विष्णु पुराण, स० पं० रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० २२७

अपने मुख में भिक्षान्न रूप हवि से हवन करता है, वह ऐसा अग्निहोत्र करके अग्निहोत्रियों के लोकों को प्राप्त हो जाता है। जो ब्राह्मण (ब्रह्म से भिन्न सभी मिथ्या है, सम्पूर्ण जगत भगवान का ही संकल्प है—ऐसे) बुद्धियोग से मुक्त होकर, यथाविधि आचरण करता हुआ इस मोक्षाश्रम का पवित्रता और सुखपूर्वक आचरण करता है, वह निरिन्धन अग्नि के समान शान्त होता है।[1] और अन्त में ब्रह्मलोक प्राप्त करता है।

विष्णु पुराण में गृहस्थ पुरुष के विवाह कर्म हेतु आठ प्रकार के विवाह बताये गये हैं— ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनमें से जिस विवाह को जिस वर्ण के लिए महर्षियों ने धर्मानुकूल कहा है, उसी के द्वारा दार—परिग्रह करना, इसके साथ साथ अन्य विधियों को छोडना। पुराण में उल्लिखित है कि इस प्रकार से वैवाहिक कर्म करे और सहधर्मिणी को प्राप्त करके उसके साथ गार्हस्थ्य धर्म का पालन करे। क्योंकि उसका पालन करने पर वह महान फल देने वाला होता है।[2] यहाँ यह भी बताया गया है कि पुत्र के उत्पन्न होने पर पिता को सचैल (वस्त्रों) सहित स्नान करना चाहिए। उसके पश्चात जातकर्म संस्कार और आभ्युदयिक श्राद्ध करना चाहिए। फिर तन्मय भाव से अनन्य चित्त होकर देवता और पितृगण के लिए क्रमशः दायीं ओर बायीं ओर बिठाकर दो—दो बाह्मणों का पूजन करे और उन्हें भोजन करावे। पूर्व और उत्तर की ओर मुख करके दधि, अक्षत् और बदरीफल से बने हुए पिण्डों को दैवतीर्थ या प्राजापत्य तीर्थ से दान करे। इस आभ्युदयिक श्राद्ध से नान्दीमुख नामक पितृगण प्रसन्न होते हैं। अतः सब प्रकार अभिवृद्धि के समय पुरुषों को इसका अनुष्ठान करना चाहिए। कन्या और पुत्र के विवाह में, गृहप्रवेश में, बालकों के नामकरण तथा चूड़ाकर्म आदि संस्कारों में, सीमान्तोनयन—संस्कार में और पुत्रादि के मुख देखने के समय गृहस्थ पुरुष एकाग्र—चिन्त से नान्दीमुख नामक पितृगण का पूजन करे।[3]

१— पराशर मुनि प्रणीत—श्री श्री विष्णु पुराण, स० पं० रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० २२८

२— श्री विष्णु, वही०, पृ०सं० २३०

३— श्री विष्णु पुराण, वही, पृष्ठ सख्या—२२८

योग दर्शन में बतलाए गये कर्मों का निरूपण गायत्री पुराण में भी मिलता है। गायत्री पुराण में कहा गया है कि कुछ मनुष्य अधिक पाप करने के कारण पापी कहे जाते हैं। उन्हें यममार्ग में अधिक कष्ट भोगने पडते हैं, जबकि पुण्यात्मा को कम कष्ट भुगतना पडता है। गायत्री पुराण में यममार्ग के विषय में कहा गया है कि जो पुण्यवानों को सुखदायक और पापियों के लिए भय देने oky kgS[1] पूर्व मनीषियों ने यमपुरी के मार्ग का विस्तार तीन लाख चौरासी हजार कोस कहा है। दानशील प्राणी यदि उस मार्ग से ले जाये जाते हैं, तो उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं दिया जाता है। जिनके द्वारा कोई छोटा पाप अनजाने में हो गया हो, तथा वे दानी, पुण्यात्मा, व्रती, योगी, यती आदि हों तो वे अधिक कष्ट नहीं भोगते। वरन् अनजाने पाप का कष्ट भी अनजाना ही होता है, अर्थात् यमपुरी मे पहुँचने पर भी उसे कोई विशेष कष्ट नहीं दिया जाता, जैसे कि राजा युधिष्ठिर का अल्प पाप था, और उन्हें अनजाने में ही यमपुरी ले जाया गया था। वहाँ यमराज ने उन्हें बता दिया था कि आप भी अपने एक अत्यल्प पाप के कारण इस नरक को प्राप्त हुए हैं। युधिष्ठिर ने कहा– मैं तो स्वेच्छा से आया हूँ। यमराज ने बतलाया कि यहाँ स्वेच्छा से कोई नहीं आता, वरन उसका पाप कर्म ही खींच लाता है। आपने भी द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा को जीवित जानकर भी अश्वत्थामा नामक हाथी के मरने पर कह दिया था कि, अश्वत्थामा मरा तो है, किन्तु नहीं जाना कि वह मनुष्य था या हाथी था। उस मिथ्या भाषण के कारण द्रोणाचार्य ने प्राण त्याग दिये थे। आपको अपने उसी पाप फल भोगार्थ यहॉ आना पडा है। अब आप स्वर्ग या जिस लोक में जाना चाहें, वहीं भेज दिये जायेंगे।[2]

१– श्रृणु विप्र प्रवक्ष्यामि यममार्गसुदुर्गमम्। सुखद पुण्य शीलानां पापिनां भयदायकम्।।
–गायत्री पुराण, अनूदित, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली, पृ०सं० ६६
२– गायत्री पुराण, अनूदित, वही, पृ०स० ७०

अधर्मियों के लिए यमपुरी में पीड़ा का विधान किया जाता है। उन्हें नरक की यातनाएं दी जाती हैं। जो घोर पाप–कर्म के कारण वहाँ ले जाये जाते हैं, उनके पाप कर्मों के फल भोगने के कारण अत्यन्त भयावह नरक बने हैं। उस मार्ग में आने वाले पापियों के लिए अवर्णनीय यन्त्रणाएँ सहन करनी होती हैं। वे पीड़ा के कारण कराहते हैं, चीख–पुकार करते हैं, तो भी उनकी कोई नहीं सुनता। काँटों से आवरित मार्ग पर यमदूत उसे दौड़ते हैं, और तनिक भी रुकने पर कोडों की मार लगाते हैं। उस मार्ग में कहीं कीचड़ भरा होता है, कहीं गहरा जल भरा होता है, तो कहीं प्रज्वलित अग्नि भरी होती है। कहीं अंगारों पर चलना होता है तो कहीं ऐसे कॉटों पर जो भीतर तक प्रविष्ट होकर भयंकर पीडा पहुंचाते हैं। कहीं–कहीं जलता हुआ रेत त्वचा को जलाता है, और कहीं खाई–खड्डो में गिरना होता है। कहीं–कहीं अन्धकार मय गुफाएँ हैं, जिनमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। यमदूत उन गुफाओं में अकेले ढकेल देते हैं, जिनमें भयड्.कर जीव–जन्तु स्थान–स्थान नोचने–खाने लगते हैं। यममार्ग ही अनेक प्रकार के कष्टों से भरा हुआ है, तब उन नरकों की भयंकरता की क्या बात है, जहाँ पर पापी जीव दण्ड भोगने के लिए डाल दिये जाते हैं।[१]

अनेक पापियों के नथुने छेद कर उनमें नकेल डाल दी जाती है, और उन्हें भी पशुओं के समान हॉका जाता है। कुछ की आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है, और तब अगम्य मार्ग पर चलने को विवश किया जाता है। जब उन्हें छिदे हुए नथुनों और कानों में भारी लौह शलाखाए डालकर खींचा और भगाया जाता है तब उन्हें अत्यन्त असहनीय और भयंकर पीड़ा होती है। इस प्रकार उस यम मार्ग में अनेक प्रकार की यातनाओं को भोगते हुए पापी जीव यमपुरी में पहुँचाये जाते हैं। किन्तु अत्यल्प, अनजाने में किये पाप वाले जीवों को वे कष्ट नहीं झेलने होते। उन्हें यमदूत उनके कर्मानुसार सामान्य श्रमापन्न करते हुए प्रायः सुख पूर्वक ही यमराज के सम्मुख उपस्थित किया

१–गायत्री पुराण, अनूदित, डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ७१

करते हैं। जिसने जैसा दान–पुण्य आदि किया हो, उसे वैसा ही भोग यमपुरी में उपलब्ध होता है। कभी–कभी ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि किसी कर्मवश वहाँ पहुँचते हैं, तो उन्हें नरक दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। वरन् उसके शुभ कर्मों की सर्वत्र प्रशंसा होती है, यमराज भी उन्हें आदर देते हैं और देवदूत आकर उन्हें दिव्य लोकों में ले जाते हैं।[१]

जो घोर पाप कर्मों यमराज के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं, प्रथम तो उन्हें यमराज का रूप ही अत्यंत भयंकर और रौद्र दिखाई देता है। उनके समीप कुछ हटकर उनके मंत्री चित्रगुप्त बैठे होते हैं, उनका रूप भी अत्यन्त काला और भयावना दिखाई देता है। वह चित्रगुप्त उपस्थित जीव के शुभाशुभ कर्मों का लेखा देखकर यमराज को बताते हैं और तब यमराज उस जीव के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था देते हैं। उस व्यवस्था को सुनते ही यमदूत उसे मारते हुए, नारकीय यातनाएँ देने के लिए ले जाते हैं।[२]

जीवन पर्यन्त मनुष्य या जितने भी जीव हैं, सभी कोई न कोई कार्य करते रहते हैं। अतः उनके कर्मों के अनुसार उन्हें फलों की प्राप्ति भी निरन्तर होती रहती है। गायत्री पुराण में उन्हीं कर्मों के फल की प्राप्ति हेतु कुछ नरकों का जिक्र किया गया है। वे तृप्त, महातप्त, रौरव, महारौरव, सप्तताल तथा कालसूत्र प्रभृति बहुत से नरक हैं। क्योंकि सभी पापियों को समान रूप से कष्ट नहीं दिये जाते, वरन् उनके लिये नरक–भोग की पृथक–पृथक व्यवस्था है। क्योंकि दुर्वासनाएं अनेक प्रकार की होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के बुरे उपायों का सहारा लिया करते हैं।[३] मरने वाले पापियों को यमराज द्वारा दण्ड सुना दिये जाने पर यमदूत उन्हें भोग

१– गायत्री-पुराण, अनुदित, स० डा० चमन लाल गौतम, प्रकाशक, बरेली संस्थान पृ०सं० ७२

२– गायत्री पुराण, अनूदित, वही, पृ०सं० ७२

३– गायत्री पुराण, अनूदित, वही, पृ०सं० ७३

के लिए उन नरकों में ले जाते हैं। वे नरक इक्कीस प्रकार के कहे जाते हैं– तामिस्र, अन्धतामिस्र, रोरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकर–मुख, अन्धकूप, कृमि–भोजन, संन्दश, तप्तसूर्मि वज्रकण्टक, शाल्मली, वैतरणी, पूयाद, प्राणरोध, विशसन लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि और अयः पान। इनके अतिरिक्त क्षारकर्दम, रजोगुण, भोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवट निरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख नाम के यह सात नरक कहे गए हैं। इस प्रकार यह अट्ठाईस नरक अधिक प्रसिद्ध हैं।[१]

इन नरकों में वे सब मनुष्य डाले जाते हैं, जो पराये धन को लूटते, चोरी करते या धरोहर मार लेते हैं। परस्त्री का अपहरण करने वाले भी इन नरकों के दुःखों को भोगते हैं। उन्हें अत्यन्त भयंकर रूप वाले यमदूत अपने काल पाश में बांधकर मारते हुए नरकों में ले जाते हैं और बलपूर्वक डाल देते हैं। तामिस्र नामक नरक में भोजन के लिए कुछ नहीं मिलता, पीने के लिए पानी भी नहीं दिखाई देता। भूखे–प्यासे रहना होता है और यमदूतों की मार खानी होती है। जिन्होंने गुरूजनों का या सामान्य व्यक्तियों का अनादर किया है, वे भी उस पाप के कारण यमदूतों द्वारा प्रताडित किए जाते हैं। उसके कारण जीव को मूर्च्छा आ जाती है।[२]

किसी के साथ छल–कपट, विश्वासघात आदि करने वाले व्यक्तियों के लिए अन्धतामिस्र नामक नरक के दुःख भोगने होते हैं। यदि किसी ने पति को धोखे से मूर्ख बनाकर, उसकी स्त्री के साथ समागम किया हो, तो वह भी उसी नरक में पड़ता है। उस नरक में प्राणी को यमदूत वृक्ष के समान चीरते फाड़ते हैं और ऐसा मारते हैं कि उसकी दर्शन शक्ति भी विलुप्त होती है। सर्वत्र अन्धकार प्रतीत होने के कारण ही उस नरक का नाम अन्धतामिस्र है।

१– तप्त चैव महातप्तं महारौख रौखौ।
सप्ततालश्च नरको नरकः कालसूत्रकः।।
गायत्री पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ७३
२– गायत्री पुराण, अनूदित वही, पृ०सं० ७४

रौरव नरक में तो वे जीव डाले जाते हैं, जो अहङ्.कार और ममता के वशीभूत होकर अनुचित उपायों से धन संचय करता, तथा स्वार्थ में ही लिप्त रहता है। उसे अपनी और अपने कुटुम्ब की ही चिन्ता रहती है[१] तथा इसके लिए दूसरों से द्वेष होने की चिन्ता भी उसे नहीं होती कोई कितना भी धन, किसी भी उपाय से कर ले किसी से भी मित्रता या शत्रुता कर ले, वह सब धन, बुराई–भलाई, वैर–मैत्री यहीं की यहीं रह जाती है। मरने पर कष्ट तो उसे अकेले ही भोगने होते हैं। वह प्राणी अपने उन–उन अनुचित कर्मों और दूषित विचारों के कारण वहॉ जाकर उन प्राणियों के द्वारा भी मारा–पीटा जाता है, जिनके साथ उसने दुर्व्यवहार किया था। वहाँ वह रोता, चिल्लाता है, आर्त्तनाद करता है किन्तु रौरव नरक में उसकी इन पुकारों को कोई भी नहीं सुनता।[२]

महौरौरव नरक, रौरव नरक से अत्यधिक भयंकर और कष्टकारी है। जो मनुष्य अपने ही पेट पालन में सदा लगा रहता है, उसे दूसरों की भी चिन्ता नहीं रहती। गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह अतिथि का सत्कार करे, उसे भोजनादि से सन्तुष्ट करे। अपने कुटुम्बियों और भृत्यों को भी भोजन–वस्त्रादि से सन्तुष्ट करे। सबको भोजन कराने के पश्चात स्वयं खाए। जो मनुष्य इस प्रकार के आचरण को नहीं मानता। वह महारौरव नरक में क्रव्यादि रुरु उसका मांस चाटते हैं और यमदूत अनेक प्रकार से अत्यन्त संतप्त करते हैं। तब वह पश्चाताप करता है किन्तु उससे कुछ लाभ उस समय नहीं होता। जो दण्ड निश्चित है वह भोगना ही होता है।[३]

यमपुरी में जो कुम्भीपाक नरक है उसकी भयंकरता प्रसिद्ध ही है। उस नरक में बड़े बड़े कुण्ड हैं, जिनमें तेल खौलता रहता है। उस खौलते हुए तेल में जीवों की हिंसा करने वाले, क्रूरकर्मा मनुष्य धकेल दिए जाते हैं। उस तेल का स्पर्श होते ही प्राणी की त्वचा जलकर उधड़ने

१– गायत्री पुराण, स०–डा० चमन लाल गौतम, प्रकाशक, बरेली संस्थान, पृ०सं० ७५

२– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ७५

३– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ७५

लगती है, इससे अत्यन्त व्याकुल हुआ वह प्राणी हाय–हाय चिल्लाता है और मूर्च्छित होकर उसी तेल के साथ खौलने लगता है उस समय उसके प्राण उस भयंकर पीड़ा का अनुभव करते हैं।[1]

उस नरक से भी भयंकर है, कालसूत्र नामक नरक। उसमें पिता और गुरूजनों का अपमान करने वाले, उनसे द्रोह करने वाले पापी डाले जाते हैं। दस हजार योजन में निर्मित इस नरक में प्राणी असीमित काल पर्यन्त भूखा प्यासा रखा जाता है। उसमें उतनी ही अधिक उष्णता होती है, कि प्राणी का शरीर बाहर से दग्ध हो जाता है जिससे भीषण वेदना होती है। उस नरक की भूमि का स्पर्श ताम्बे का बना है, जो कि उत्तप्त रहता है, ऊपर से सूर्य की किरणें जलाती हैं और नीचे से ताम्रमयी धरती उस समय वह जीव न बैठने में चैन पाता है, न खडे होने में। चलना और लेटना तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। प्रदाह को सहन न कर सकने के कारण बुरी तरह आर्त्तनाद करता है। कभी कुछ चैन भी मिलता है, तो यमदूत उसे मार–मारकर बेचैन कर देते हैं।[2]

इसके बाद असिपत्र वन नामक नरक के विषय में बताया गया है। उस वन रूप नरक में कॉँटेदार वृक्ष हैं, जिनके पत्ते के किनारे तलवार की धार के समान तीक्ष्ण हैं। वे तीक्ष्ण धार वाले पत्ते नरक भोगने वाले जीवों पर गिरते हैं, जिससे उनके अड्.ग–भड्.ग होते रहते हैं। कभी कोई अड्.ग कटता है, तो कभी कोई अड्.ग कट कर गिर जाता है। ऐसा होने पर उसे अत्यन्त तीव्र वेदना होती है। जो मनुष्य वेदमार्ग को छोड़कर पाखण्ड का आचरण करता है, दूसरों के भी धर्म की मिथ्या व्याख्या द्वारा भ्रमित करके धर्म से वंचित करता है अथवा मिथ्या धर्म का प्रचार करता हुआ उसे अपनी जीविका का साधन बना लेता है, उस नरक में डाला जाता है। उसे पत्तों द्वारा अड्.ग–छेदन की यन्त्रणा तो होती है, ऊपर से यमदूत भी उसे कोड़ों से मारते रहते हैं। उस समय उस मार से बचने के लिए वह इधर–उधर भागता है, किन्तु रक्षा के लिए कोई भी स्थान नहीं

१– गायत्री पुराण, स० डा० चमन् लाल गौतम, पृ०सं० ७६
२– गायत्री पुराण, वही, पृ०स० ७६

मिलता। सर्वत्र काँटे बिछे होते हैं[1] और सदा तीक्ष्ण धार वाले पत्ते गिरते रहते हैं।

शूकर मुख नामक नरक, शूकर के मुख के समान, किन्तु अत्यधिक भयंकर हैं। वहाँ निरपराध को दण्ड देने वाले राजा या दण्डाधिकारी यमदूतों द्वारा दिए जाने वाले त्रास को भोगते हैं। वहाँ एक कोल्हू जैसा यन्त्र भी है, जिसका आकार अद्भुत है। उसे देखते ही रोमान्च होने लगता है। उस नरक में डाले गए जीव उस यन्त्र में गन्ने के समान डालकर पेरे और निचोड़े जाते है उस समय जो भयंकर यन्त्रणा उसे होती है वह प्राणी से नहीं कही जा सकती है।[2]

अन्धकूप नामक नरक भी विचित्र प्रकार का है। उसकी आकृति का ज्ञान तो नाम से ही हो जाता है। वहाँ पशु–पक्षी, कीट, पतड्.ग, सर्प, बिच्छू ततैया आदि की अधिकता भी रहती है। वस्तुतः ये सब जीव वहीं होते हैं, जिनकी हत्या उस दण्ड भोगने वाले प्राणी ने की हो अर्थात् इस नरक में जाने पर वही जीव उसे काटते खाते है, जो अपनी हिंसा का प्रतिहिंसा रूप प्रतिशोध लेते हैं। इसलिए ज्ञानी जन बतलाते हैं कि प्राणी की हिंसा न करें, किसी को कष्ट मत दीजिए। धरती में पाँव रखने से पहले देख लो कि वहाँ कोई चींटी आदि जीव–जन्तु तो नहीं है। जिनके द्वारा जान–बूझकर जीवों की हत्या की जाती है, उन्हें यमदूत उस अन्धकूप में डालकर इसी प्रकार की यातनाएं प्राप्त कराते हैं। इस नरक में सोना, बैठना भी पीडा प्रद ही होता है।[3]

कृमि भोजन संज्ञक नरक की प्राप्ति उन्हें होती है, जो पंचयज्ञादि कर्म न करें, वैश्वानर अग्नि को सन्तुष्ट न करें, तथा अतिथि सत्कार आदि से विमुख रहें। मनीषी जन कहते हैं। कि जो कुछ प्राप्त हो उसे बाँटकर खाना चाहिए। हम अकेले खाते रहे और दूसरे हमारा मुख देखें, ऐसी पेटूपन की वृत्ति भी महापाप में संम्मिलित है। ऐसे व्यक्तियों को इस एक लाख योजन विस्तार वाले, कृमियों से भरे हुए कुण्ड में डाला जाता है, जहाँ प्राणी को कीड़े काट–काट कर खाते रहते हैं।

१– गायत्री पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ७७

२– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ७७

३– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ७८

यह स्थिति अगणित दिनों तक चलती रहती है, लगता है कि उस यन्त्रणा का कभी अन्त ही नहीं होगा।[1]

संदंशन नामक नरक अत्यधिक भयंकर है। उसमें जो भी प्राणी डाले जाते हैं, उन्हें यमदूत अग्नि में जलाते हैं और फिर उनकी त्वचा को चिमटों से पकड़–पकड़कर खींचते हैं। इस नरक की प्राप्ति उन्हें होती है, जो साधुजन तथा दुर्बल मनुष्यों के धन आदि को बल–पूर्वक छीनते अथवा चुरा लेतें है। किसी प्रकार की विपत्ति के उपस्थित होने पर विवश हुआ मनुष्य यदि ऐसा पाप करे तो अपराध की अधिकता में कुछ कमी आ जाती है और तब दण्ड भी कम ही भोगना पड़ता है किन्तु जो लोग जान–बूझकर अकारण ही ऐसा अपराध करते हैं, उनके लिए संदंशन नरक की यन्त्रणा उचित मानी गई है।[2]

इससे भी विकट यन्त्रणा वाला नरक तप्तसर्मि है, जहॉ नारकीय जीव कोड़े से पीटे जाते हैं और फिर तपाई हुई, लोहे की मूर्ति से आलिंगन कराते हैं। वह मूर्ति अग्नि के समान लाल और दहकती हुई होती है। जिसका आलिंगन करने से प्राणी दूर भागना चाहता है किन्तु यम के प्रचण्ड दूत उसे बलपूर्वक वैसा करने को बाध्य करते हैं। यदि यह दण्ड किसी पुरुष को दिया जाता है, तो तप्त लौह मूर्ति स्त्री की होती है और यदि किसी स्त्री को दिया जाता है तो लौह प्रतिमा मनुष्याकार होती है। यह दण्ड उन्हीं पुरुषों को दिया जाता है, जो व्याभिचार, बलात्कार, अभोग्या से भोग करते हैं, तथा वे स्त्रियाँ उस नरक को प्राप्त होती हैं जो पर पुरुषों में आसक्त रहती हैं और व्यभिचार में रुचि रखती हैं।[3]

ब्रह्मकण्टक, शाल्मली नरक यन्त्रणा देने का ढंग अपने अलग प्रकार का है। इसमें अनेक वृक्ष ऐसे हैं जो शाल्मली समान तथा वस्त्र तुल्य काँटों से आवृत्त हैं। इसमें उन पापियों को, उन वृक्षों पर चढ़ने को बाध्य किया जाता हैं, जब वे चढ़ जाते हैं, तब वहाँ काँटों पर बैठाकर जीवों

१– गायत्री पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ७८

२– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ७८

३– गायत्री पुराण, वही, पृ०स० ७६

को बार–बार घसीटते हैं। उस भीषण वेदना के कारण दण्ड भोगने वाले प्राणी आर्त्तनाद करते हैं। उस नरक की प्राप्ति उन प्राणियों को होती है, जो अपने मनुष्य जन्म में ऐसे अधिक कामुक रहे, जिन्होंने गाय आदि पशुओं से मैथुन किया हो, इस दण्ड की प्राप्ति उन स्त्रियों को भी होती है, जो अश्व श्वान, प्रभृति से अपनी काम–सन्तुष्टि में रूचि लेती हैं।[१]

पहले वैतरणी नामक नरक का होना भी बतलाया गया है। यह एक ऐसी नदी है जिसमें मल–मूत्र पूय, रक्त, केश, नख, अस्थि भेद, मांस, वसा आदि भरे रहते हैं। यहॉ जो जीव जन्तु रहते हैं, वे सब पापियों को सब ओर से काटते खाते हैं। उनके उस आक्रमण से बचना तो असम्भव है ही, शरीर का मॉंस, मेद, रक्त, चर्बी आदि नष्ट होने पर भी दण्ड भोगने वाले के प्राण नहीं निकलते, और वह निरन्तर दन्शित, भक्षित होता रहता है। इस नरक का दण्ड उन व्यक्तियों को भोगना पड़ता है, जो राजवंश में उत्पन्न हुए राजपद पर आसीन अथवा युवराज रहे और अपने जीवन में क्षत्रिय धर्म और मानव धर्म की मर्यादा को जिन्होंने अपने राजमद में विनष्ट कर दिया था।[२]

पूयोद संज्ञक नरक की प्राप्ति उन्हें होती हैं, जो पतित, धर्म–विरत तथा पुश्चली स्त्रियों को अपनी पत्नी बनाकर असमय ही अनाचार करते हैं तथा पशुओं के समान समागम करने में रुचि रखते हैं। जिन्हें सामाजिक मर्यादा का ध्यान नहीं रहता तथा निर्लज्ज की भॉति रहते हुए भोग–वासना में पड़े रहते हैं। इस पूयोद नरक में मल–मूत्र, मूय आदि का आधिक्य है और वे सब वस्तुएं समुद्र के समान तरंगित रहती हैं। पापियों को उसी समुद्र में पड़े रहकर उन्हीं पदार्थों को खाना पीना पड़ता है।[३]

१– गायत्री, पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ७९

२– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ८०

३– गायत्री, पुराण, वही, पृ०सं० ८०

प्राणरोध नामक नरक में यमदूत बाण चलाने और विलक्ष्य साधने का अभ्यास करते रहते हैं। यह अभ्यास उन पापियों पर किया जाता है, जो द्विजाति जन उच्च एवं सात्विक आहार–विहार के विपरीत आचरण तथा अपने मनोरंजन के लिए खान, गर्दभ प्रवृत्ति जीवों को पालते हैं और उनकी तुलना में मनुष्यों को कुछ भी नहीं समझते। मरने के पश्चात ऐसे प्राणरोध संज्ञक नरक में डाले जाते हैं तथा यमदूतों के बाणों में ऐसे ही बींधे जाते हैं। जैसे कि शिकार को शिकारी बींधता है, किन्तु यह प्राणी मरणान्तक जैसी पीड़ा तो निरन्तर भोगते हैं, किन्तु उनके प्राण नहीं निकल पाते।[१]

विशसन संज्ञक नरक में प्राणी गड़ासे के द्वारा ऐसे काटे जाते हैं जैसे कि गन्ना आदि काटते है। यह नरक उन पापियों को प्राप्त होता है, जो दम्भी और पाखण्डी मनुष्य यज्ञदि में जो पशुओं का वध करते हैं तथा पशु वध को आवश्यक बताकर भ्रम फैलाते है और हिंसा करते–कराते है।

लालाभक्ष नामक नरक लार, वीर्य आदि का पान कराते हैं। इस नरक की प्राप्ति उन अनाचारियों को होती है जो अपनी पत्नी होने वाली कन्या से विवाह से पूर्व ही मैथुन करते हैं। यमदूत उन्हें लालकुण्ड में डालकर वीर्यादि का ही पान कराते हैं

सारमेदायन नरक में अत्यन्त भयंकर वज्र के समान, तीक्ष्ण दाढ़ों वाले, विशाल शरीर के सात सौ बीस श्वान पापियों को दण्ड देने के लिए नियुक्त हैं। जो चोर, डाकू आदि निर्दोष व्यक्तियों का धन लूटते, उन्हें मारते और घरों में आग लगा देते हैं, अथवा जो राजा या शासक निरपराध प्रजा के ग्राम, घर आदि जला देते हैं, उन्हें मारते हैं, विष दिलाते हैं, वे इस नरक में लाए जाते हैं और वे कुत्ते उन पापियों को बड़े उत्साह से फाड़–फाड़कर भक्षण करते हैं। उस समय की यन्त्रणा अत्यन्त असहनीय होती है।[२]

१– गायत्री पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ८१
२– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ८१

अवीचि संज्ञक नरक में सौ योजन का विस्तार वाला एक विशाल गिरिश्रृंग है। वहाँ पहुँचाए गए पापियों को यमदूत ऊपर से बार–बार नीचे गिराते और अनेक प्रकार की यन्त्रणा देते हैं। यहाँ वे प्राणी पहुँचाए जाते हैं, जो मिथ्या साक्षी देते हैं, लेन–देन में झूठ बोलते हैं, दान की हुई वस्तु को हड़प लेते हैं। यहाँ पाषाण की धरती, जल के प्रतीत होती है तथा जो प्राणी इस पर्वत शिखर से नीचे गिराए जाते हैं, उनके शरीर के अनेक टुकड़े होने पर भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होते। वे बार–बार शिखर पर ले जाए जाकर गिराए जाते हैं।[१]

अयःपान नामक नरक और भी अधिक भयंकर है। यहाँ यमदूत पापियों की छाती पर चढ़कर उसे अग्नि से पिघला हुआ लोहा पिलाते हैं। यह नरक उन द्विजातियों के लिए है, जो मदिरा पीकर कर्म अकर्म भूल जाते हैं अथवा जो व्यक्ति, पुरुष हो या स्त्री, अपने व्रत को त्याग देते हैं। इस नरक की प्राप्ति उन्हें भी होती है, जो यज्ञ के समय के अतिरिक्त, अन्य समय में सोमपान करते हैं। यह नरक अत्यन्त त्रासदायक है।[२]

क्षार कर्दम नरक में पापियों को उल्टा लटकाकर अनेक प्रकार से पीड़ा पहुँचाई जाती है। यह दण्ड उनको दिया जाता है, जो अधम, अपने अहंकारवश दूसरों को नीचा समझते हैं तथा अपने से अधिक सम्मानीय व्यक्तियों की निन्दा करते तथा उनका मन, वचन, कर्म से किसी भी प्रकार का तिरस्कार करते हैं।[३]

नरमेध यज्ञ करने पर मनुष्य रक्षोगण नरक को प्राप्त होते हैं। जो पुरुष या स्त्री मानव–मांस का भोजन करते है, उन्हें भी इसी नरक में पहुँचाया जाता है। जैसे–कसाई पशुओं के गले छुरी काटता और चमड़ी उधेड़ता है, वैसे ही उन प्राणियों के शरीर काटे जाते हैं, तथा राक्षस रूपी भयंकर आकार के प्राणी इनके रक्त को पीते और मांस को खाते हुए प्रसन्नता से नाचते हैं, तथा दण्ड पाने वालों को अधिक त्रास देते हैं।

१– गायत्री पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं०, ८२
२– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ८२
३– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ८३

जो मनुष्य वनजीवों की हिंसा द्वारा जीविका चलाते हैं तथा पशु–पक्षियों को लुभाकर फँसाते और शूल या किसी तीक्ष्ण शस्त्र से छेदते और उनकी हिंसा करते हैं ऐसे मनुष्यों को मरने पर शूलप्रोत नामक नरक में पहुँचाया जाता है। उस नरक में यमदूत वैसे ही तीक्ष्ण–शूलों से गोदे जाते है तथा अत्यन्त कष्ट देते हुए भूखे–प्यासे रखते हैं। उस समय तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षी भी चोंटते और भयानक पशु अपने सींग चुभा–चुभाकर पापियों को असहनीय यातनाएँ देते हैं।[1]

दन्दशूक नामक नरक में वे क्रूर स्वभाव के मनुष्य मरने पर पहुँचाए जाते हैं। जो लोग व्यर्थ ही जीव–जन्तुओं को मारते या पीडित करते हैं। उन पापियों को इस नरक में विद्यमान पँचमुहे और सतमुहे सर्प दंशित करते और फिर मूषक के समान निगल जाते हैं।

अवटनिरोधन नामक नरक उन पापियों के लिए है जो दूसरों को गहरे गड्ढों, कोटों या गुफाओं प्रभृति स्थानों में बन्द करके, उन्हें यातनाएँ देते हैं और भूखे प्यासे रखते हैं। यमदूत उन पापियों को विषैले धुएँ युक्त वाली अग्नि में डाल देते हैं।

जो गृहस्थ अभ्यागतों और अतिथियों का तिरस्कार करते तथा उन पर क्रोध करते, उन्हें गाली देते या क्रूर दृष्टि से देखते हैं अथवा उनके हथियार से या आग से हत्या कर देते हैं, वे पापी मृत्यु होने पर इस नरक में दण्ड पाते हैं। यहाँ वज्र जैसी तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षी उनकी आँखों को चोंच से कुरेदते और खींचकर निकाल लेते हैं तथा बहुत प्रकार से उन पापियों को यातनाएँ देते हैं।[2]

सूचीमुख नामक नरक तो बहुत ही दुःख देने वाला है। वहाँ प्राणी को चीर–फाड़ कर बार–बार इस प्रकार की सिलाई की जाती है, जैसे कि दर्जी वस्त्रों की सिलाई किया करता है। उस नरक में वे प्राणी पहुँचाये जाते हैं, जो अपने धन के अहङ्कार में चूर रहकर किसी को कुछ नहीं समझते। ऐसे मनुष्य किसी पर विश्वास नहीं करते तथा दूसरों के साथ विश्वास घात करने

१– गायत्री पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ८३

२– गायत्री पुराण, वही, पृ०सं० ८४

से नहीं चूकते। वे अनुचित उपायों से धन कमाते और धन की रक्षा के लिए भी अनुचित उपाय काम में लाते तथा किसी पर सन्देह होने पर उसकी हिंसा या दुर्गति पर उतारू हो जाते हैं। सूचीमुख नरक में उन्हीं को अनेक प्रकार से सन्त्रस्त किया जाता है।

उपर्युक्त अट्ठाईस नरकों के अतिरिक्त और भी बहुत से नरक हैं, जो पापियों के कर्मफल के अनुसार ही न्यूनाधिक दण्ड के लिए बनाए गए हैं। अल्प पापों का भोग पहिले करा दिया जाता है, जिससे कि प्राणी शुद्ध होकर पुनः शुभ कर्मों में लग सके। जिनके पुण्य कर्म न्यून होते हैं, उन्हें पहले सुख भोग की प्राप्ति कराई जाती है, और उसके पश्चात कर्मानुरूप नरकों में डालकर दण्ड दिया जाता है। कर्मों का भोग निश्चित है, उसे कोई टाल नहीं सकता।[१]

शुभ कर्म भी कई प्रकार के हैं, जिनमें काम्यकर्म और निष्काम साधना रूप दो भेद प्रमुख है, काम्य कर्म यदि भौतिक सुखों के लिए है, तो उनका सुख और भोग पृथिवी पर ही होगा। जो कर्म स्वर्गादि की अभिलाषाओं से किए जाते हैं, वे भी नाशवान हैं क्योंकि वे स्वर्ग में जाकर वहाँ के भोगों को एक निश्चित अवधि तक ही प्राप्त करते हैं। जब उनके पुण्यों का क्षय हो जाता है, तब देव गण उन्हें स्वर्ग से धरती की ओर धकेल देते हैं, जैसे कि–राजा ययाति को धकेल दिया गया है।

जो मनुष्य सांसारिक वासनाओं का पूर्ण रूप से त्याग करके केवल मोक्ष की कामना करते हैं, उन्हें अवश्य ही मोक्ष–प्राप्ति सम्भव है। भगवती गायत्री की कृपा से वे मुमुक्षु जन निश्चय ही ईश्वर प्रणिधान के सफल अधिकारी हो सकते हैं। वस्तुतः उनकी ऐसी उच्च गति उनके अत्यन्त शुद्ध आचरण तथा दया, क्षमा, परोपकारादि शुभ संकल्पों के द्वारा होती है।[२]

गायत्री पुराण में वर्णित कर्मयोग के द्वारा प्राप्त होने वाले फलों का वर्णन करने के पश्चात मत्स्य पुराण का विशद अध्ययन के बाद पाया गया है कि उसमें कर्मयोग के विषय में इस प्रकार

१– गायत्री पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ८४

२– कर्मयोगोद्‌भवं ज्ञानं तस्मात् तत्परम् पदम्।

कर्मज्ञानोद्‌भवं ब्रह्म न च ज्ञानकर्मणः।। –मत्स्य पुराण, सं०–१, कल्याण में उद्‌धृत वर्ष ५८ सं० ६, पृ०सं० २१०

से नहीं चूकते। वे अनुचित उपायों से धन कमाते और धन की रक्षा के लिए भी अनुचित उपाय काम में लाते तथा किसी पर सन्देह होने पर उसकी हिंसा या दुर्गति पर उतारू हो जाते हैं। सूचीमुख नरक में उन्हीं को अनेक प्रकार से सन्त्रस्त किया जाता है।

उपर्युक्त अट्ठाईस नरकों के अतिरिक्त और भी बहुत से नरक हैं, जो पापियों के कर्मफल के अनुसार ही न्यूनाधिक दण्ड के लिए बनाए गए हैं। अल्प पापों का भोग पहिले करा दिया जाता है, जिससे कि प्राणी शुद्ध होकर पुनः शुभ कर्मों में लग सके। जिनके पुण्य कर्म न्यून होते हैं, उन्हें पहले सुख भोग की प्राप्ति कराई जाती है, और उसके पश्चात कर्मानुरूप नरकों में डालकर दण्ड दिया जाता है। कर्मों का भोग निश्चित है, उसे कोई टाल नहीं सकता।[1]

शुभ कर्म भी कई प्रकार के हैं, जिनमें काम्यकर्म और निष्काम साधना रूप दो भेद प्रमुख है, काम्य कर्म यदि भौतिक सुखों के लिए है, तो उनका सुख और भोग पृथिवी पर ही होगा। जो कर्म स्वर्गादि की अभिलाषाओं से किए जाते हैं, वे भी नाशवान हैं क्योंकि वे स्वर्ग में जाकर वहाँ के भोगों को एक निश्चित अवधि तक ही प्राप्त करते हैं। जब उनके पुण्यों का क्षय हो जाता है, तब देव गण उन्हें स्वर्ग से धरती की ओर धकेल देते हैं, जैसे कि–राजा ययाति को धकेल दिया गया है।

जो मनुष्य सांसारिक वासनाओं का पूर्ण रूप से त्याग करके केवल मोक्ष की कामना करते हैं, उन्हें अवश्य ही मोक्ष–प्राप्ति सम्भव है। भगवती गायत्री की कृपा से वे मुमुक्षु जन निश्चय ही ईश्वर प्रणिधान के सफल अधिकारी हो सकते हैं। वस्तुतः उनकी ऐसी उच्च गति उनके अत्यन्त शुद्ध आचरण तथा दया, क्षमा, परोपकारादि शुभ संकल्पों के द्वारा होती है।[2]

गायत्री पुराण में वर्णित कर्मयोग के द्वारा प्राप्त होने वाले फलों का वर्णन करने के पश्चात मत्स्य पुराण का विशद अध्ययन के बाद पाया गया है कि उसमें कर्मयोग के विषय में इस प्रकार

१– गायत्री पुराण, स० डा० चमन लाल गौतम, पृ०सं० ८४

२– कर्मयोगोद्भवं ज्ञानं तस्मात् तत्परम् पदम्।
कर्मज्ञानोद्भवं ब्रह्म न च ज्ञानकर्मणः।। –मत्स्य पुराण, सं०–१, कल्याण में उद्धृत वर्ष ५८ सं० ६, पृ०सं० २१०

कहा गया है कि कर्मयोग ज्ञान योग से हजारों गुना अधिक प्रशस्त है क्योंकि ज्ञान, कर्म योग से ही प्रादुर्भूत होता है। अतः वह परमपद है। ब्रह्म भी ज्ञान से ही उद्भूत होता है।[1] कर्म के बिना तो ज्ञान की सत्ता ही नहीं है। इसलिए कर्मयोग के अभ्यास में संलग्न मनुष्य अविनाशी तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण वेद और वेदज्ञों के आचार–विचार धर्म के मूल हैं। उनमें आठ प्रकार के आत्मगुण प्रधान रूप से विद्यमान रहते हैं, जैसे– समस्त प्राणियों पर दया, क्षमा, दुःख से पीड़ित प्राणी को आश्वासन प्रदान करना और उसकी रक्षा करना जगत में किसी से ईर्ष्या, द्वेष न करना, बाह्य एवं आन्तरिक पवित्रता, परिश्रम रहित अथवा अनायास प्राप्त हुए कार्यों के अवसर उन्हें माङ्गलिक आचार–विचार के द्वारा सम्पन्न करना, अपने द्वारा उपार्जित द्रव्यों से दीन–दुःखियों की सहायता करते समय कृपणता न करना तथा परायेधन और पराई स्त्री के प्रति सदा निःस्पृह रहना पुराणों के ज्ञाता विद्वानों द्वारा ये आठ आत्मगुण बतलाए गए हैं।[2] यही कर्म–योग, ज्ञान योग का साधक है। कर्म योग की महत्ता पर मत्स्य पुराण में यह भी कहा गया है कि प्रति–दिन सर्वदा देवताओं, पितरों और मनुष्यों को यज्ञों द्वारा तृप्त करना चाहिए। साथ ही पितरों और ऋषियों के तर्पण का कार्य भी जरूरी है। विद्वान पुरूष को चाहिए कि वह स्वाध्याय द्वारा देवताओं की, हवन द्वारा ऋषियों की श्राद्ध द्वारा पितरों की, अन्न द्वारा अतिथियों की तथा बलि कर्म द्वारा मृत प्राणियों की विधि पूर्वक अर्चना करें,[3] गृहस्थ के घर में जीव हिंसा के पाँच स्थानों पर घटित हुए पाप की

१– न च द्राव्येषु कार्पण्यमार्तेषूपार्जितेषु च।
तथा स्पृहा परद्रव्ये परस्त्रीषु च सर्वदा।।

२– अष्टावात्म गुणाः प्रोक्ताः पुराणस्य तु कोविदैः।
अयमेव क्रियायोगो ज्ञानयोगस्य साधकः।।
–मत्स्य पुराण, सख्या–१ कल्याण में उद्धृत वर्ष–५८,संख्या–६, पृ०सं० २१० श०सं०–१०–४

३– देववानां पितृणां च मनुष्याणा च सर्वदा।
कुर्यादहरहर्यज्ञैर्भूताषिगणतर्पणम्।।
स्वाध्यायैश्चर्चयेन्चर्षीन् होमैर्विद्वान यथा विधि।
पितृम श्राद्वैरन्नदानै भूतानि बलि कर्मभिः।।
मत्स्य पुराणाङ्.क संख्या १, वही, श०सं० १३,१४, पृ०सं० २१०

निवृत्ति के लिए इन पॉच प्रकार के यज्ञों का विधान बतलाया गया है। गृहस्थ के पाँच स्थान ये हैं–कण्डनी वस्तुओं के कूटने का पात्र ओखली, खरल आदि, पेषणी (पीसने का उपकरण चक्की, सिलवट आदि), चुल्ली (चूल्हा) जलकुम्भी (पानी रखे जाने वाले घड़े) और प्रमार्जनी (झाड़ू आदि)। इन स्थानों पर उत्पन्न हुए पाप के कारण गृहस्थ पुरूष स्वर्ग नहीं जा सकता।[1] अतः उन पापों के **विनाश के लिए पाँच यज्ञ बताए जा चुके हैं।**

मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन में अच्छे या बुरे दोनों ही प्रकार के कर्म करता रहता है। जिससे उसे कर्मों का फल अच्छा प्राप्त होता है जो कि पुण्य कर्मों के नाम से जाने जाते हैं ये पुण्य–कर्म नदी, बावली, मकान तथा यज्ञादि करना पुण्य कर्म माना जाता है। जो बुरे कर्म होते हैं उन्हें अपुण्य या पाप कर्म के नाम से जाना जाता है। अतः भविष्य पुराण में विविध प्रकार के पापो एवं पुण्य कर्मों के फल का वर्णन किया गया है। पाप कर्म को ही अधर्म या अधर्म कर्म के नाम से जाना जाता है। अधर्म कर्म करने से जीव घोर नरक में गिरते हैं और अनेक प्रकार की यातनाएं भोगते हैं। उस अधम कर्म को ही पाप और अधर्म कहते हैं। चित्त वृत्ति के भेद से अधर्म का भेद जानना चाहिए। स्थूल, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म आदि भेदों के द्वारा करोड़ों प्रकार के पाप हैं। परस्त्री का चिन्तन, दूसरे का अनिष्ट और अकार्य (कुकर्म) में अभिनिवेश– ये तीन प्रकार के मानस पाप हैं। अनियन्त्रित प्रलाप, अप्रिय, असत्य, परनिन्दा और पशुनता अर्थात् चुगली– ये पॉच वाचिक पाप हैं। अभक्ष्य भक्षण, हिंसा, मिथ्या काम सेवन (असंयमित जीवन व्यतीत करना) और पर धन हरण– ये चार कायिक पाप कहे गए हैं। इन बारह कर्मों को करने से नरक की प्राप्ति होती है। इन कर्मों के भी अनेक भेद होते हैं। जो पुरुष संसार रूपी सागर से उद्धार करने वाले महादेव अथवा

१– पञ्चैते विहिता यज्ञाः पञ्चसूनापनुत्तये।
कण्डनी, पेषणी, चुल्ली, जल कुम्भी प्रमार्जनी।। १५।।

२– पञ्च सूना गृहस्थस्य तेन स्वर्ग न गच्छति।
तत्पापनाशनायामी पञ्च यज्ञाः प्रकीर्तिताः।। ११।।
–मत्स्य पुराण, संख्या–१ कल्याण में उद्धृत वर्ष–५८,संख्या–६, पृ०सं० २१०, श० सं० १५, १६

भगवान विष्णु से द्वेष रखते हैं, वे घोर नरक में पडते है। ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्ण की चोरी और गुरूपत्नी– ये चार महापातक हैं। इन पातकों को करने वालों के सर्म्पक में रहने वाला मनुष्य पाँचवाँ महापातकी गिना जाता है। ये सभी नरक में जाते हैं।[1]

अब उपपातक के विषय में बतलाया गया है। ब्राह्मण को कोई पदार्थ देने की प्रतिज्ञा करके फिर नहीं देना, ब्राह्मण धन, हरण करना, अत्यन्त अहङ्.कार, अतिक्रोध, दम्भिकत्व, कृतघ्नता, कृपणता, कुमारी गमन, स्त्री, पुत्र आदि को बेचना, स्त्री धन से निर्वाह करना, स्त्री की रक्षा न करना, ऋण लेकर न चुकाना देवता, अग्नि, साधु गौ, ब्राह्मण, राजा और पतिव्रता की निन्दा करना आदि उपपातक हैं। इन पापों को करने वाले पुरुषों का जो संसर्ग करते हैं। वे भी पातकी होते हैं इस प्रकार पाप करने वाले मनुष्यों को मृत्यु के बाद यमराज नरक में ले जाते हैं। जो भूल से पाप करते हैं, उनको गुरूजनों की आज्ञा के अनुसार प्रायश्चित करना चाहिए। जो मन, वचन, कर्म से पाप करते हैं एवं दूसरों से कराते हैं अथवा पाप करते हुए पुरुषों का अनुमोदन करते हैं, वे सभी नरक में जाते हैं और जो उत्तम कर्म करते हैं वे स्वर्ग में सुख से आनन्द भोगते हैं। अशुभ कर्मों का अशुभ फल और शुभ कर्मों का शुभ फल होता है।[2]

जीव को अपने कर्मानुसार फल भोगना पड़ता है। इसलिए शुभ कर्म ही करना चाहिए। किए गए कर्मों का फल बिना भोगे किसी प्रकार नष्ट नहीं होता। धर्म करने वाले सुख–पूर्वक परलोक जाते हैं और पापी अनेक प्रकार के दुःख का भोग करते हुए यमलोक जाते हैं। इसलिए सदा धर्म करना चाहिए। जीव छियासी हजार योजन चलकर वैवस्वतपुर में पहुँचता है। पुण्यात्माओं को इतना बड़ा मार्ग निकट ही जान पड़ता है और पापियों के लिए बहुत लम्बा हो जाता है। पापी जिस मार्ग से चलते हैं, उसमें तीखे कांटे, कंकड़, पत्थर, कीचड, गढ्डे और तलवार की धार

१– संक्षिप्त भविष्य पुराणाङ्क संख्या–१ कल्याण में उद्धृत वर्ष–५८,संख्या–६, पृ०सं० २८३
२– संक्षिप्त भविष्य पुराणाङ्क पृ०सं० २८३

के समान तीक्ष्ण पत्थर पड़े रहते हैं और लोहे की सूईयां बिखरी रहती हैं। उस मार्ग में कहीं अग्नि, कहीं सिंह, कहीं व्याघ्र और कहीं–कहीं मक्षिका, सर्प, वृश्चिक आदि दुष्ट जन्तु घूमते रहते हैं। कहीं पर डाकिनी, शाकिनी रोग और बड़े क्रूर राक्षस दुःख देते रहते हैं। उस मार्ग में न कहीं छाया है और न जल। इस प्रकार के भयंकर मार्ग से यमदूत पापियों को लोहे की श्रृंखला से बाँधकर घसीटते हुए ले जाते हैं। उस समय अपने बन्धु आदि से रहित वे प्राणी अपने कर्मों को सोचते हुए रोते रहते हैं। भूख और प्यास के मारे उनके कण्ठ, तालू और ओष्ठ सूख जाते हैं। भयंकर यमदूत बार–बार उन्हें ताडित करते हैं और पैरों में अथवा चोटी में सॉकल से बाँधकर खींचते हुए ले जाते हैं। इस प्रकार दुःख भोगते–भोगते वे यमलोक में पहुँचते हैं और वहाँ अनेक यातनाएँ भोगते हैं।

पुण्य करने वाले उत्तम मार्ग से सुख–पूर्वक पहुँचकर सौम्य स्वरूप धर्मराज का दर्शन करते हैं और वे उनका बहुत आदर करते हैं, क्योंकि उन्होंने दूसरों का उपकार किया है।[1]

सातवें पाताल में घोर नरक के बीच अतिदारुण अट्ठाइस करोड़ नरक हैं, जिनमें पापी जीव यातना भोगते हैं यमदूत उन पापियों को ऊँचे वृक्षों की शाखाओं में टांग देते हैं और सैकड़ों मन लोहा उनके पैरों में बाँध देते हैं। उस बोझ से उनका शरीर टूटने लगता है, और वे अपने अशुभ कर्मों को यादकर रोते और चिल्लाते हैं। तपाये हुए काँटों से युक्त लौह दण्ड के चाबुकों से यमदूत उन्हें बार–बार ताड़ित करते हैं और साँपों से कटवाते हैं। जब उनके देहों में घाव हो जाता है तब उनमें नमक लगाते हैं। कभी उनको उतार कर खौलते हुए तेल में डालते हैं, वहाँ से निकालकर विष्ठा के कूप में डुबोते हैं, जिनमें कीड़े काट–काट कर खाते हैं। फिर भेद रुधिर पूय आदि के कुण्डों में उनको ढकेल देते हैं। जहाँ लोहे की चोंच वाले काक और श्वान आदि जीव उनका मांस नोच–नोच कर खाते है। कभी उनको तीक्ष्ण शूलों में पिरोते हैं। अभक्ष्य–भक्षण और मिथ्या भाषण

१– कल्याण सक्षिप्त भविष्य पुराणाड़्क, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०सं० २८४

करने वाली जिह्वा को बहुत दण्ड मिलता है। जो पुरुष माता पिता और गुरू को कठोर वचन बोलते हैं, उनके मुख में जलते हुए अड्.गारे भर दिए जाते हैं और घावों में नमक भरकर खौलता हुआ तेल डाल दिया जाता है। जो अतिथि को अन्न जल दिए बिना उसके सम्मुख ही स्वयं भोजन करते हैं, वे इक्षु की तरह कोल्हू में पेरे जाते हैं तथा वे असिताल वन नामक नरक में जाते हैं। इस प्रकार अनेक क्लेश भोगते रहने पर भी उनके प्राण नहीं निकलते। जिसने पर नारी के साथ संग किया हो, यमदूत उसे तप्त लोहे की नारी से आलिंगन कराते हैं और पर पुरुष गामिनी स्त्री को तप्त लौह पुरुष से लिपटाते हैं और कहते हैं कि जिस प्रकार तुमने अपने पति का परित्याग कर पर पुरुष का आलिंगन किया, उसी प्रकार से इस लौह पुरुष का भी आलिंगन करो। जो पुरुष देवालय बाग, वापी, कूप, मठ आदि को नष्ट करते हैं और वहॉ रहकर मैथुन आदि अनेक प्रकार के पाप करते हैं, यमदूत उनको अनेक प्रकार के यन्त्रों से पीड़ित करते हैं, और वे जब तक चन्द्र–सूर्य हैं, तब तक नरक की अग्नि में पड़े, जलते रहते हैं। जो गुरू की निन्दा श्रवण करते हैं, उनके कानों को दण्ड मिलता है। इस प्रकार जिन–जिन इन्द्रियों से पाप करते हैं, वे इन्द्रियाँ कष्ट पाती हैं। इस प्रकार की अनेक घोर यातना पापी पुरूष सभी नरकों में भोगते हैं परन्तु उनके प्राण नहीं निकलते।[१]

इससे भी अधिक दारुण यातनाएँ हैं, मृदुचित्त पुरूष उनको सुनकर दहलने लगता है। पुत्र, मित्र, स्त्री आदि के लिए प्राणी अनेक प्रकार का पाप करता है, परन्तु उस समय कोई सहायता नहीं करता। केवल एकाकी ही वह दुःख भोगता हैं और प्रलय पर्यन्त में पड़ा रहता है इसलिए बुद्धिमान मनुष्य शरीर को नश्वर जानकर लेशमात्र भी पाप न करें, पाप से अवश्य ही नरक भोगना पड़ता है। पाप का फल दुःख है और नरक से बढकर अधिक दुःख कहीं नहीं है। पापी मनुष्य नरक वास के अनन्तर फिर पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। वृक्ष आदि अनेक प्रकार की स्थावर योनियों में वे

१– कल्याण सक्षिप्त भविष्य पुराणाड्.क, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०सं० २८५

जन्म ग्रहण करते हैं और अनेक कष्ट भोगते हैं। अनन्तर कीट, पतंग, पक्षी, पशु आदि अनेकों योनियों में जन्म लेते हुए अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाते हैं। स्वर्ग एवं मोक्ष देने वाले मनुष्य जन्म को पाकर ऐसा कर्म करना चाहिए, जिससे नरक न देखना पड़े। यह मनुष्य योनि देवताओं और असुरों के लिए भी अत्यन्त दुर्लभ हैं। धर्म से ही मनुष्य का जन्म मिलता है। मनुष्य–जन्म पाकर उसे धर्म की वृद्धि करनी चाहिए। जो अपने कल्याण के लिए पुण्य करता है, वही बुद्धिमान है। जिसने ऐसा नहीं किया, उसने अपनी आत्मा के साथ वन्चना की। जब तक यह शरीर स्वस्थ है, तब तक जो कुछ पुण्य बन सके, वह कर लेना चाहिए। बाद में कुछ भी नहीं हो सकता। दिन–रात के बहाने नित्य आयु के ही अंश खण्डित हो रहे हैं, फिर भी मनुष्य को बोध नहीं होता कि एक दिन मृत्यु आ पहुँचेगी।[१] यह तो किसी को भी निश्चय नहीं है कि किसकी मृत्यु कब आएगी फिर मनुष्य को क्यों कर धैर्य और सुख मिलता है। यह जानते हुए कि एक दिन इन सभी सामग्रियों को छोड़कर अकेले चले जाएंगे, फिर अपने हाथ से ही अपनी सम्पत्ति सत्पात्रों को क्यों नहीं बाँट देते? मनुष्य के लिए दान ही पाथेय अर्थात् रास्ते के लिए भोजन है। जो दान करते हैं, वे सुख–पूर्वक जाते है। दान हीन मार्ग में अनेक दुःख पाते हैं, भूखे मर जाते हैं। इन सब बातों का विचार कर पुण्य ही करना चाहिए, पाप से सदा बचना चाहिए। पुण्य कर्मों से देवत्व प्राप्त होता है और पाप करने से नरक की प्राप्ति होती है।

शिव पुराण में मनुष्य के द्वारा किए गए कर्मों का जो शुभ या अशुभ फल प्राप्त होता है। उनमें से जो अशुभ कर्मों के द्वारा नरक की यातना भोगनी पड़ती है, उन नरक.की यातना का वर्णन शिव पुराण में भी उपलब्ध है। पारवण्डियों के शास्त्र में प्रवृत्त होता है, वह द्विजिह्व नामक नरक में जाता है और द्विजिह्वा के आकर में आधे कोस तक फैले हुए तीक्ष्ण हलों द्वारा वहाँ उसे विशेष पीड़ा दी जाती है। जो क्रूर मनुष्य माता–पिता और गुरू को डाँटता है, उसके मुँह में कोड़ा से

१– आयुषः खण्डखण्डानि निपतन्ति तवाग्रतः। अहोरात्रापदेशेन किमर्थ नावबुध्यसे।। (उत्तर पर्व ६/१६६) भविष्य पुराणाड्.क, कल्याण गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०सं० २८५

युक्त विष्ठा ठूँसकर उसे खूब पीटा जाता है। जो मनुष्य शिव–मन्दिर, बगीचे, बावली, कूप, तडाग तथा ब्राह्मण के स्थान को नष्ट–भ्रष्ट कर देते और वहाँ स्वेच्छानुसार रमण करते हैं, वे नाना प्रकार के भयंकर कोल्हू आदि के द्वारा पेरे और पकाए जाते हैं, तथा प्रलय काल पर्यन्त नरकाग्नियों में पकते रहते हैं। परस्त्रीगामी पुरुष उस–उस रूप से व्याभिचार करते हुए मारे पीटे जाते हैं। पुरुष अपने पहले जैसे शरीर को धारण करके, लोहे की बनी और खूब तपायी हुई नारी का गाढ आलिड्.गन करके सब ओर से जलते रहते हैं। वे उस दुराचारिणी स्त्री का गाढ़ आलिड्.गन करते और रोते हैं। जो सत्पुरुषों की निन्दा सुनते हैं उनके कानों में लोहे या ताँबे आदि की बनी हुई कीलें आग से खूब तपाकर भर दी जाती हैं, इनके सिवा जस्ते, शीशे और पीतल को गलाकर पानी के समान करके उनके कानों में भरा जाता है। फिर बारम्बार गरम दूध और तपाया हुआ तेल उनके कानों में डाला जाता है, फिर उन कानों पर वज्र का लेप सा कर दिया जाता है। इस तरह क्रमशः उनके कानों को उपर्युक्त वस्तुओं से भरकर उनकों नरकों में यातनाएँ दी जाती हैं। क्रमशः सभी नरकों में सब ओर ये यातनाएँ प्राप्त होती हैं और सभी नरकों की यातनाएँ बड़ा कष्ट देने वाली होती हैं। जो माता–पिता के प्रति भौहें टेढ़ी करते अथवा उनकी ओर उद्दण्डतापूर्वक दृष्टि डालते या आँख उठाते हैं,उनके मुख को अन्त तक लोहे की कील से दृढ़ता पूर्वक भर दिया जाता है। जो मनुष्य लुभाकर स्त्रियों की ओर अपलक दृष्टि से देखते हैं, उनकी आँखों में तपाकर आग के समान लाल की हुई सूइयाँ भर दी जाती हैं।[१]

जो देवता, अग्नि, गुरू तथा ब्राह्मणों को अग्रभाग निवेदन किए बिना ही भोजन कर लेते हैं उनकी जिह्वा और मुख में लोहे की सैकड़ों कीलें तपाकर ठूँस दी जाती हैं। जो लोग धर्म का उपदेश करने वाले महात्मा, कथावाचक की निन्दा करते हैं, देवता, अग्नि और गुरू के भक्तों की, सनातन धर्मशास्त्र की भी खिल्लियाँ उड़ाते हैं। उनकी छाती, कण्ठ जिह्वा, दाँतों की सन्धि, तालु, ओठ, नासिका, मस्तक तथा सम्पूर्ण अंगों की सन्धियों में आग के समान तपायी हुई तीन शाखा

१– संक्षिप्त शिव पुराण, अनुदित–हनुमान प्रसाद पोद्दार पृ०सं० ४६८

हैं। जो नराधम गुरूजनों का अपमान करने वाला तथा उनके प्रति दुर्वचन बोलने वाला है और वेद की निन्दा करने वाला, वेद बेचने वाला तथा अगम्या स्त्री से सम्भोग करने वाला है, वे सब के सब लवण नामक नरक में जाते हैं। चोर विलाहित नामक नरक में गिरता है। मर्यादा को दूषित करने वाले पुरुष की भी ऐसी ही गति होती है। जो पुरुष देवता, ब्राह्मण और पितृगण से द्वेष करने वाला है तथा रत्न को दूषित (उसमें मिलावट) करता है, वह कृमिभक्ष नामक नरक में पडता है। जो दूषित यज्ञ (दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए आभिचारिक प्रयोग या हिंसा प्रधान तामस यज्ञ) करता है। कृमीश नामक नरक में जाता है। जो नराधम पितृगण, देवगण और अतिथियों को छोड़कर (बलिवैश्वदेव के द्वारा देवता आदि का भाग उन्हें अर्पण किए बिना ही) भोजन कर लेता है, वह उग्र लाल भक्ष नरक में गिरता है। जो शस्त्र समूहों का निर्माण करता है, वह भी उसी में जाता है। जो द्विज अन्त्यज्ञ से सेवा लेता है, असत्‌दान ग्रहण करता है, यज्ञ के अनाधिकारियों से यज्ञ कराता है और अभक्ष्य भक्षण करता है, ये सब के सब रूधिरौध (पूयवह) नामक नरक में गिरते हैं। जो सोमरस को बेचने वाले हैं, उनकी भी यही गति कही गयी हैं। यज्ञ और ग्राम को नष्ट करने वाला घोर वैतरणी नदी में पड़ता है।[१]

जो नयी जवानी से मतवाले हो धर्म की मर्यादा को तोड़ते हैं, अपवित्र आचार–विचार से रहते हैं और छल, कपट से जीविका चलाते हैं, वे कृत्य नामक नरक में जाते हैं। जो अकारण ही वृक्षों को काटता है, वह असिपत्र नामक नरक में जाता है। भेड़ों को बेचकर जीविका चलाने वाले तथा पशुओं की हिंसा करने वाले कसाई वह्निज्वाल नामक नरक में गिरते हैं। भ्रष्टचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तथा जो कच्चे कपड़ों अथवा ईंट आदि को पकाने के लिए पजावे में आग देता है, वे सब उसी वह्निज्वाल नरक में गिरते हैं। जो व्रतों का लोप करने वाले तथा अपने आश्रम से गिरे हुए हैं, वे दोनों ही प्रकार के पुरूष अत्यन्त दारूण संदंश नामक नरक की यातना में पडते है।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित, अनूदित हनुमान प्रसाद पोद्दार,कल्याण, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०सं० ५०४

जो पुरुष ब्रह्मचारी होकर भी स्वप्न में वीर्य स्खलन करते हैं तथा जो पुत्रों से विद्या पढ़ते हैं, वे श्वयोजन नामक नरक में गिरते है। इस तरह ये और भी सैकड़ों, हजारों नरक हैं, जिनमें पापकर्मी प्राणी यातनाओं की आग में डालकर पकाए जाते हैं। इन उपर्युक्त पापों के समान और भी सहस्रों पाप कर्म हैं, जिन्हें नरकों में पडकर मनुष्य भोगा करते हैं। जो लोग मन, वाणी, और क्रिया द्वारा अपने वर्ण और आश्रम के विरुद्ध कर्म करते हैं, वे नरक में गिरते हैं। नरक में सिर नीचा करके लटकाए गए प्राणी स्वर्ग लोक में रहने वाले देवताओं को देखा करते हैं, और देवता लोग भी नीचे दृष्टि डालने पर उन सभी अधोमुखी नारकीय जीवों को देखते हैं। पापी लोग नरक–भोग के अनन्तर क्रमशः उन्नति करते हुए स्थावर, कृमि, जलचर, पक्षी, पशु, मनुष्य, धर्मात्मा, मानव–देवता तथा मुमुक्षु होते और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जितने जीव स्वर्ग में हैं, उतने ही नरक में हैं। जो पापी पुरुष अपने पाप का प्रायश्चित नहीं करता वही नरक में जाता है।[१]

इस संसार में जब मनुष्य के पाप कर्मो का उदय होता हैं, तब वही व्यक्ति या वस्तु दु खदायी हो जाती है, किन्तु जब हमारे कर्मो का पुण्य उदित होता है तब हमें संसार की सभी वस्तुएँ या व्यक्ति सुख प्रदान करने लगते है। अतएव ये सब कर्मों की ही महिमा है, जो प्रत्येक प्राणी या व्यक्ति को सुख या दुःख प्रदान करते हैं। जब तक मनुष्य इस संसार रूपी मोह, माया में आबद्ध रहता है, तब तक मनुष्य को ये सुख या दुःख प्रतीत होते हैं, किन्तु जैसे ही मनुष्य इस संसार रूपी सागर से मुक्त होने लगता है। वैसे ही मनुष्य को ये सुख और दुःख समान ही प्रतीत होते हैं। दोनों ही के अन्तर को वह समझने लगता है, क्योंकि एक ही व्यक्ति कभी सुख प्रदान करने वाला होता है। तो कभी दुःखदायी बन जाता है। ये सब हमारे कर्मो के ही फल है।

गरुड़ पुराण के द्वितीय खण्ड में कहा गया है कि मनुष्य के कर्मानुसार मृत्यु के समय भी उसे रोग या व्याधियाँ हो जाया करती हैं। किए हुए कर्म के अनुसार सभी को कुछ व्याधि आदि

१– संक्षिप्त शिव–पुराण, अनूदित, अनूदित हनुमान प्रसाद पोद्दार,कल्याण, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०सं० ५०५

मृत्यु का एक निमित्त मात्र हुआ करता है। जिसको जिस भी समय में मृत्यु के आने का समय विदित है वह उस समय में निश्चत रूप से प्राप्त होता है। कर्मों के योग से यह शरीरधारी जीव अवश्य ही इस अपने पञ्च भौतिक शरीर का त्याग करता है।[1] पुराणों में दान को बहुत अधिक महत्व दिया गया हैं।

गरुड़ पुराण में यह भी कहा गया है कि हम मनुष्य के द्वारा किए गए पिछले जन्मों के कर्म के अनुसार ही इस जन्म में कुछ विकार को प्राप्त करते हैं जैसे–गाय के प्रति असत्य बोलने वाले गूँगे होते हैं जो ब्राह्मण की हत्या करने वाले होते हैं, वह क्षय रोग के शिकार और कोढ़ी होते हैं। मद्य पीने वाला श्याव दन्त अर्थात् काले दाँतों वाला होता है। स्र्वर्ण का हरण करने वाला कुनखी (बुरे नाखूनों वाला) होता है। जो गुरू पत्नी गामी पहिले होता है, बस दोष युक्त चर्म वाला हुआ करता है। बिना निमन्त्रण के भोजन करने वाला काक (कौआ) होता है। दिगम्बर (नंगे), बुरे आचार वाले और समस्त देवों की निन्दा करने वाले, जो मिथ्या भाषण किया करते हैं, वे घोर नरक में जाया करते हैं। विप्र को पर्युषित (वासी) अन्न प्रदान करने वाले, कुब्जता प्राप्त किया करते हैं। मात्सर्य (डाह) आदि से जात्यन्ध होता है, और पुस्तकों का सरण करने वाला पुरुष जन्म से ही **अन्धा होता है।**

जो नित्य फलों का हरण करता है वह मर जाता है, फिर वानर योनि प्राप्त करता है और इससे मुक्त होकर गलगण्ड रोग हुआ करता है। जो बिना दिए हुए भक्ष्य पदार्थों को खा जाता है। वह मनुष्य सन्तानहीन हुआ करता है और महामूढ़ बनिया होता है। जो समस्त दर्शनों की निन्दा

१– सुकृतं दुष्कृतं वापि भुक्त्वा लोके यथार्जितम।
कर्मयोगात्तदा काश्चिद् व्याधिरूत्पद्यते खग।।४।।
निमित्तमात्रः सर्वेषां कृत कर्मानुसारतः।
यो यस्य विहितो मृत्युः स ते ध्रुवमवाप्नुयात्।।५।।
–गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, सम्पादक पं श्री राम जी शर्मा आचार्य, बरेली,
पृ०सं० २७१ तथा श्लोक सं० ४१५

किया करता है, वह धर्म के तत्त्व को नहीं जानता और उसका घोर सागर में पतन हो जाता है। सुवर्ण की चोरी करने वाला गोधा की योनि और विष देने वाला सर्प होता है। प्रव्रज्या के गमन से नट पिशाच होता है, जल के हरण करने से चातक और धान्य के हरण से मूषक होता है। जिस नारी को यौवन की प्राप्ति न हुई हो तो उसका सेवन करने से सर्प की योनि प्राप्त होती है। गुरुपत्नी के गमन की इच्छा वाला पुरूष निश्चय ही कृकलास होता है।[१] जो मनुष्य जय के प्रस्र का भेदन करता है वह मत्स्य होता है। जो विक्रयन करने के योग्य पदार्थो का विक्रय करता है वह नर विकट नेत्रों वाला होता है। कुयोनि की निन्दा करने वाला स्त्री प्रवचन करने से उलूक (उल्लू) हुआ करता है मृतक के ग्यारहवें दिन में भोजन करने वाला पुरुष कुत्ता की योनि प्राप्त किया करता है

वचन देकर अर्थात् प्रतिज्ञा करके द्विजों को धन आदि न देने वाला गीदड़ होता है। सर्प का हनन मल खाने वाला शुकर हुआ करता है। जो द्विजातियों की निन्दा किया करता है वह कछुआ का शरीर प्राप्त किया करता है । फलों का विक्रय करने वाला दुर्भागी और वृषली (शूद्र) का पति वृष हुआ करता है। अग्नि को पैर से स्पर्श करने वाला मार्जार (बिल्ली) हुआ करता है तथा पर मांस को खाने वाला रोगी होता है।[२] सोदर्या अर्थात् सगी बहन के साथ गमन करने से पुरूष षण्ड नपुंसक होता है और सुगन्धित पदार्थों का हरण करने से दुर्गन्ध वाला होता है। जो कुछ भी दूसरे का थोड़ा हो या बहुत हो हरण करने से तीतर योनि प्राप्त किया करता है। इस

१– अप्राप्तयौवनं सेव्य भवेत्सर्पः इतिश्रुतः।
गुरूदाराभिलाषी च कृकलासो भवेद्ध्रुवम्।।६।।
–गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित स०–प० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ४७४

२– परिवादाद्द्विजातीनां लभते काच्छपीं तनुम्।
लभेद्देवलकस्तार्क्ष्यं योनिं चाण्डालसंज्ञकाम्।।२३।।
दुर्भगः फलविक्रेता वृषश्च वृषलीपतिः।
मार्जारोऽग्निं पदा स्पृष्टवा रोगवान्परमांस भुक।।२४।।
–गरुड पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित, वही पृ०सं० ४७५

प्रकार से दुष्कर्म को करने वाला प्राणी भोग कर और क्रम से नरकों की यातना सहकर, शेष जो कुछ भी कर्म रह जाया करता है, उनके भोगने के लिए इन निकृष्ट योनियों में जीवात्मा जन्म धारण किया करता है। फिर यह जन्तु सैकडों जन्म धारण करके फिर भी शुभ–अशुभ कर्मो के समान होने पर इसे मनुष्य योनि प्राप्त होती है।[1] गरुड़ पुराण के द्वितीय खण्ड में अनेक प्रकार के पापों के विषय में बताया गया है कि मनुष्य को पाप कर्म करने के पश्चात कौन–कौन से दुःखद फल प्राप्त होते हैं?

अब प्रश्न उठता है कि जब मनुष्य वैतरणी नदी को पार करने के पश्चात् दूसरे शरीर को प्राप्त करता है, तब उसके पहले के जन्म से कोई सम्बन्ध रहता है या नहीं? भारतीय शास्त्रों ने 'कर्मफल' के सिद्धान्त को अटल और अकाट्य रूप से स्वीकार किया है। 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा' की उक्ति पर यहॉ के सभी लोगों का पूर्ण विश्वास है। यहाँ के ऋषि मुनियों ने मानव जीवन की भली. बुरी घटनाओं को केवल एक जन्म के कर्मो का फल नहीं बतलाया है वरन वे उसका सम्बन्ध अनेक जन्मों के कर्मों से जोडते हैं। कर्म और प्रारब्ध की समस्या पर विचार करते हुए लोकमान्य तिलक ने अपने गीता रहस्य में हिन्दू धर्म का सिद्धान्त इस प्रकार प्रकट किया है।[2]

"यह सच है कि कर्म प्रवाह अनादि है, और जब एक बार कर्म का चक्कर शुरू हो जाता है तब परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करता तथापि अध्यात्म शास्त्र का यह सिद्वान्त है कि दृश्य सृष्टि केवल नाम.रूप या कर्म ही नहीं है किन्तु इन नामरूपात्मक आवरण के लिए आधार भूत एक आत्म रूपी स्वतन्त्र और अविनाशी ब्रह्म सृष्टि है तथा मनुष्य की आत्मा उस नित्य एवं स्वतन्त्र परब्रह्म का ही अंश है।मनुष्य जो भी अनुचित अथवा पीड़ा दायक कार्य करता है, उसी से वह अशुभ कर्म

१– ततो जन्मशतं मर्त्यः सर्व जन्तुषु काश्यप।
जायते नात्र सन्देहः समीभूते शुभाशुभे।।२८।।
–गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, प० श्री रामजी शर्मा आचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ४७६, श०सं० २८
२– गरुड पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित वही, पृ०सं० ५००

बन्धन में बँधता है। मनु ने इनके तीन भेद किए हैं— कायिक, वाचिक और मानस। व्याभिचार, हिंसा, चोरी को 'कायिक' पाप कहा है—कटु, मिथ्या, ताना मारना और असङ्त बोलना—इन चारों को वाच्चिक पाप बतलाया है— परद्रव्याभिलाषा दूसरों का अहित चिन्तन और व्यर्थ आग्रह करना—इन तीनों को मानसिक पाप कहते हैं। सब मिलाकर दस प्रकार के अशुभ या पाप कर्म बतलाए गए हैं। परन्तु अन्य विद्वानों ने समस्त मानवीय कर्मों को तीन अन्य विभागों में बाँटा है— सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। किसी मनुष्य द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है—चाहे वह इस जन्म में किया गया हो या पूर्व जन्म, वह सब 'संचित', अर्थात् एकत्रित कर्म कहा जाता है। इसी संचित को कुछ लोग 'अदृष्ट' भी कहते हैं। इन सब कर्मों का फल एकदम भोगना असम्भव है, क्योंकि फल की दृष्टि से ये परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनों प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरणार्थ कोई संचित कर्म स्वर्ग प्रद और कोई नरक प्रद भी होते हैं, इसलिए इन दोनों के फलों को एक साथ ही भोगना सम्भव नहीं है—इन्हें एक के बाद एक भोगना पड़ता है। अतएव सञ्चित में से कितने कर्मों का फल भोगना पहले शुरू होता है। उतने ही को 'प्रारब्ध' कहते हैं। 'सञ्चित' में से जिन कर्मों का फल भोगना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है उनको 'अनारब्ध' कर्म कहा जाता है।[१]

सञ्चित में से जो कर्म 'प्रारब्ध' बन चुके हैं, उनको भोगे बिना छुटकारा नहीं है— 'प्रारब्ध कर्मणां भोगादेवक्षयः।' जब एक बार हाथ से बाण छूट जाता है, तब वह लौटकर नहीं आ सकता अन्त तक चला ही जाता है। ठीक इसी तरह प्रारब्ध कर्मों की अर्थात् जिनके फल को भोगना शुरू हो गया है, उनकी अवस्था भी वैसी ही होती है। जो शुरू हो गया है, उसका अन्त होना ही चाहिए, इसके सिवा दूसरी गति नहीं है। परन्तु अनारब्ध कार्य, कर्म का ही ऐसा हाल नहीं है—इन सबका ज्ञान से पूर्णतया नाश किया जा सकता है।[२]

१— गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित प० श्री रामजी शर्मा आचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, घृ०सं० ५०१
२— वही, पृ०सं० ५०१

मीमांसकों ने कर्म के चार भेद माने हैं–नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध। इनमें से नित्य कर्म–संध्या आदि के न करने से आत्मा का हनन होता है और नैमित्तिक कर्म तभी करने पड़ते हैं, जब उनकी आवश्यकता पडती है। इसलिए मीमांसकों के मतानुसार इन दोनों को करना तो आवश्यक है। शेष रहे काम्य और निषिद्ध कर्म। इनमें से निषिद्ध कर्मों को करने से पाप लगता है। इसलिए उनको न करना चाहिए। इस प्रकार भिन्न कर्मों के तारतम्य का विचार करके यदि मनुष्य कुछ कर्मों को छोड़ दे, और कुछ को शास्त्रोक्त रीति से करता रहे, तो वह अपने आप मुक्त हो जायेगा।[१]

इस शास्त्रोक्त विवेचन द्वारा विदित होता है कि कर्मफल प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वभावतः संस्कार रूप में आत्मा के साथ लिपटा रहता है, और एक जन्म के कर्मों के प्रभाव से आगामी जन्म में भी नए–नए कर्म होते रहते हैं, और कर्म श्रृड्.खला अन्त तक चलती रहती है। केवल वे थोड़े से व्यक्ति जो अनासक्त भोग और ज्ञान–साधन द्वारा–बन्धन को बिल्कुल काट देते हैं, वे ही कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा सकते हैं।[२]

इस प्रकार जब हमने कर्म–फल, परलोक और पुनर्जन्म को मान लिया, और यह भी ज्ञात हो गया है कि हम जैसा करेंगे वैसा ही अच्छा या बुरा फल प्राप्त होगा तो इस दृष्टि से सृष्टि में 'स्वर्ग और नरक' को भी किसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है। फिर चाहे उनकी स्थूल या सूक्ष्म लोकों के रूप में माना जाय या भली या बुरी परिस्थितियों के रूप में अथवा आनन्द या कष्टप्रद मानसिक स्थिति के रूप में हम स्वीकार करते हैं कि अभी तक़ वैज्ञानिक साधनों से अन्तरिक्ष की जितनी जाँच की गई है, उससे यह सिद्ध नहीं हो सका है कि सौर मण्डल में कोई ऐसा बड़ा पिण्ड है, जिसमें मनुष्यों जैसे सुख–दु:ख या राग–द्वेष अनुभव करने वाले जीव रहते हों।

१– गरूड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित, प० श्री रामजी शर्मा आचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ५०२
२– वही, पृ०सं० ५०३

इसलिए 'स्वर्ग–नरक' की कल्पना में, अगर कुछ भी सच्चाई मानी जाय, उनको अत्यन्त सूक्ष्म ही मानना होगा।[1] पौराणिक लेखकों ने भी मनुष्यों के सूक्ष्म शरीर को वायु से हल्का बतलाया है। इसलिए यदि परलोक के किस्सों में थोड़ी बहुत यथार्थता हो तो भी जीवित मनुष्यों के लिए उसका अनुभव कर सकना या पूर्ण तरह समझ सकना सम्भव नहीं हो सकता।

इसके अलावा हम पृथ्वी पर भी पागलों, उन्मादियों, महाभ्रष्ट आचरण वाले की जो दशा देखते हैं, वह भी नरक वास से कम नहीं है। ऐसे नरतन धारियों को गन्दी नाली का पानी पीते, वहाँ पड़े हुए रोटी के टुकड़ों आदि को खाते देखा गया है। 'अघोरी' नाम धारी कितने ही व्यक्ति मल–मूत्र और अन्य अत्यन्त घृणित पदार्थ खा जाते और असह्य गन्दगी की हालत में बने रहते हैं।[2] अन्य ऊपर से सामान्य श्रेणी के मुनष्य जान पड़ने वालों से भी, कितनों के आचरण ऐसे भ्रष्ट और गन्दे होते हैं कि वे गुप्त रूप से अत्यन्त गन्दे घृणोत्पादक पदार्थों का सेवन करने में ही तृप्ति अनुभव करते हैं। ऐसे मानसिक विकृति वाले व्यक्तियों की संख्या पृथ्वी पर करोड़ों होगी, और सज्जन तथा बुद्धिमान लोगों की दृष्टि में वे नारकीय जीवन ही व्यतीत करते हैं।

१– गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, अनूदित प० श्री रामजी शर्मा आचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ५०२
२– गरुड़ पुराण, द्वितीय खण्ड, वही, पृ०सं० ५०३

षष्ठम अध्याय

पुराणों में योग शास्त्र वर्णित ईश्वर और आत्मा का स्वरूप

वस्तुतः इस सृष्टि का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ इस प्रश्न पर विचार करते समय ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि ईश्वर के अलावा धरती पर कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो इस सृष्टि को चलाने की सामर्थ्य रखता हो। विज्ञान का दिनोदिन विकसित होता स्वरूप तथा दार्शनिक चिन्तन भी कहीं न कहीं इसके समक्ष नत होता दिखाई पडता है। जब भी हम विचार करते हैं कि वास्तव में ईश्वर की सत्ता है या नहीं तब हम एक ऐसे व्यूह से घिर जाते हैं कि ईश्वर ही एक ऐसी शक्ति है जिसके बिना इस सृष्टि का निर्माण नहीं हो सकता है। क्योंकि इस सृष्टि का कर्त्ता, भर्त्ता और पालनकर्त्ता ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता है। किन्तु आस्तिक दर्शन तो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है, परन्तु नास्तिक दर्शन इसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रकृति ही सब कुछ करती है, प्रकृति जैसा चाहती है वैसा ही होता है। किन्तु यह प्रकृति भी वास्तव में क्या है, इसका निर्माण कब और कैसे हुआ, यह सवाल भी अनुत्तरित लगता है।

योग दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। सांख्य की अपेक्षा योग दर्शन में ईश्वर को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह ईश्वर ही एक ऐसा माध्यम है जिसको उत्तम मध्यम, और अधम कोटि के साधकों के लिए अवतरित किया गया है। समाधि पाद में उत्तम कोटि के साधकों हेतु भी ईश्वर प्रणिधान का उपदेश दिया गया है।[1] साधन पाद के प्रारम्भ में क्रियायोग के अन्तर्गत जिस ईश्वर प्रणिधान का वर्णन किया गया है[2] वह मध्यम कोटि के साधकों के लिए है और उसी पाद में अष्टाङ्.ग योग का वर्णन करते हुए अधम कोटि के साधकों के लिए नियमान्तर्गत ईश्वर प्रणिधान का वर्णन किया गया है।[3]

योग दर्शन के अनुसार योग सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अलावा भी ईश्वर की सत्ता है। पतञ्जलि मुनि ने ईश्वर की सत्ता के विषय में या लक्षण के विषय में कहा है कि क्लेश, कर्म,

विपाक (कर्मफल) और आशय (कर्म संस्कार) से सर्वथा अस्पृष्ट पुरुष विशेष ही ईश्वर है।[1] ईश्वर नित्य मुक्त है। मुक्त पुरुष पूर्व काल में बद्ध था, प्रकृतिलीन पुरुष की भविष्य में बन्ध की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु ईश्वर सदैव मुक्त और नित्य एवं दिक्कालातीत है। ईश्वर में ज्ञान और ऐश्वर्य की पूर्णता है। वह गुरूओं का भी गुरू है।[2] उसी ईश्वर के स्वरूप को शिवोपासनाड्.क में बतलाया गया है कि ईश्वर रूपी एक तत्त्व को ही इन्द्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गुरूमान, यम और वायु कहा जाता है। अग्नि, रुद्र, पूषा आदि अनेक नामों से सम्बोधित होने वाला परमेश्वर अनेक नहीं बल्कि एक ही है। पुराणों में कहा गया है कि एक ब्रह्म त्रयो देवाः ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वराः।[3] एक ब्रह्म ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर अर्थात शिव के रूप में है। अन्यत्र भी कहा गया है कि– स ब्रह्म स शिवः सेन्द्रसोऽक्षरः परमः स्वराट्।

स एव विष्णु स प्राणाः सः कालो अग्निः स चन्द्रमाः। अर्थात वह परम्ब्रह्म ही ब्रह्मा है, वह शिव है, वह इन्द्र के सहित सम्पूर्ण देवरूप है, वह अविनाशी सर्वोत्कृष्ट और स्वयं प्रकार है। वही विष्णु है, वह हिरण्यगर्भ रूप प्राण है, वह काल अग्नि और वही चन्द्रमा है। श्वेताश्वर श्रुति में कहा गया है कि उस परमात्मा के सभी ओर मुख, मस्तक तथा ग्रीवा है क्योंकि वह सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है। वह भगवान सर्वव्यापक है। अतः स्वर्गगत और कल्याण स्वरूप है।[4]

ब्रह्म अस्थूल अर्थात् अदृश्य तत्त्व होने के कारण किसी भी इन्द्रिय द्वारा गोचर नहीं होता है, अतः वह अदृष्ट है। वस्तुतः उपलक्षण आदि से रहित होने के कारण अनुमान के द्वारा भी उसे नहीं जाना जा सकता है, अतः वह अचिन्त्य है, यही कारण है कि शब्दों से अव्यपदेश्य है अर्थात् वह वाणी का विषय नहीं है। जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाओं से परे होने के कारण एकात्मप्रत्ययसार

१– क्लेशकमविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। –योग सूत्र १,२४

२– सः पूर्वेषामपि गुरूः।

३– शिवोपासनाड्.ग, कल्याण, संख्या १ वर्ष–६७, पृ०सं० ६५

४– सर्वान शिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः।। –श्वेताश्वर श्रुति ३/११

है। प्रपञ्च का उपशम, शान्त शिव और सजातीय, विजातीय एवं स्वगत–भेदशून्य केवल एक अद्वैत स्वरूप है।[1] ब्रह्म को नित्य, विभु, सर्वव्यापक, सूक्ष्म, अव्यय तथा सम्पूर्ण भूतों का कारण बताया गया है। ब्रह्म एक ही है, पर माया विशिष्ट हो जाने पर वही ईश्वर संज्ञक भी बन जाता है।[2]

सामान्यतया ईश्वर का स्वरूप, सर्वव्यापक, विशिष्ट, साकार तथा निराकार अव्ययी और अपरिमित है। संसार में सभी जगह ईश्वर की सत्ता मानी गई है क्योंकि सांसारिक मनुष्यों का कथन है कि संसार के सभी प्राणी ईश्वर के अंशों के कारण ही जीवित हैं। ईश्वर को परमात्मा के रूप में स्वीकार किया जाता है। परमात्मा का अर्थ है श्रेष्ठ आत्मा वाला। इस परमात्मा का तुच्छ रूप आत्मा को माना जाता है, जो सभी प्राणियों में विद्यमान रहता है। आत्मा को ही जीव तथा आश्रय भी कहा गया है। जब तक ये जीव मनुष्य के शरीर में विद्यमान रहते हैं तब तक मनुष्य जीवित रहता है। जैसे ही ये जीव मनुष्य के शरीर से अलग हो जाते हैं वैसे ही मनुष्य मृतप्राय हो जाता है।

इसी ईश्वर को योग दर्शन में वेद का प्रथम उपदेष्टा माना गया है। प्रणव शब्द ईश्वर का वाचक है। योग सूत्र में ईश्वर का उल्लेख अनेक बार हुआ है। ईश्वर प्रणिधान से भी सिद्ध होती है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रियायोग कहते हैं।[3] ईश्वर–प्रणिधान से समाधि में सिद्धि प्राप्त होती है।[4] ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है चित्त को भक्तिपूर्वक दृढ़ता से ईश्वर में लगाना अर्थात् ईश्वर के ध्यान की एकतानता। जो समाधि सिद्धि, अभ्यास तथा वैराग्य रूपी कठिन साधनों से प्राप्त होती है उसे ईश्वर–प्रणिधान द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर

१– अदृष्टमव्यावहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते सा आत्मा स विज्ञेयः।। –माण्डूक्य ०७, शिवोपासनाङ्क कल्याण में उद्धृत, पृ०सं०–६३

२– ईश्वर प्रणिधानाद् वा। –योगसूत्र १–२३

३– तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। –योग सूत्र २/६६

४– समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। –योग सूत्र २/२५

प्रसन्न होकर समाधि के विघ्नों और क्लेशों को दूर करके समाधि में सिद्धि प्राप्त करा देते हैं अतः ईश्वर–प्रणिधान समाधि प्रज्ञा तथा कैवल्य का सरलतम उपाय है।[1]

जो देवता समाधि, प्रज्ञा और कैवल्य की प्राप्ति करा देता है, वह रूपवान है या निराकार, इस सम्बन्ध में गायत्री पुराण में कहा गया है कि परमात्मा रूपरहित भी है, रूपवान भी है। साकार भी है, निराकार भी है। विश्व की रचना, स्थिति और विलय का कारण भी ईश्वर ही है।[2] वह निर्गुण ब्रह्म ही सगुण होकर संसार को व्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि समस्त विश्व उस एकमात्र ब्रह्म में ही निहित है, उसी के आश्रित है। सर्गकाल में उसी में विलय को प्राप्त हुआ जगत क्रमशः प्रकट होता है और प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाता है इसलिए मुख्य रूप से संसार का एकमात्र कारण ईश्वर है। विश्व के अनन्त रूप उसी ब्रह्म के रूप हैं। वही व्यक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु, और शिव का रूप धारण करके क्रमशः सर्ग पालन और विनाश किया करता है। इस प्रकार अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्त होता है और निराकार से साकार बन जाता है। वस्तुतः वही ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, निरञ्जन, अनाम, अनादि, कालरूप, एक तुरीय, भूत–भविष्य–वर्तमान से अविच्छिन्न है, स्वयं ज्योति स्वरूप पराशक्ति का प्रादुर्भाव उसी से हुआ है।[3]

उसी परमात्मा से आकाश की और आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई। वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी प्रकट हुई। इन पञ्चमहाभूतों के अधीश्वर सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्म कहे जाते हैं। इनमें से ब्रह्मा–रजोगुणी, विष्णु–सतोगुणी और रुद्र–तमोगुणी हैं। सब देवताओं से पहले ब्रह्मा जी की ही उत्पत्ति होती है। मानव शरीर की रचना पञ्चमहाभूतों से हुई

१– भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, डा० चन्द्रधर शर्मा, पृष्ठ संख्या–१६३

२– गायत्री पुराण, सम्पादक –डा० चमन लाल गौतम, पृष्ठ संख्या २३

३– गायत्री पुराण, पृष्ठ सं० २३–२४

है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण ज्ञान, विषय, यम, बुद्धि, चित्त और अहङ्.कार स्थूल रूप ही हैं।[1] परमात्मा को कोई ज्ञानी शून्य कहते हैं, कोई अणु कहते हैं, कोई तेजरूप कहते हैं। कुछ लोग परमात्मा को नाद रूप मानते है, वह नाद ही सबका आधार है। नाद से ही प्रकाश की उत्पत्ति है, उसी से संसार व्यक्त होता है। वही नाद संसार में सर्वत्र, सदैव गूँजता है। वह नाद अविनाशी, कानों को बन्द करने पर सुनाई देता है, वही अनाहत नाद कहा जाता है। अनाहत का अर्थ है कभी नष्ट न होने वाला। वही नाद प्रणवब्रह्म कहा जाता है, उसी का नाम ओंकार है। ओंकार के तीन वर्ण या तीन अक्षर हैं, जिन्हें मात्रा भी कहते हैं। अकार, उकार और मकार का प्रत्यक्ष बोध होता है।[2]

इन तीन अक्षरों में सभी कुछ समाविष्ट है, इन्हीं से सब कुछ हुआ है। तीन वर्ण, तीन वेद, तीन लोक, तीन गुण, तीन अक्षर और तीन स्वर–यह सब ओंकार में निहित हैं। जाग्रत अवस्था में सभी जीवों में अकार की स्थिति नेत्रों में, स्वप्नावस्था में उकार की स्थिति कण्ठ में और सुषुप्ति हृदय में मानी गई है। इस प्रकार ओंकार ही प्राणियों की तीन अवस्थाओं का मुख्य कारण है। अकार स्थूल, विराट और विश्व है, उकार हिरण्यगर्भ, तैजस और सूक्ष्म है तथा मकार कारण अव्याकृत और प्राज्ञ है। इस प्रकार विद्वज्जनों ने ओंकार में निहित गुण और रूपादि का वर्णन किया है। अकार रजोगुण वाला, रक्त वर्ण का ब्रह्मा तथा उकार सतोगुणी शुक्ल वर्ण का विष्णु रूप है। मकार तामसी प्रकृति का कृष्ण वर्ण वाला तथा रुद्र रूप की उत्पत्ति होती है। वही परातत्त्व ओंकार सभी कारणों का एकमात्र कारण है। जब विश्व का विलय होता है तब ब्रह्मा अकार में, विष्णु उकार में, और महेश्वर मकार में विलीन हो जाता है।[3]

इस प्रकार संसार का विलय होने पर एक मात्र ओंकार रूप ब्रह्म ही अपनी महिमा में विद्यमान रहता है। ज्ञानीजन में वह ब्रह्म ऊर्ध्वमुखी होता है और अज्ञानियों में अधोमुखी रहता है।

१– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ० सं० २४

२– गायत्री पुराण, वही, पृ० सं० २५

३– गायत्री पुराण, वही, पृ० सं०–२६

वह प्रणव ब्रह्म वाणी से परे है, ज्योति स्वरूप है। उसे स्थूल चक्षुओं से कोई नहीं देख सकता केवल अनुभूतियों में स्वच्छन्द और उच्छश्रृंखल हुआ मन सदैव बाधक रहता है।[1] किन्तु योगदर्शन में ईश्वर को एक विशेष पुरुष के रूप में भी स्वीकार किया गया है। वह जगत का कर्ता, धर्ता, संहर्ता, नियन्ता नहीं है। असंख्य नित्य पुरुष तथ नित्य अचेतन प्रकृति स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में ईश्वर के साथ–साथ विद्यमान है। साक्षात् रूप में ईश्वर का प्रकृति से या पुरुष के बन्धन और मोक्ष से कोई लेना देना नहीं हैं उनका कार्य अपने भक्तों के समाधि–पथ में आने वाले विघ्नों को दूर करके समाधि सिद्धि को सम्भव बना देना है । मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर का कोई सहज घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। मोक्ष कैवल्य है, जिसमें सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य की कोई प्रतिष्ठा नहीं है।[2]

सृष्टि के विधि योग से परमात्मा को स्वयं ही दो प्रकार का होना पड़ा। उसने अपना अर्धनारीश्वर रूप धारण किया। उसका आधा अड्.ग अर्थात दायाँ भाग पुरूष रूप और बाँया भाग स्त्रीरूप हो गया। इस प्रकार प्रकृति पुरुष की ही अर्धाड्.ग़नी है। अर्धनारीश्वर परमात्मा के दोनों अड्.ग कार्य करने के लिए अलग–अलग दिखाई देने लगे। किन्तु उनका पृथकत्व क्रियायोग के कारण ही है। वस्तुतः तो वे एक ही है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा से वह पराप्रकृति स्वेच्छा से पृथक होकर लोकेच्छा से अपने कार्य में लग गई। उसकी इच्छा से ही सब कुछ होता है इसलिए वह परमात्मा की इच्छा शक्ति भी है। वही कार्य करने में सक्षम है इसलिए क्रिया–शक्ति कही जाती है। समस्त ज्ञान–विज्ञान उसी से प्रकट हैं, इसलिए ज्ञान शक्ति भी वही मानी गई है। यद्यपि उसी एक शक्ति के द्वारा सभी कार्य ईश्वर कृत होते हैं, किन्तु वे कार्य ईश्वर कृत ही कहे जाते हैं। यदि समस्त सर्ग विधान पर दृष्टि डालें तो प्रतीत होगा कि पुराण पुरुष से जल हुआ, जल से फेन और फेन से बुद–बुद हुए। बुद–बुद से अण्डा और अण्डे से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। इस

१– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ० सं०–२६

२– भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, वही, पृ० १६३

सब में कारण भूत तो एक ब्रह्म ही समझा जाता है, किन्तु जब ओंकार ब्रह्म पर विचार करते हैं, तब उस ब्रह्म से व्याहृतियाँ प्रकट हुई। उन व्याहृतियों ने गायत्री का रूप लिया और गायत्री से उसका अन्य रूप सावित्री हुआ।[१] परब्रह्म की जो विभिन्न रूपों में व्याख्या की जाती है, ये सब उनके लीला स्वरूप ही हैं। जैसे कोई बालक अनेक प्रकार के खेलों को रचता और क्रीड़ा करता है, वैसे ही परमात्मा की भी सब लीलाएं हैं, जो अवतार रूप से की जाती हैं। मनीषीगण उनके उन लीलावतारों को भी प्रधान के ही कार्य मानते हैं, क्योंकि कोई भी लीलावतार प्रकृति में अधिष्ठान किये बिना नहीं हो सकता। वह प्रकृति ही सब शक्तियों में प्रधान है, इसलिए उसे प्रधान भी कहते हैं।[२]

सृष्टि प्रक्रिया में ईश्वर का उल्लेख योग में नहीं किया गया है। जिसके विषय में राधाकृष्णन कहते हैं कि 'योग दर्शन का क्रियात्मक प्रयोजन एक शरीरधारी ईश्वर में पूर्ण हो जाता है । इसी कारण पतञ्जलि ने ईश्वर वाद की स्थापना नहीं की।[३] इनके द्वारा यह नहीं समझना चाहिए कि राधाकृष्णन योग दर्शन में ईश्वर की आवश्यकता एवं परवर्तीकाल में उसे जो स्थान दिया गया है उसकी महत्ता को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वह लिखते हैं कि 'परवर्ती योग में ईश्वर को जो महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है, वह मानव हृदय की सार्वभौम आवश्यकताओं के अनुभव का परिणाम है, पवित्र मनुष्य के जीवन में ईश्वर की यथार्थता देखी जाती है।[४] पतञ्जलि के द्वारा

१– गायत्री पुराण, सम्पादक–डा० चमन लाल गौतम, पृ० सं० १६४

२– गायत्री पुराण, वही, पृ० सं० १६४

३- A Personal God serves the practical purpose of Patanjali, who does not consern himself of much with the speculative interests of theism. —Radhakrishnan, S.I.P. Vol-ii PP. 369

४- In the later yoga, the universal needs of the human heart prove stronger and God begins to occupy a more central place the reality of God is seen in the purified life of man the witness of God is the religious experience of man. —Radhakrishnan, S.I.P. Vol-ii page 37

भगवान समस्त प्रकार की विक्रियाओं से रहित हैं तथा वेदान्तों के द्वारा जानने के योग्य हैं, वेदों के स्वरूप वाले, परभूत–इन्द्रियों की पहुँच से पर एवं शुभ स्वरूप वाले हैं। वे शब्द से, रस से स्पर्श से रहित देव हैं। केवल रूप से रहित है। रूप, गन्ध से परिवर्जित हैं, अनादि हैं, ब्रह्म रन्ध्र के अन्त और 'अहं' केवल ब्रह्म हूँ, ऐसे स्वरूप वाले हैं।[1]

गरुड पुराण में ही ईश्वर को ब्रह्म स्वरूप बतलाया गया है, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्.कार सहित, भूत तन्मात्रा–गुणजन्म और अशन आदि से हीन[2] अपने आप से प्रकाश वाला, आकार से शून्य, सदा आनन्द स्वरूप, अनादि, शुद्ध, बुद्ध, ऋद्ध, सत्य, आनन्दमय, अद्वैय, तुरीय और अक्षर ब्रह्म पर यह मै ही हूँ। इस आत्मा को रथ में स्थित रथी तथा इस शरीर को रथ समझना चाहिए। इस शरीर में जो इन्द्रियाँ है वे इस शरीर रूपी रथ को चलाने वाले अश्व हैं और समस्त इन्द्रियों के विषय गोचर पदार्थ होते हैं। विद्वान पुरुष का मन, इन्द्रियों से युक्त आत्मा ही भोक्ता होता है, जो सदा विज्ञान, बाह्यमन से युक्त होता है। यहाँ आत्मा को ही परब्रह्म परमज्योति बतलाया गया है।[3]

विष्णु पुराण में ईश्वर को ही अविनाशी एकाक्षर ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। यह वृहत और व्यापक है, इसलिए 'ब्रह्म' कहलाता है।

१– रूपेण रहितञ्चैव बन्धेन परिवर्जितम्।
अनादि ब्रह्मरन्धान्तमहं ब्रह्मास्मि केवलम्।। –गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड स०–पं० श्री रामजी शर्मा, आचार्य
श्लोक संख्या १६ पृ० सं० ३०६

२– देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्.कार वर्जितम। वर्जित भूततन्मात्रैर्गुणजन्माशनादिभिः।। गरुड़ पुराण, प्रथम ख० वही
पृ० सं० ६३, श्लोक सं० ३

३– स्वप्रकाश निराकारं सदानन्दमनादि यत्।
नित्यं शुद्ध बुद्धमृद्धं सत्यमानन्दमद्वयम्।। ४
तुरीयमक्षरं ब्रह्म अहमस्मि परं पदम्। अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिरपि गीयते।। ५
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयस्तेषु गोचराः।। ६
आत्मेन्द्रिमनोयुक्तो भोक्ते व्याहुर्मनीषिणः।
यस्तु विज्ञान वाह्येन युक्तेन मनसा समा।
स तु तत्पदमाप्नोति न च भूयोऽपि जायते।। ७
–गरुड़ पुराण, प्रथम खण्ड, वही, पृ० सं० ६३ –श्लोक सं० ४,५,६,७

भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक –ये तीनों प्रणव रूप ब्रह्म में ही स्थित हैं तथा प्रणव ही ऋक् यजु, साम और अथर्व रूप है। जो संसार की उत्पत्ति और प्रलय का कारण कहलाता है तथा महत्व से भी परम गुह्य (सूक्ष्म) है, जो अगाध, अपार और अक्षय है। संसार को मोहित करने वाले तमोगुण का आश्रय है तथा प्रकाशमय सत्वगुण और प्रवृत्ति रूप रजोगुण के द्वारा पुरुषों के भोग और मोक्ष रूप पुरूषार्थ का हेतु है। जो सांख्य ज्ञानियों की परम निष्ठा है, शम दशा शालियों का गन्तव्य स्थान है, जो अव्यक्त और अविनाशी है तथा सक्रिय ब्रह्म होकर भी सदा रहने वाला है। जो स्वयंभू प्रधान और अन्तर्यामी कहलाता है तथा जो अविभाग, अक्षय और अनेक रूप है तथा जो परमात्मा स्वरूप भगवान वासुदेव का ही रूप (प्रतीक) है, उस ओंकार रूप परब्रह्म को सर्वदा बारम्बार नमस्कार है। यह ओकार रूप ब्रह्म अभिन्न होकर भी (अकार, उकार, और मकार से) तीन भेदों वाला है। यह समस्त भेदों में अभिन्न रूप से स्थित है तथापि भेद बुद्धि से भिन्न–भिन्न प्रतीत होता है। वह सर्वात्मा, ऋगुयजुः साम का साररूप वह ओंकार ही सब शरीर धारियों की आत्मा है। वह वेदमय है, वही ऋग्वेद आदि रूप से भिन्न हो जाता है और वही अपने वेद रूप को नाना शाखाओं में विभक्त करता है।[१]

योगशास्त्र में महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर को एक परम् पुरुष के रूप में स्वीकार किया है, जो अपनी चिन्मात्रता निष्कलता और निर्जनता में अन्य पुरुषों से भिन्न नहीं है। उसका भेद अन्य पुरुषों से ही है कि वह प्रकृति के किसी प्रकार के बन्धन में कभी नहीं फँसा। न ही उसे किसी काल में मुक्त होने की आवश्यकता हुई। अन्य सभी पुरुष या तो अभी बँधे हुए हैं या मुक्त हो चुके हैं। 'प्रकृतिलीन' जीव अभी भी सूक्ष्म बन्धन से बद्ध हैं, आगे चलकर स्थूल रूप में भी बद्ध हो जाएंगे। किन्तु ईश्वर न अभी बद्ध है, न कभी बद्ध था और न कभी बद्ध होगा। यह बन्धन क्या है? क्लेश, कर्म, विपाक और आशय (वासनाओं) आदि प्राकृत धर्मों से सनी हुए बुद्धि का पुरुष तत्त्व

१– पराशर मुनि प्रणीत श्री श्री विष्णु पुराण, सम्पादक–रामजी शर्मा, दुर्गा पुस्तक भण्डार, बम्बई, पृ० सं० २०८–२०६

में आरोपित या उपचरित होना ही उस पुरुष का बन्धन है। वास्तविक रूप से तो स्वाभाविक असंगता के कारण कोई पुरुष इन प्राकृत धर्मों से कभी नहीं बँधता।[1]

इनका उपचार भर उनमें होता है अर्थात उसमें इन धर्मो का व्यपदेश मात्र या कथन मात्र होता है। वस्तुतः बन्धन के न होने पर भी बन्धन का व्यपदेश होना ही सूत्रोक्त 'परामर्श' का अर्थ है। ईश्वर की विशेषता यह है कि उसमें क्लेश आदि का परामर्श या व्यपेदेश भी नहीं होता। भाष्यकार के मतानुसार उसकी सन्निधि में प्रकृष्ट सत्व रहता है, जिससे वह प्रणिधान–परायण जीवों के उद्धार के लिए अभिध्यान (संकल्प) करता है।[2] उसका ऐश्वर्य सर्वातिशयी है। उसी में सर्वज्ञता की पराकाष्ठा होती है। वह कालातीत है। उसका वाचक शब्द 'प्रणव' अर्थात् ओंकार है। योग साधना में ईश्वर का महान उपयोग यह है कि उसकी भावना करने और उसके नाम का जप करने से योग मार्ग के सारे विघ्न दूर हो जाते हैं तथा साधक को अपने स्वरूप का दर्शन होता है। अन्ततः साधक को कैवल्य की सिद्धि होती है। योग सूत्र में न तो ईश्वर को सृष्टि से सम्बन्धित स्वीकृत किया गया है और न प्रलय से। वह साकार भी नहीं है। सच देखा जाय तो उसकी सत्ता योग की तत्त्व मीमांसा में नाममात्र की है, क्योंकि तत्त्वतः तो वह पुरुष ही है, तद्भिन्न नही। यदि एक पुरुष को गिनने से २६ तत्त्व हो सकते हैं तो पुरुष बहुत्ववादी सांख्य मे असंख्य तत्त्व हो जायेंगे।

आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में शंकराचार्य ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिससे यह ज्ञात होता है कि आत्मा जगत के सारे पदार्थों को अपने में ग्रहण कर लेता है, सारे पदार्थों का अनुभव करता है और इसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है। इसलिए इसे आत्मा कहा जाता है।[3] कूर्म पुराण में आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है कि आत्मा स्वच्छ है, शुद्ध है, सूक्ष्म

१– पराशर मुनि प्रणीत श्री श्री विष्णु पुराण, पं० रामजी शर्मा, दुर्गा पुस्तक भण्डार, बम्बई, पृ० सं० २०६

२– 'प्रणिधानाद् भक्ति विशेषादावर्जित ईश्वरस्त मनुगृहणात्यभिध्यानमात्रेण।' –योग सूत्र १/२३

३– भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा पृ०सं० ०७

है और सनातन है। यह सबके अन्तर में है और साक्षात चिन्मात्र ज्ञानस्वरूप है तथा यह तम से परे है। वह अन्तर्यामी, पुरुष, प्राण, महेश्वर, काल और अव्यक्त है, वह वेद है। यह विश्व इसी से समुत्पन्न होता है और अन्त में इसी में विलीन हो जाया करता है। माया से बद्ध होकर विविध प्रकार के शरीर को धारण किया करता है। यह कभी भी संसरण नहीं किया करता है और यह संसारमय भी नहीं होता है। यह पृथ्वी, जल, तेज, पवन और नभ भी नहीं है। यह आत्मा न प्राण है और न मन, अव्यक्त, शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध ही है। न मैं करता हूँ और न मैं वाणी ही हूँ।[1] यह हाथ और चरण, वायु और उपस्थ भी है। न किसी कर्म को करने वाला है और न कर्मों के बुरे–भले फलों को भोगने वाला ही है। यह न प्रकृति है और न पुरुष है न यह माया है और परमार्थ रूप से यह प्राण भी नहीं होता है। किस तरह से प्रकाश और तम एकत्र कभी भी सम्बन्ध उत्पन्न नहीं हुआ करता है।[2] उसी भांति इस प्रपञ्च का और परमात्मा का ऐसा ऐक्य सम्बन्ध नहीं होता। यह इसी भांति है और सबसे भिन्न ही है। लोक में छाया और आतप परस्पर में एक दूसरे से विलक्षण ही होते हैं और कभी भी दोनों एकत्र नहीं रह सकते हैं। उसी तरह यह समस्त प्रपञ्च और पुरुष परमार्थ से भिन्न ही होते हैं। यही आत्मा जब मलिन हो जाता है तो संसार में सृष्ट होकर स्वरूप से विकारी हो जाया करता है। उसका फिर सैकडो दूसरे–दूसरे जन्मों में भी कभी मुक्ति नहीं हुआ करती है। मुनिगण ही परमार्थ स्वरूप से अपने आपको अर्थात अपनी आत्मा को मुक्त देखा करते हैं। वास्तव में, विकारों से हीन, निर्द्वन्द्व, आनन्दरूप, अन्यायी, इस आत्मा को' मैं करने वाला हूँ–ऐसी जो मति रखते हैं अर्थात् जो ऐसी बुद्धि आत्मा के विषय में किया करते हैं, वह ऐसी मति अहङ्.कार के कर्त्ता होने से ही हुआ करती है।

१– न प्राणो न मानोऽव्यक्तम् न शब्दस्पर्शएवच।
न रूपरसगन्धाश्च नाहं कर्त्ता न वागपि।। – कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड अनूदित, सम्पादक पं० श्री राम शर्मा आचार्य, सस्कृति संस्थान, बरेली पृ० सं० ४६, श्लोक संख्या ८ एवं० ६

२– न माया नैव च प्राणा च चैव परमार्थतः।
यथा प्रकाशतमसोः सम्बन्धो नोपपद्यते।। –कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, वही, श्लोक संख्या १०, ११

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है। 'मैं हूँ' यह ज्ञान आलोचना या संशय का विषय नहीं है और न ही आत्मा का निषेध किया जा सकता है, क्योंकि निषेधकर्त्ता स्वयं आत्मा ही है। किन्तु हमारा व्यक्तिनिष्ठ जीवात्मा शुद्ध आत्मतत्त्व नहीं है। यह सत् और असत् का मिथुनी करण है, चेतन और जड की ग्रन्थि। जीव अविधा जन्य है। शरीर, इन्द्रियों, मन, अहङ्.कार, बुद्धि, अन्तःकरण ये सब अविद्या के कार्य हैं और भौतिक हैं और ये सब जीवात्मा को घेरे रहते हैं। कूर्म पुराण में उद्धरण मिलता है कि अहङ्.कार युक्त मनुष्य अपने विचार आत्मा में आरोपित कर लिया करते हैं अर्थात् अहङ्.कार की वस्तु को आत्मा की वस्तु मान लेते हैं। वेद के विद्वान लोग तो उस आत्मा को प्रकृति से भी परे मानते या समझते है।[1] अक्षर, बुद्ध और सर्वत्र सम्भव–स्थित आत्मा को भौक्ता मानना अनुचित है। समस्त देह धारियों का यह सम्पूर्ण संसार ही अज्ञान के मूल वाला है अर्थात् इस संसार का मूल ही पूर्ण अज्ञान होता हैं।[2]

अज्ञान से अन्यथा ज्ञान से यह तत्त्व जब प्रकृति से संङ्.गत होता है जो नित्योदित, स्वयं ज्योति, सर्वत्र गमनशील और परपुरुष है, अहङ्.कार के कारण अविवेक से अपने आपको मैं सबके करने वाला कर्त्ता हूँ। यह तो अहङ्.कार विवेक से मानी हुई बात है वास्तविक नहीं। ऋषि लोग इस अव्यक्त, नित्य और सदसदात्यक को देखते हैं अर्थात् वास्तविक स्वरूप इसका वे लोग जानते हैं। प्रधानपुरुष को भलीभॉति समझकर जो कि कारण है, ब्रह्मवादी जन उससे संकट यह आत्मा कूटस्थ भी निरञ्जन है। स्वात्मा को जो अक्षर ब्रह्म है उसे जो तात्विक रूप से नहीं जानता है और आत्मा में आत्म विज्ञान जिसको नहीं है इससे इतर दुःख होता है। राग और द्वेष, ये दोष सब भ्रान्ति करने के निबन्धन ही होते हैं। इसके कर्म्म महान दोष हैं और फिर पुण्य तथा अपुण्य (पाप) की स्थिति बना करती है। इन्हीं के में होने से सबको सब प्रकार के देहों का

१– सा चाहंकारकर्तृत्वादात्मन्यारोपिताजनैः। वदन्तिवेदविद्वांसः साक्षिणंप्रकृतेः परम्।। – कूर्म पुराण द्वितीय खण्ड, स० प० श्री रामजी शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान बरेली, पृ० सं० ५० श्लोक सं १५

२– भोक्तारमक्षरं बुद्ध सर्वत्र समवस्थितम्। तस्माद ज्ञानमूलोहि ससारः सर्वदेहिनाम्– कूर्मपुराण, वही, श्लोक स १६

समुद्भव हुआ करता है। वस्तुतः यह आत्मा तो नित्य, सर्वत्र, गुह्य स्वरूप वाला, कूटस्थ और सभी दोषों से रहित होता है।[1] स्वभाव से इसकी संस्थति नहीं होती है। इसीलिए मुनीन्द्रगण परमार्थ रूप से इसको अद्वैत ही कहा करते हैं।[2]

उपनिषद् में भी आत्मा के स्वरूप का विशद विवेचन मिलता है। छन्दोग्य उपनिषद् में एक रोचक आख्यान आया है, जिसमें प्रजापति और इन्द्र के सम्वाद द्वारा आत्म–चैतन्य के विविध स्तरों का विवेचन उपलब्ध है। इसमें आत्म–चैतन्य के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट चार स्तर निर्दिष्ट हैं–जाग्रत–चैतन्य, स्वप्न, सुषुप्ति चैतन्य और तुरीय या शुद्ध चैतन्य। देवताओं ने इन्द्र को और असुरों ने विरोचन को अपना प्रतिनिधि बनाकर प्रजापति के पास आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए भेजा। प्रजापति ने उनको बत्तीस वर्ष की कठोर तपस्या के बाद आने के लिए कहा। तपस्या के बाद जब दोनों पहुँचे तो प्रजापति ने इस प्रकार उपदेश दिया– दूसरे की ऑख में देखने या जल में झाँकने पर या दर्पण में देखने पर जो पुरुष दिखाई देता है, वही आत्मा है। विरोचन तो इस उपदेश से संतुष्ट होकर चले गये और उन्होंने असुरों में इस मत का प्रतिपादन किया कि जीवित शरीर ही आत्मा है, किन्तु इन्द्र इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्हें शङ्.का हुई कि आत्मा शरीर की छायामात्र कैसे हो सकती है? यदि शरीर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो, तो आत्मा भी सुसज्जित होगा; यदि शरीर अन्धा, लूला, लंगड़ा हो तो आत्मा भी अन्धा, लूला, लंगडा होगा। शरीर के नष्ट होने पर आत्मा का भी नाश हो जाएगा। ऐसे आत्मा के ज्ञान से क्या लाभ और क्या आनन्द? इन्द्र ने प्रजापति के पास जाकर अपनी शङ्.का और असंतोष व्यक्त किया। प्रजापति ने बत्तीस वर्ष और तप करने को कहा। तदनन्तर इस प्रकार उपदेश दिया– जो पुरुष स्वप्न में मुक्त विचरण करता हुआ दिखाई देता है, वही आत्मा है। इन्द्र को फिर सन्देह हुआ कि यद्यपि स्वप्न–पुरुष शरीर के दोषों से दूषित नही

१– तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेह समुद्भवः। नित्यं सर्वत्र गुह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।। –कूर्म पुराण, स० पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ५१, श्लोक सं २२

२– एकः सन्ष्ठिते शक्त्या मामया न स्वभावतः। तस्मादद्वैत मेवाहुर्मुनयः परमार्थतः।। –कूर्म पुराण, वही, श्लोक सं २३

होता, तथापि वह भयभीत सा अप्रियवेत्ता सा, रोता हुआ सा प्रतीत होता है। ऐसे आत्मा के ज्ञान से भी क्या लाभ और क्या आनन्द? इन्द्र ने प्रजापति के पास जाकर फिर अपना असन्तोष व्यक्त किया। प्रजापति ने फिर बत्तीस वर्ष और तप करने को कहा। तदनन्तर इन्द्र को अधिकारी जानकर प्रसन्न होकर इस प्रकार उपदेश दिया–जो सुषुप्ति–पुरुष स्वप्न रहित गाढ़ी निद्रा में लिप्त रहता है और जिसे किसी दुःख का अनुभव नहीं होता न तो जाग्रत के समान वाह्य पदार्थों का अनुभव होता है और न स्वप्न के समान स्वप्नकल्पित पदार्थों का। सुषुप्ति अज्ञान की अवस्था है। यहॉ न बुद्धि है, न वेदना है, न संकल्प है। यहाँ न ज्ञान है, न आनन्द है। ऐसे आत्मा की प्राप्ति से क्या लाभ और क्या आनन्द? इन्द्र ने फिर प्रजापति के पास जाकर अपना असंतोष व्यक्त किया। प्रजापति ने पॉच वर्ष और तप करने को कहा। तदनन्तर इन्द्र को अधिकारी जानकर प्रसन्न होकर इस प्रकार वास्तविक उपदेश दिया–प्रिय इन्द्र! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में अभिव्यक्त चैतन्य शुद्ध आत्मचैतन्य नहीं है। आत्म चैतन्य तुरीय (चतुर्थ), अद्वैत, नित्य, शुद्ध, साक्षी, स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध है तथा उक्त तीनों अवस्थाओं का आधार है। आत्मा देह, इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि, अहड्.कार, चित्तवृत्तियां, विज्ञान–प्रवाह तथा समस्त दृश्य जात से पृथक् है और इन सबका द्रष्टा एवं अधिष्ठान है। यह लौकिक सुख–दुखातीत अखण्ड आनन्द रूप है। यह अतीन्द्रिय और बुद्धिविकल्पातीत तथा अनिर्वचनीय है, क्योंकि इन्द्रिय, बुद्धि और वाणी की पहुँच आत्मा तक नहीं है, यद्यपि ये सब आत्मा से ही प्रकाशित हैं। इसका स्वानुभूत द्वारा साक्षात्कार ही किया जा सकता है। यह प्रकाशों का प्रकाश (ज्योतिषां ज्योतिः) है।[1]

माण्डूक्य उपनिषद में भी आत्मा को तुरीय या शुद्ध चैतन्य बताया गया है तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति उसकी अभिव्यक्ति की व्यावहारिक अवस्थाएँ हैं। आत्मा जाग्रत अवस्था में जगत के बाह्य पदार्थों का अनुभव करता है; स्वप्न में मानस पदार्थों का अनुभव करता है; सुषुप्ति में बाह्य या आभ्यन्तर किसी प्रकार के पदार्थ या विषय न होने से विक्षेप के अभाव में कोई अनुभव नहीं

१– छान्दोग्य उपनिषद्, ८–७, उद्धृत भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, अनूदित चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० ०८

होता, अतः यह अज्ञान की अवस्था है, यद्यपि सुषुप्ति में भी आत्म–चैतन्य साक्षिरूप में विद्यमान है, तथापि अविद्या से आवृत होने के कारण प्रकाशित नहीं होता। आत्मा तुरीय या शुद्ध चैतन्य है। समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान होते हुए भी यह प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव, अद्वैत तत्त्व है। प्रणव या ओंकार इसका प्रतीक है।[१]

कठ–उपनिषद में एक रमणीय रूपक के द्वारा आत्मा का वर्णन किया गया है–यह शरीर रथ है जिसमें इन्द्रिय रूपी घोड़े जुते हैं जो विषयरूपी मार्गों पर दौड़ा करते हैं, बुद्धिरूपी सारथि मन रूपी लगाम से इन घोड़ों को हॉक रहा है, आत्मा–मन–इन्द्रिय से युक्त जीव इस रथ यात्रा का भोक्ता है, और आत्मारथी अर्थात् इस रथ का स्वामी[२] शरीरादि के सारे व्यापार इस रथ के स्वामी (रथी) और रथ पर तटस्थ भाव से आरूढ़ साक्षी आत्मा के लिए होते हैं और आत्मा है उन्हें प्रकाशित करता है, किन्तु उनका भोक्ता अविद्यालिप्त जीव है।

माया आत्मा से संश्रय करने वाली होती है। जिस तरह से निर्मल स्वभाव वाला भी आकाश धूम्र के सम्पर्क को प्राप्त कर मलिन हो जाया करता है, उसी भाँति आत्मा की भी मलिनता होती है। अन्तःकरण से सञ्जात भावों से आत्मा भी उसी की भाँति लिप्त नहीं होता है, क्योंकि यह तो अपनी प्रभा से ही केवल स्फटिक मणि की भॉति भासित हुआ करता है। उपाधियों से जब यह रहित होता है तो विमलस्वरूप वाला यह आत्मा भी उसी भॉति प्रकाशमान हुआ करता है। विलक्षण लोग इस जगत को भी ज्ञान स्वरूप वाला ही कहा करते हैं। अन्य लोग इसको अर्थ स्वरूप वाला कहते हैं जिनकी कुदृष्टि होती है वे ही ऐसा इसे समझा करते हैं। स्वभाव से यह निर्गुण, कूटस्थ और व्यापी तथा चैतन्य स्वरूप वाला है। ज्ञान की दृष्टि वाले पुरुषों के द्वारा यह अर्थ रूप से दिखलाई दिया करता है। जिस तरह से केवल स्फटिक मणि भी जिसका परम शुभ्र श्वेत वर्ण

१– माण्डूक्य उपनिषद, उद्धृत वही, पृ०सं० ०६

२– कठ उपनिषद, १/३/३,४ उद्धृत भारतीय दर्शन आलोचन एवं अनुशीलन, अनूदित चन्द्रधर शर्मा, पृ०सं० १

स्वाभाविक है मनुष्यों को रक्त लक्षित हुआ करता है। यदि उस स्फटिक के साथ रक्तिका जिसका रक्तवर्ण होता है उपधान होने से वह लाल प्रतीत होती है, उसी भाँति यह परम पुरुष भी रक्त दिखाई दिया करता है। आत्मा तो स्वभाव से अक्षर, शुद्ध, नित्य, अव्यय और सर्वत्र गमन करने के स्वभाव वाला है।[1] मुमुक्षु जनों के द्वारा यह उपासना करने योग्य, मन्तव्य और सुनने के योग्य है। जिस समय में मन में सर्वत्र और सर्वथा चैतन्य भासित होता है। जिस तरह जन्म–जरा–दुःख और व्याधियों की एक मात्र औषधि केवल ब्रह्म की ही विज्ञान होता है। जिस प्रकार से लोक में नदी और नद सागर के साथ मिलकर एकता को प्राप्त हो जाया करते हैं। उसी भॉति यह आत्मा भी उस अक्षर निष्कल के साथ मिलकर एकता को प्राप्त हुआ करता है।[2] इसलिए केवल विज्ञान ही है न तो प्रपञ्च है और न कोई भी संस्थति ही है। लोक में अज्ञान से यह विज्ञान आवृत्त हुआ करता है। विज्ञान और निर्मल–सूक्ष्म–निर्विकल्प और अव्यय होता है। इसके अतिरिक्त सभी अज्ञान ही होता है।

ईश्वर आत्मा में अव्यक्त, मायावी परमेश्वर कीर्तित है, जो सब वेदों में सर्वात्मा और सर्वमुख बताया गया है। यह सर्वरूप, सर्वरस, सर्वगन्ध, अजर, अमर सभी ओर पाणि और पादों वाला अन्तर्यामी और सनातन है। बिना पाणि और पादों वाला–जवग, ग्रहीता, हृदय में संस्थित बिना चक्षुओं वाला भी है तथा कर्णों से रहित होते हुए भी श्रवण करता है। वह ही वेद है और यह सब

१– रक्तिकाधुपधानेन तद्वत्परमपुरुषः।
तस्मादात्माक्षर. शुद्धो नित्यः सर्वत्रगोऽव्ययः।। –कूर्म पुराण, अनूदित, स० पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ०सं० ५१ श्लोक स० २६

२– तथानदीनदलोकेसागरेणेकतांययुः।
तद्वादात्माक्षरेणासौ निष्कलेनैकतां व्रजेत्।। – कूर्म पुराण, अनूदित वही, पृ० सं० ५४, श्लोक सं० २६

भी है। उसे कोई भी नहीं जानता। तत्त्वदर्शी उसे एक महान पुरुष कहा करते हैं।[1]

वस्तुतः प्रकृति और पुरुष ही सांख्य योग में समस्त जगत है, क्योंकि समस्त अचेतन–संसार प्रकृति का ही व्यक्त रूप है, और जीव पुरुष ही है। अतः शङ्.का होती है कि इस चेतनाचेतन तत्त्वद्वय के अतिरिक्त यह 'ईश्वर' नाम का कौन सा तत्त्व है? यह शङ्.का उठाई जाती है, इसका उत्तर अमुक सूत्र से प्राप्त होता–'क्लेश कर्मविपाकशयैपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।' ईश्वर इन दो तत्त्व के अतिरिक्त कोई नया तत्त्व नहीं है। वह एक प्रकार का पुरुष ही है। 'पुरुष विशेष' का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर पुरुष नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है कि ईश्वर एक प्रकार का पुरुष ही है। जैसे किसी अज्ञात वृक्ष का परिचय या बोध कराने के लिए कहा जाता है–वृक्षः विशेषः वैसे ही सांख्य शास्त्र में अज्ञात ईश्वर को परिचय हेतु कहा गया है–'पुरुष विशेषः ईश्वरः।' इस प्रकार ईश्वर का अन्तर्भाव 'पुरुष तत्त्व' के ही अन्तर्गत हो जाता है।[2] इसलिए योग को 'षड्विशं तत्ववादी' कहना एक सीमित अर्थ में ही ठीक है, शतप्रतिशत ठीक नहीं है। ईश्वर कोई नया तत्त्व नहीं है, वह तो 'पुरुष' ही है, उपरोक्त सन्दर्भ में उचित प्रतीत होता है। इसलिए सांख्योग के 'पञ्चविंशतितत्त्ववादित्व' में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं आता है।

१– यत्तत्सर्वमतं दिव्यमैश्वर्यममलं महत्।
ज्ञानभियुक्तस्तु भियुक्तस्तु देहान्ते तदवाप्नुयात्।। ४५
एव आत्माहमव्यक्तो मायावी परमेश्वरः।
कार्त्तितः सर्ववेदेषु सर्वात्मा सर्वतोमुखः ।। ४६
सर्वरूप· सर्वरसः सर्वगन्धोऽजरोऽमरः।
सर्वतः पाणिपादोउहमन्तर्यामी सनातनः।। ४७
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता हृदि संस्थितः।
अचुक्षुरपि पश्यामि तथाकर्ण· श्रृणोम्यहम्।। ४८
वेदाहं सर्वमेवेदं न मा जानाति कश्चन।
प्राहुर्महान्तं पुरुषं मामेकं तत्वदर्शिनः।। ४९ – कूर्म पुराण, स० पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, पृ० सं० ५५ श्लोक संख्या ४५, ४६, ४७, ४८, ४९

२– 'तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्धावस्तदुपाधेः प्रधान इति भावः।'

इस प्रकार 'ईश्वर' एक पुरुष ही है, भले ही क्लेशादि चारों से अपरामर्श रूप वैलक्षण्य उसमें हो। इसलिए यह निश्चित है कि ईश्वर तत्त्व की मान्यता के द्वारा योग शास्त्र ने सांख्य सिद्धान्त का खण्डन नहीं किया, बल्कि 'ईश्वर' को एक प्रकार का पुरुष ही माना है। सब पुरुषों में परस्पर कुछ न कुछ विलक्षणता होने पर जैसे वे सब पुरुष ही कहे जाते हैं। वैसे ही इस क्लेशादि परामर्शराहित्यरूप वैलक्ष्ण्य होने पर भी ईश्वर पुरुष ही है, वद्वयतिरिक्त कोई नया तत्त्व मानने वाला शास्त्र और 'योग' को २६ वाँ तत्त्व मानने वाला शास्त्र कहना भ्रामक है। स्मृतियों में जहाँ कहीं इस प्रकार का भेद किया गया है, वह केवल ईश्वर नामक पुरुष की मान्यता रूपी 'योगशास्त्रगत–वैशिष्ट्य' का प्रदर्शन करने के लिए ही है। उसे अभिनवतथ्य प्रतिपादन नहीं समझ लेना चाहिए। इस तथ्य को विज्ञान भिक्षु ने स्पष्ट किया है–'पुरुष विशेष एवेश्वरः, तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तभविस्त–दुपाधेः प्रधान इति भावः'।[1] वास्तव में क्लेश, कर्म, विपाक और आशय में चारों पदार्थ साधारण पुरुषों में भी नहीं रहते हैं, क्योंकि सभी पुरूष असङ्.ग और निर्लेप ही होते हैं। फिर साधारण पुरुषों और ईश्वर में क्या अन्तर है?

साधारण पुरुषों और ईश्वर में यह अन्तर है कि साधारण पुरुषों में क्लेशादि का भोगव्यदेश या भोगोपचार होता है किन्तु ईश्वर में यह भोगोपचार भी नहीं होता। जैसे दो व्यक्ति हों और दोनों ने हत्या का अपराध न किया हो, फिर भी उनमें से एक पर पुलिस ने हत्या का अभियोग चला दिया हो। आगे चलकर अभियोग झूठा सिद्ध होने पर दूसरा व्यक्ति बाइज्जत बरी हो जाता है। ठीक वैसे ही जीवात्मापुरुष और ईश्वर के प्रसंग में समझना चाहिए। वस्तुतः दोनों भाग शून्य ही हैं, किन्तु जीवात्मा पुरुषों में भोगोपचार होता है, जबकि ईश्वर में वह भोगोपचार नहीं होता। इसलिए अन्य पुरुषों तथा ईश्वर में भेदक तत्त्व 'भोग' की सत्ता नहीं 'प्रत्युत भोगव्यपदेश' की सत्ता है।[2]

१– पातञ्जल योग दर्शनम्, महर्षि पतञ्जलि मुनि प्रणीत, व्याख्याकार डा० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, पृ० सं० ८३
२– पातञ्जलि योग दर्शनम्, महर्षि पातञ्जलि मुनि प्रणीत, व्याख्याकार डा० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, पृ० सं० ८४

कूर्म पुराण में कहा गया है कि यह जगत ब्रह्ममय है, वही ब्रह्म जिसके सर्वत्र हाथ और पैर व्याप्त है–सर्वत्र आँखे, सिर और मुख हैं वही संसार में सबको समावृत्त करके स्थिर रहता है।[1] समस्त इन्द्रियों से भी रहित है। वह सबका आधार है–सदा आनन्द स्वरूप है, अव्यक्त है और द्वैत से रहित है। सभी उपमानों से रहित है अर्थात् उसकी समता रखने वाला अन्य कोई है ही नहीं प्रमाणों से भी परे और गोचर भी है। निर्विकल्प, निराभास, सब में आवास बनाने वाला और परभृत है। वह अभिन्न है और भिन्न संस्थान वाला भी वह शाश्वत, ध्रुव और अव्यय है। उसमें कोई भी गुण नहीं है–यह परम ज्योति स्वरूप है वह सभी प्राणियों की आत्मा है। ब्रह्म, अभ्यन्तर और पर है। ब्रह्म ही परशान्त, ज्ञानात्मा और परमेश्वर है। उसी ने स्थावर और जंगम स्वरूप इस विश्व को फैलाया है।[2] उपनिषद दर्शन में ब्रह्म का आत्मा से तादात्म्य बताया गया है; दोनों सर्वथा एक ही हैं। आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य उपनिषद के ऋषियों की, दर्शन को महान देन है। विषयी और विषय, द्रष्टा और दृश्य, प्रमाता और प्रमेय दोनों में एक ही तत्त्व प्रकाशित हो रहा है जो दोनों में व्याप्त है और दोनों के पार भी है। वह अन्तर्यामी ओर परगामी दोनों है। जीवात्मा में शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है, वही ब्रह्मरूप से इस समस्त विराट बाह्य जगत में भी व्याप्त है। जो व्यष्टि का आत्मा है वही समष्टि का आत्मा है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। जीवात्मा के स्वतः

१– अव्यक्तादभवत्कालः प्रधानं पुरूषः परः।
तभ्यः सर्वमिद जातं तस्माद्ब्रह्ममयञ्जगत्।।
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोडक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्कोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।
कूर्म पुराण, द्वितीय खण्ड, स० पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य पृ० सं० ५७, श्लोक सं० १ एवं २

२– सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्ज्जितम्। सर्वाधार सदानन्दमव्यक्तं द्वैतवर्जितम्।। ३
सर्वोप मान रहितं प्रमाणा तीत गोचरम। निर्विकल्पं निराभासं सर्वावासं परोमृतम्।। ४
अभिन्नं भिन्नसंस्थानं शाश्वतं ध्रुवमव्येयम्। निर्गुणं परमं ज्योतितज्ज्ञानं सूरयोविदुः।। ५
स आत्मासर्वभूतानांस बाह्याभ्यन्तरः परः। सोडहं सर्वत्रगः शान्तोज्ञानात्मापरमेश्वरः।। ६
मयाततमिदंविश्वंञगत्स्था वदजक्ड़मम। मत्स्थानि सर्वभूतानि यस्तवेद विदोविदुः।। ७
–कू०पु०, स० वही, आचार्य पृ०सं० ५७ श्लोक सं० ३, ४, ५

अनुभव सिद्ध होने से उसकी सत्ता असंदिग्ध है, किन्तु उसमें विश्वरूपता या अनन्तता नहीं है। बाह्य जगत में विश्वरूपता या अनन्तता तो है, किन्तु सत्ता की असंदिग्धता स्वतः सिद्धता नहीं है। दोनो के ऐक्य से परमतत्त्व की स्वतः सिद्ध सत्ता और विश्वरूपता सिद्ध होती है।

सप्तम अध्याय

पुराणों में योगशास्त्र सम्बन्धी मोक्ष की अवधारणा

संसार में द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध ही दुःख को उत्पन्न करता है, और इस सम्बन्ध या संयोग का कारण अविद्या यानि अज्ञान है।[1] ये अविद्या यानि अज्ञान अनादिकालीन है, अतएव यह संयोग भी अनादिकाल से चला आ रहा है। इस संयोग के परिणामस्वरूप ही प्रकृति एवं पुरुष भ्रमित होकर अपने स्वरूप को भुला बैठे हैं, अतः समस्त दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु इस अविद्या निमित्तक संयोग को हटाना परमावश्यक है।[2] अविद्या का नाश हो जाने पर जो बुद्धि, सत्व एवं पुरुष के संयोग का अभाव है, वही मोक्ष कहा जाता है।[3] जबकि सांख्य ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग की संज्ञा दी है, तथा विज्ञानवाद में बन्धन को सक्लेश या अशुद्धि और मोक्ष को व्यवदान या विशुद्धि कहा जाता है। विज्ञान परिणाम अविद्याजन्य होने से बन्धन और मोक्ष दोनों ही अविद्याकृत हैं। अनादि विद्या से ग्राह्यग्राहकविकल्पवासना या कर्म संस्कार होते हैं और वासना से विज्ञान तथा विज्ञान से वासना की उत्पत्ति–विनाश की संतति निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। यही प्रतीत्य–समुत्पाद या भवचक्र है। ग्राहन्द्रयवासना या अविद्या के नाश से अद्वय विज्ञानमात्र का साक्षात्कार होता है, यही मोक्ष या निर्वाण है। अविद्या, कर्म और क्लेश को बन्धन, संक्लेश, मल, अशुद्धि कहते हैं; निर्विकल्प प्रज्ञा के द्वारा इनके प्रहाण को व्यवदान, विशुद्धि, निर्वाण, मोक्ष कहते हैं। बौद्ध भी मोक्ष को निर्वाण के नाम से व्यवहित करते हैं। भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश में स्पष्ट किया है कि–दुःख है, और दुःख निरोध है। दुख संसार है तथा दुख निरोध निर्वाण है। महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट किया है कि जीव दीर्घ मार्ग पर जीवन–यात्रा दीर्घ समय तक जीवन मरण चक्र में पिसता रहता है।

१– तस्य हेतुरविद्या– यो० सू० २/४८

२– तदभावात्संयोगाभावो हानं, तद्दृशेः कैवल्यम्। –यो० सू० २/२५

३– तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषं सयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतत् हानम्। – व्याकरण भाष्य, पृ० सं० २३१

यह बार–बार जन्म लेता है, दुख भोगता है और आँसू बहाता हैं। अविघा दुख का कारण है, इसके नाश से दुःख का नाश सम्भव है। निर्विकल्प अपरोक्षानुभूति द्वारा अविद्या का नाश किया जा सकता है। जब निर्विकल्प अपरोक्षानुभूति होगी, तब निर्वाण प्राप्त होता है।

निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है–बुझना। जिस प्रकार तेल समाप्ति पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार अविद्या तथा क्लेश के नाश होने पर धीर पुरुष को निर्वाण प्राप्त होता है।[1] अविद्या तथा इसके नाना कार्यों की समाप्ति ही निर्वाण है। निर्वाण, अतीन्द्रिय, बुद्धि विकल्पातीत तथा अनिर्वचनीय है। इसमें अविद्या की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी प्रज्ञा द्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। गम्भीर, भ्रान्त, तर्कागम्य, निपुण तथा पण्डितों द्वारा ही साक्षात्कार के द्वारा निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। निर्वाण में सभी कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण अच्युत, अमृत, अकुतोभय, परमसुख आदि है।[2] सभी धर्मों से परे तथा निरपेक्ष परमतत्त्व है। यह सभी धर्मों की धर्मता है, सभी धर्मों से परे भी तथा उसमें व्याप्त भी है। यस्मा च खो भिक्खवे। अत्थि अजातं अमतं अकतं असंखतं तस्मा जातस्म मतस्स कतस्ससंखतस्त निस्सरणं पञ्चाय।[3] अर्थात् भिक्षुओं। यह अजात, अमृत, अकृत तथा असंस्कृत तत्त्व है इसलिए यह जात, नश्वर, कृत तथा संस्कृत धर्मों का आधार है।

निर्वाण की प्राप्ति जलीवन काल में सम्भव है। राग–द्वेष आदि को जीतकर शुद्ध आचरण के द्वारा, निरन्तर चार आर्य सत्यों का स्मरण करते हुए व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। निर्वाण की अवस्था में व्यक्ति इच्छारहित रहता है तथा सर्वथा वह मुक्त हो जाता है। मुक्ति या मोक्ष प्राप्त व्यक्ति को अर्हत कहते हैं। अतः निर्वाण राग–द्वेष आदि तथा तज्जनित दुःखों के नाश की अवस्था

१– सौन्दरानन्द, १६, २८, २६, उद्धृत–भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० ६६

२– निब्बानं पद्मच्चुतम्।–सुत्तनिपात, रतनसुत्त।

निब्बानं अकुतोभयम्। – इतिवुत्तक, ११२

निब्बानं परम सुखम। –धम्मपद, १८

–उद्धृत–भारतीय दर्शन आलोचन एवं अनुशीलन, वही, पृ०सं० ५६

३– उदान, ७३ सुत्त, उद्धृत–भारतीय दर्शन, आलोचन एवं अनुशीलन, वही, पृ० सं० ५६

है। क्या निर्वाण निष्क्रिय अवस्था है? निर्वाण निष्क्रिय अवस्था नहीं है। जब व्यक्ति शील,समाधि तथा प्रज्ञा द्वारा निर्वाण प्राप्त कर लेता है तब उसे समाधिस्थ रहने की आवश्यकता नही रहती है। व्यक्ति जीवन कर्मों में संलग्न रह सकता है। बौद्ध धर्म प्रवर्तक भगवान बुद्ध निर्वाण प्राप्त होने के बाद भी निरन्तर कर्मों में संलग्न रहे। निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् पुनर्जन्म तथा तज्जनित दुःखों का विनाश हो जाता है तथा मृत्युपर्यन्त पूर्ण ज्ञान एवं शान्त युक्त रहता है। यह अवस्था शान्त, स्थिर तथा तृष्णा रहित अवस्था है। निर्वाण अनिर्वचनीय है, इसका साधारण अनुभवों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। नागसेन जो एक बौद्ध धर्मोपदेशक थे, उन्होंने स्पष्ट किया है कि–निर्वाण, सागर समान गहरा, पर्वत सदृश ऊँचा तथा मधु सदृश मधुर है।[१]

जैन दर्शन में बन्ध के विषय में कहा गया है कि कर्म भौतिक और पौद्गलिक है। कर्म पुद्गलों का जीव को जकड़ लेना बन्ध है, और जीव का कर्म–पुद्गलों से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है। जीव स्वभाव से मुक्त है, किन्तु अनादि अविद्या या वासना के कारण कर्म–बन्धन में फँस जाता है। बन्धन के पाँच कारण बताए गए हैं–मिथ्यात्व (सद्सद्विवेक), अविरति (वैराग्य का अभाव अर्थात् रागादि) प्रमाद, कषाय (क्रोध, लोभ, मान और माया) और योग (मानसिक वाचिक और कायिक क्रिया)।[२] कषायों के कारण जीव कर्म– पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है, जो उसमें प्रवेश कर उसे जकड़ लेते हैं, यही बन्ध है।[३] सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय मोक्ष है।[४] जैन दर्शन में आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पाँच पदार्थ या अवस्थाएँ हैं। इनमें जीव और अजीव को जोड दिया जाय तो इनकी संख्या सात हो जाती है तथा इनके साथ पुण्य, पाप को जोड़ देने पर उनकी संख्या नौ हो जाती है। आश्रव का अर्थ है–बहना, प्रवाह अर्थात कर्म–पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाह। भावास्रव तथा द्रव्यास्रव नामक दो आश्रव हैं। जीव में कर्म को उत्पन्न करने वाले

१– डा० गायत्री प्रसाद : दर्शन–शास्त्र, इलाहाबाद पृ०सं० ३२२

२– तत्त्वार्थ सूत्र–८,१ उद्धृत–भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ०सं० ४१

३– सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आद्त्ते। स बन्धः। – तत्वार्थ सूत्र–८,२,–३

४– कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। – तत्वार्थ सूत्र–१०,३

रागादि भावों का उदय एवं मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया का संकल्प भावाश्रव है एवं कर्म पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाहित होना द्रव्यास्रव है। जब ये कर्म पुद्गल जीव में घुसकर उसे जकड लेते हैं, तब इनसे बँध जाना जीव का 'बन्ध' है। 'बन्ध' भी दो प्रकार का है–भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध। कषाय और कर्म का उदय भावबन्ध है तथा कर्म पुद्गलों का जीव में घुसकर उसे बांध लेना, द्रव्य बन्ध है। एक बार कर्म में फॅस जाने पर कर्म–चक्र निरन्तर चलता रहता है। कर्म–मल गहराता जाता है। कर्म–बन्धन बढता जाता है। एक कर्म से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा, इस प्रकार कर्म–प्रवाह अनवरत चलता रहता है, जब तक इसे सायास रोका न जाय। आने वाले कर्मों के मार्ग को सर्वथा अवरुद्ध कर देना 'संवर' कहलाता है। जीव में कर्मों का प्रवेश द्वार बन्द हो जाने से नये कर्म प्रविष्ट नही हो सकते। यह किया आस्रव की किया से ठीक विपरीत है। कर्म–प्रवाह का मार्ग खोलना आस्रव है और इस मार्ग को बन्द कर देना संवर है संवर भी भाव संवर और द्रव्य संवर के भेद से दो प्रकार का है। भाव संवर में वे मानस व्यापार, नैतिक आचरण और योग क्रियाएँ आती हैं, द्रव्य संवर नए कर्म पुद्गल के प्रवेश के वास्तविक निरोध को कहते हैं संवर से जीव में नवीन कर्म–मल प्रविष्ट नहीं होते किन्तु प्राचीन कर्म–मल तो जीव को दूषित कर रहे हैं। अतः अगला सोपान 'निर्जरा' है। जिसमें जीव में विद्यमान कर्म–मल को दर्शन–ज्ञान, चरित्र की रगड़ से साफ करके सर्वथा हटा देना होता है। जब कर्म मल का अन्तिम कण भी जीव से हटा दिया जाता है, जब कर्म पुद्गल का जीव में आत्यन्तिक क्षय हो जाता है, तब जीव अपने सहज सर्वज्ञ रूप में प्रकाशित होता है, यही 'मोक्ष' है, यही केवल ज्ञान की प्राप्ति है।[१]

जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न कहा गया है। उमास्वामी ने स्पष्ट किया है–"सम्यगदर्शन ज्ञान–चरित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं।[२] तीनो में से किसी एक द्वारा मोक्ष प्राप्ति संभव नही है, बल्कि तीनों के सम्मिलित होने पर मोक्ष

१– चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, पृ०स० ४२

२– सम्यग्ज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः। तत्वार्थ सूत्र १,१

प्राप्ति सम्भव होती है। जैन अध्यात्म मार्ग के पथिक के लिए सर्वप्रथम जैन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों और तत्त्वों के गहन एवं यथार्थ ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। इन सिद्धान्तों और तत्त्वों के गहन एवं यथार्थ ज्ञान को सम्यक ज्ञान कहा गया है। इस ज्ञान को अपने आचरण में चरितार्थ करना सम्यक चरित्र है।[1]

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड में कहा गया है कि जो हरि का ध्यान करते हैं, उन्हें मोक्ष अर्थात् परम पद की प्राप्ति होती है। क्योंकि वह रूप रहित, गुण रहित, नाम रहित, मन के धर्म से भी रहित है।[2] गरुड पुराण में यह भी बताया गया है कि जो व्यक्ति योग उर्शन में वर्णित अष्टाड्.ग योग के आठों अड्.गों का विशेष ज्ञान प्राप्त कर उसे क्रियान्वित भी करता है। उसे मोक्ष अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

शिव पुराण में अष्टाड्.ग योग वर्णित निर्वाण को मोक्ष के नाम से सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि जो प्रकृति आदि आठ बन्धनों से बंधा हुआ है वह जीव बद्ध कहलाता है और जो उन आठों बन्धनों से छूटा हुआ है उसे मुक्त कहते हैं। प्रकृति आदि को वश में कर लेना मोक्ष कहलाता है। बन्ध आगन्तुक है, और मोक्ष स्वतः सिद्ध है। बद्ध जीव सब बन्धन से मुक्त हो जाता है तब उसे मुक्त जीव कहते हैं।[3] कर्म से लेकर प्रकृति पर्यन्त सब कुछ जब वश में हो जाता है, तब वह जीव मुक्त कहलाता है और स्वात्मारामरूप से विराजमान होता है। परमेश्वर शिव की कृपा से जब कर्म जनित शरीर अपने वश में हो जाता है, तब भगवान शिव के लोक में निवास का सौभाग्य प्राप्त होता है। इसी को सालोक्य मुक्ति कहते हैं। जब तन्मात्राएँ वश में हो जाती हैं, तब जीव जगदम्बा सहित शिव का सामीप्य प्राप्त कर लेता है। यही सामीप्य मुक्ति है उसके आयुद्ध आदि और क्रिया आदि सब कुछ भगवान शिव के समान हो जाता है। भगवान का महाप्रसाद प्राप्त होने पर बुद्धि भी वश में हो जाती है। बुद्धि प्रकृति का कार्य है। उसका वश में होना सृष्टि मुक्त कहा गया है।

१– चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन और अनुशीलन, पृ०सं० ४२

२– गरुड पुराण, अनूदित सम्पादक, पं० श्री राम जी शर्मा आचार्य, बरेली पृ० सं० ४२

३– संक्षिप्त शिव पुराण, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार पृ०सं० ५२

पुनः भगवान का महान अनुग्रह प्राप्त होने पर प्रकृति वश में हो जाएगी। उस समय भगवान शिव का मानसिक ऐश्वर्य बिना यत्न के ही प्राप्त हो जायेगा। सर्वज्ञता और तृप्ति आदि को जो शिव के ऐश्वर्य हैं, उन्हें पाकर मुक्त पुरुष आत्मा में ही विराजमान होता है। वेद और शास्त्रों में विश्वास रखने वाले विद्वान पुरुष इसी को सायुज्य कहते हैं।[1]

योगाग्नि के द्वारा किस प्रकार अपने शरीर को भस्म किया जाता है। इसके विषय में शिव पुराण में सती द्वारा किए गए आत्म दाह के माध्यम से बताया गया है। सती ने पहले अपने पति का स्मरण किया फिर शान्त चित्त होकर अचानक उत्तर दिशा की ओर भूमि पर बैठ गयी। उन्होंने आसन को स्थिर कर प्राणायाम द्वारा प्राण और अपान वायु को एक रूप करके नाभिचक्र में स्थित किया। फिर उदान वायु बल–पूर्वक नाभिचक्र से ऊपर उठकर बुद्धि के साथ हृदय में स्थापित किया। तत्पश्चात शंकर की प्राणवल्लभा अनिन्दिता सती हृदय स्थित वायु को कण्ठ मार्ग से भृकुटियों के बीच में ले गयी। इस प्रकार दक्ष पर कुपित हो सहसा अपने शरीर को त्यागने की इच्छा से सती ने अपने सम्पूर्ण अड्.गों में योग मार्ग के अनुसार वायु और अग्नि की धारणा की। तदनन्तर अपने पति के चरणारविन्दों का चिन्तन करती हुई सती ने अन्य सब वस्तुओं का ध्यान भुला दिया। उनका चित्त योग मार्ग में स्थित हो गया था। इसलिए वहाँ उन्हें पति के चरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई दिया। सती का निष्पाप शरीर तत्काल गिरा और उनकी इच्छा के अनुसार योगाग्नि से जलकर उसी क्षण भस्म हो गया।[2]

वस्तुतः मोक्ष साधन केवल ज्ञान है, आत्म ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान मोक्ष है। आत्मा नित्य मुक्त है, अतः मोक्ष किसी नई अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, वह तो आत्मा का ही निजी स्वरूप है। अतः बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्या के अन्तर्गत आते हैं, तथापि जब तक जीवात्मा स्वयं को बद्धजीव मानता है, तब तक उसके लिए मोक्ष प्राप्ति चरम लक्ष्य है और इसके लिए साधना करना आवश्यक है। जो ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म की प्राप्ति यहीं, इसी

१– सक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ५३

२– संक्षिप्त शिव पुराण, वही, पृ० सं० १६६–१७०

लोक और इसी जन्म में हो सकती है और होती है। उस परम तत्त्व को यहीं प्राप्त किया जाता है।[1] जीवन्मुक्त को प्रिय और अप्रिय, लौकिक सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते है।[2] जिस प्रकार सर्प को केंचुल उतार फेंकने के बाद उससे कोई मोह नहीं रहता, उसी प्रकार जीवन्मुक्त को अपने शरीर से कोई मोह नहीं रहता।[3] प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर जीवन्मुक्त का शरीर छूट जाता है और विदेह मुक्त हो जाता है।[4]

'योगश्च चित्त वृत्ति निरोधः' अर्थात् चित्त वृत्ति का निरोध ही योग है। योग के सिद्ध हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है किन्तु योग व्यवधानों से घिरा हुआ माना जाता है। योग मार्ग आलस्य, तीक्ष्ण व्याधियाँ, प्रमाद, स्थान संशय, अनवस्थितचिन्तता, अश्रद्धा, भ्रांति–दर्शन, दुःख दौर्मनस्य और विषयलोलुपता–ये दस योग साधन में लगे हुए पुरुषों के लिए योगमार्ग के विघ्न कहे गये हैं।[5] योगियों के शरीर और चित्त में जो अलसता का भाव आता है, उसी को यहाँ आलस्य कहा गया है। वात, पित्त और कफ–इन धातुओं की विषयता से जो दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को व्याधि कहते हैं। कर्मदोष से इन व्याधियों की उत्पत्ति होती है। असावधानी के कारण योग के साधनों का न हो पाना 'प्रमाद' है। यह है या नहीं है इस प्रकार उभयकोटि से आक्रांत हुए ज्ञान

१– (क) ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।
(ख) अत्र ब्रह्म समश्नुते।
(ग) इहैव तदाप्नोति।
२– न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छान्दोग्य, ८–१२-१
३– वृहदारण्यक ४–४–७
४– भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ० सं० १४
५– संक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित, सम्पादक–हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ०सं० ६६६
(योगदर्शन समाधि पाद के ३० वे सूत्र में नौ प्रकार के चित्त विक्षेपों को योग का अन्तराय बताया गया है और ३१ वे सूत्र में पाँच 'विक्षप सहभू' संज्ञक विघ्न अथवा प्रतिबन्धक कहे गये हैं। किन्तु यहाँ शिव पुराण में दस प्रकार के अन्तराय बताये गये हैं। इनमें योग दर्शन कथित 'अलब्ध भूमिकत्व को छोड़ दिया गया है और 'विक्षेप सहभू' में परिगणित दुःख और दौर्मनस्य को सम्मिलित कर लिया गया है। योग सूत्र में 'स्यान और संशय–ये दो पृथक–पृथक अन्तराय हैं और यहाँ 'स्थान–संशय' नाम से एक ही अन्तराय माना गया है, साथ ही इस पुराण में 'अश्रद्धा को भी एक अन्तराय के रूप में गिना गया है।)

का नाम 'स्थान–संशय' है। मन का कहीं स्थिर न होना ही अनवस्थित चित्तता (चित्त की अस्थिरता) है। योग मार्ग में भाव रहित (अनुराग शून्य) जो मन की वृत्ति है, उसी को 'अश्रद्धा' कहा गया है। विपरीत भावना से युक्त बुद्धि को 'भ्रांति' कहते हैं। 'दुःख' कहते हैं कष्ट को, उसके तीन भेद हैं–आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। मनुष्यों के चित्त का जो अज्ञान जनित दुःख है, उसे आध्यात्मिक दुःख समझना चाहिए। पूर्वकृत कर्मों के परिणाम से शरीर में जो रोग आदि उत्पन्न होते हैं, उन्हें आधिभौतिक दुःख कहा गया है। विद्युत्पाद, अस्त्र–शस्त्र और विष आदि से जो कष्ट प्राप्त होता है, उसे आधिदैविक दुःख कहते हैं। इच्छा पर आघात पहुँचने से मन में क्षोभ होता है, उसी का नाम है–'दौर्मनस्य'। विचित्र विषयों में जो सुख का भ्रम है, वही 'विषय लोलुपता' है।[1]

योग परायण योगी के इन विघ्नों के शान्त हो जाने पर जो 'दिव्य उपसर्ग' (विघ्न) प्राप्त हैं, वे सिद्धि के सूचक हैं। सिद्ध योगी के पास स्वयं ही रत्न उपस्थित हो जाते हैं और बहुत सी वस्तुएँ प्रदान करते हैं। मुख से इच्छानुसार नाना प्रकार की मधुर वाणी निकलती है। सब प्रकार के रसायन और दिव्य औषधियाँ सिद्ध हो जाती हैं। देवाङ्नाए इस योगी को प्रणाम करके मनोवाञ्छित वस्तुएं देती हैं। योग के एक देश का भी साक्षात्कार हो जाय तो मोक्ष में मन लग जाता है।[2] देवता असुर तथा नृपों के गुणों और भागों को जो तिनकों की तरह त्याग' देता है, उसे ही· उत्कृष्ट योग सिद्धि प्राप्त होती है, अथवा यदि जगत पर अनुग्रह करने की इच्छा हो तो उसे योग सिद्धि मुनि की इच्छानुसार विचरण करना चाहिए। इस जीवन में गुणों और भोगों का उपभोग करके अन्त में उसे मोक्ष की प्राप्ति होगी। किन्तु प्रश्न उठता है कि योग किस समय तथा किस स्थान पर करना चाहिए। वस्तुतः योग शुभकाल, शुभदेश, भगवान शिव के स्थान पर एकान्त स्थान जहाँ पर जीव जन्तु न रहते हों, कोलाहल न हो और किसी प्रकार की बाधा न हो करना चाहिए।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर पृ०सं० ७००

२– सं० शि० पु०, वही

वहाँ की भूमि को लीप–पोत कर, गन्ध और धूप से सुवासित करके, फूल बिखेर कर, चन्दोवा आदि तानकर उसे विचित्र रीति से सजाकर और वहाँ कुश, पुष्प, समिधा, जल, फल और मूल की सुविधा ौ करके योग का अभ्यास करना ही पुराणों में उल्लिखित है। इसके साथ–साथ अग्नि के निकट, जल के समीप और सूखे पत्तों के ढेर पर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। जहाँ डाँस और मच्छर भरे हों, साँप और हिंसक पशुओं की अधिकता हो, दुष्ट पशु निवास करते हों–ऐसे स्थान में भी योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। श्मशान में चैत्य वृक्ष के नीचे, बाँबी के निकट, जीर्ण–शीर्ण घर में, चौराहे पर, नदी–नद और समुद्र के तट पर, गली या सड़क के बीच में, उजड़े हुए उद्यान मे, गोष्ठ आदि में, अनिष्टकारी और निन्दित स्थान में भी योगाभ्यास नही करना चाहिए। जब शरीर में अजीर्ण का कष्ट हो, खट्टी डकार आती हो, विष्ठा और मूत्र से शरीर दूषित हो, सर्दी हुई हो या अतिसार रोग का प्रकोप हो, अधिक परिश्रम के कारण थकावट हुई हो, जब मनुष्य अत्यन्त चिन्ता से व्याकुल हो, अधिक भूख–प्यास सता रही हो तथा जब वह अपने गुरूजनों के कार्य आदि में लगा हुआ हो, उस अवस्था में भी योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।[१]

जिस योगी के आहार–विहार उचित एवं परिमित हों, जो कर्मों में यथा योग्य समुचित चेष्टा करता हो तथा जो उचित समय से सोता और जागता हो एवं सर्वथा अभ्यास रहित हो, उसी को योगाभ्यास में तत्पर होना चाहिए। आसन–मुलायम, सुन्दर, विस्तृत, सब ओर से बराबर और पवित्र होना चाहिए। पद्मासन और स्वस्तिकासन आदि जो यौगिक आसन हैं, उन पर भी अभ्यास करना चाहिए। अपने आचार्य पर्यन्त गुरूजनों की परम्परा को क्रमशः प्रणाम करके अपनी गर्दन, मस्तक और छाती को सीधी रखे। होठ और नेत्र अधिक सटे हुए न हों। सिर कुछ–कुछ ऊँचा हो। दाँतो से दाँतो का स्पर्श न करे दाँतो के अग्रभाग में स्थित हुई जिह्वा को अविचल भाव से रखते हुए एडियों से दोनों अण्डकोशों और प्रजनेन्द्रिय की रक्षापूर्वक दोनों जाँघों के ऊपर बिना किसी यत्न

१– सक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०स० ७०२

के अपनी दोनों भुजाओं को रखें। फिर दाहिने हाथ के पृष्ठ भाग को बायें हाथ की हथेली पर रखकर पीठ को ऊँची करें और छाती को आगे की ओर से सुस्थिर रखते हुए नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमायें। अन्य दिशाओं की ओर दृष्टिपात न करें। प्राण का संचार रोकर पाषाण के समान निश्चल हो जाये। अपने शरीर के भीतर मानस मन्दिर में हृदय कमल के आसन पर पार्वती सहित भगवान शिव का चिन्तन करके ध्यान यज्ञ के द्वारा उनका पूजन करें।[१]

मूलाधार चक्र में, नासिका के अग्रभाग में, नाभि में, कण्ठ में, तालु के दोनों छिद्रों में,भौहों के मध्य भाग में, द्वार देश में, ललाट में या मस्तक में ध्यान केन्द्रित करें। दोनों भौहों के मध्य में, द्विदल कमल हैं, जो विद्युत के समान प्रकाश मान हैं। भूमध्य में स्थित जो कमल है, उसके क्रमशः दक्षिण और उत्तर भाग में दो पत्ते हैं, जो विद्युत के समान दीप्तिमान हैं। उनमें दो अन्तिम वर्ण 'ह' और 'क्ष' अङि्.कत हैं। षोडशदल कमल के पत्ते सोलह स्वरूप वाले हैं, जिनमें 'अ' से लेकर 'अः' तक के अक्षर क्रमशः अंकित हैं। कमल की नाल के मूल भाग से बारह दल प्रस्फुटित हुए हैं, जिनमें 'क' से लेकर 'ठ' तक के बारह अक्षर क्रमशः अंकित हैं। सूर्य के समान प्रकाशमान इस कमल के उन द्वादश दलों का अपने हृदय के भीतर ध्यान करना चाहिए। तत्पश्चात गो–दुग्ध के समान उज्जवल कमल के दस दलों का चिन्तन करें। उनमें क्रमशः 'ड' से लेकर 'फ' तक के अक्षर अंकित हैं। इसके बाद नीचे की ओर दल वाले कमल के छः दल हैं जिनमें 'ब' से लेकर 'ल' तक के अक्षर अंकित हैं। इस कमल की कान्ति धूमरहित अंगार के समान है। उसमें क्रमशः 'व' से लेकर 'स' तक के चार अक्षर चार दलों के रूप में स्थित हैं। इन कमलों में से जिनमें ही अपना मन रमे उसी में अपनी धीर बुद्धि से चिन्तन करें। उनका स्वरूप अंगूठे के बराबर, निर्मल और सब ओर से दीप्तिमान है। अथवा वह शुद्ध दीपशिखा के समान आकारवाला है, और अपनी शक्ति पूर्णतः मण्डितहै अथवा चन्द्रलेख या तारा के समान रूप वाला है अथवा वह नींवार की सींक या

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ७०२

कमलनाल से निकलने वाले सूत के समान है। कदम्ब के गोलक या ओस के कण से भी उसकी उपमा दी जा सकती है। वह रूप पृथ्वी आदि तत्त्वों पर विजय प्राप्त करने वाला है। ध्यान करने वाला पुरुष जिस तत्त्व पर विजय पाने की इच्छा रखता हो, उसी तत्त्व के अधिपति की स्थूल मूर्ति का चिन्तन करे। सौम्य मूर्ति में ध्यान करने से विशेषतः मुक्ति, शान्ति एवं शुद्ध, बुद्धि प्राप्त होती है।[१]

योग दर्शन में दो प्रकार का मोक्ष माना गया है–प्रथम जीवन्मुक्ति तथा द्वितीय विदेह मुक्ति। अणिमासेन–सांख्य योग में वर्णित जीवन्मुक्ति को असम्प्रज्ञात समाधि की प्रारम्भिक स्थिति मानती हैं, उनके मत में साधक को इस दिशा में विवेक ख्याति के परिणामस्वरूप स्वरूपावस्थिति तो हो जाती है, परन्तु उसे अभी दृढ़ करना शेष रहता है, उसे अपने चित्त को पूर्णरूप से निवृत्त करना होता है। यह जीवन्मुक्ति कितने काल तक रहती है, इसका कोई नियम नहीं है, क्योंकि जब तक साधक के प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता तब तक उसे शरीर धारण किये रहना पड़ता है।[२] सांख्यकारिका मे इसकी उपमा देते हुए ईश्वर कृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा चक्का चलाना बन्द कर दिये जाने पर भी पूर्व प्राप्त शक्ति से कुछ समय तक घूमता रहता है।[३] वेदान्त दर्शन में प्रारब्ध कर्मों के भोग के अनन्तर ही मुक्ति की कल्पना की गई है।[४] वेदान्तवादी शंकर आदि ने जीवन्मुक्ति की दशा में क्लेश वृत्ति की जो कल्पना की है, विज्ञान भिक्षु के मत में

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ७०३

२- The jivanmuktā has risen upto the stage of svarupavasthana but this stage not become firmly rooted as yet. Hence, the Jivanmukta will have to make efferts to attain this svarupavasthi permanently. Vriti should not rise (even for a moment) either spontaneously or by efforts. This is the first stage of asmpragyanth samadhi or the stage of Jivanmukti according to samakhya yoga. How long this stage will continue, will depend upon Prarabdha-Karma.-Sen Anima, S.A.V., P.-105

३– सम्यज्ञानाधिगमाद धर्मादीनामकारण प्राप्ता। तिष्ठिति संस्कारवंशाचक्रभमिवद् धृतशरीरः – सांख्यकारिका,६७

४– भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते–ब्रह्म सू० ४/१/१९

वह नितान्त भ्रामक है।[1] क्योंकि जीवन्मुक्ति की दशा धर्ममेध समाधि काल में मानी है।[2] उस समय मात्र विवेक ख्याति का ही निरन्तर प्रवाह होता रहता है, अतः उस दशा में क्लेश की विद्यमानता स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता। स्वयं भाष्यकार व्यास ने स्पष्ट ही कहा है कि क्लेश एवं कर्म की निवृत्ति होने पर विद्वान जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता है।[3] वाचस्पति मिश्र लिखते हैं क्योंकि क्लेश एवं कर्मवासना ही जात्यादि का कारण होती है और बिना कारण के कार्य हो ही नहीं सकता।[4] अतः पुनः जन्म इनका नहीं होता। इस कारण इनका मोक्ष माना जा सकता है।

यद्यपि जीवन्युन्ति के व्यापार की आपाततः तो अन्य व्यक्तियों की भांति ही प्रतीत होते हैं, परन्तु उसे विवेक ज्ञान हो गया है। अतः दोनों के समान रूप से कार्य करते हुए भी दृष्टिकोण का अन्तर है। इसी के परिणाम स्वरूप अन्यों के कर्म कर्माशय को उत्पन्न करते हैं जबकि जीवन्मुक्त के नहीं।

जीवन्मुक्त के प्रारब्ध कर्मों के भोग द्वारा जब क्षय हो जाता है तब साधक शरीर त्याग कर विदेह कैवल्य का लाभ करता है। अणिमा सेन लिखती हैं कि चित्त के अपने कारण में लीन हो जाने पर पुरुष सदा सर्वदा के लिए शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है, विदेह मुक्ति है।[5]

धर्ममेघ समाधि में जो विवेक ख्याति रूप सात्विक वृत्ति होती है, उसके प्रति वैराग्य हो जाने पर परवैराग्य कहा जाता है, और इस परवैराग्य के फलस्वरूप साधक असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ करता है। इस समाधि के द्वारा प्रारब्ध कर्मों का तत्काल ही क्षय हो जाता है अर्थात् उन्हें भोगने

१– अत्र जीवन्मुक्तस्य सवासक्लेशाप्यन्तदाहनिर्णयाद् आधुनिक वेदान्ति नामविद्याक्लेशस्वीकारोऽविद्या मूलक एवेतिस्मर्त्तव्यम्। –योग वाशिष्ठ, पृ०स० ४५६

२– अस्य भवस्थाया जीवन्मुक्त इत्युच्यते– योग सार संग्रह, पृ०सं० १७

३– क्लेश कर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति –व्याकरण भाष्य, पृ०सं० ४५५

४– क्लेशकर्मवासनेद्धः किल कर्माशयो जात्यादि निदानम्। न चासति निदाने भवितुमर्हति। – त०वै०, पृ०सं०४५५

५– As soon as chitta gets merged in the gunas, the vital function tll stops automatically and the yogin is separated for ever from the body. This is the stage of videhnaukti according to samakhya yoga —Anima Sen, S&A. V.P. 106

की आवश्यकता नहीं रहती, ऐसा विज्ञानभिक्षु का मत है।[1] अन्य स्थल पर वह लिखते हैं कि असम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात ही मोक्ष का होना नियमित एवं निश्चित है जबकि उसके बिना कर्मों के फल भोग मे समय लगने से मोक्ष में विलम्ब हो सकता है। अतः उनका मत है कि असम्प्रज्ञात समाधि के बिना भी कैवल्य की प्राप्ति जीवन्मुक्ति के पश्चात् हो सकती है।

जीवों का बन्धन अविद्या और कर्म के कारण है। बन्ध और मोक्ष दोनों वास्तवकि हैं। कर्म के कारण जीव का देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि से सम्बद्ध होता है और यही उसका बन्धन है। शुद्ध चेतन जीव कर्म में क्यों फँसता है? इसका कोई उत्तर नहीं है शिवाय इसके कि कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध अनादि है। मोक्ष के लिए जीव को इस कर्म–मल को सर्वथा नष्ट करना आवश्यक है। ज्ञान कर्मसमुच्चय इसमें सहायक है। सत्कर्मचित्त को शुद्ध करते हैं। ज्ञान से चित्त, अचित्त और ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। रामानुजाचार्य के अनुसार परज्ञान और पराभक्ति एक ही है।[2] और यही मोक्ष का कारण है। रामानुजाचार्य के अनुसार भक्ति का अर्थ है प्रपत्ति और ध्रुवास्मृति इस भक्ति का चरम उत्कर्ष भगवद्नुग्रह से भगवान के साक्षात् अनुभव में होता है। यही पराभक्ति है, यही परज्ञान है यही ब्रह्म साक्षात्कार ही, यही मोक्ष है।[3]

भगवद्कृपा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय और ध्रुवास्मृति की भगवद्साक्षात्कार में परिणति एक साथ होती है। रामानुजाचार्य जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि जब तक शरीर है तब तक कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नहीं हो सकता। मुक्त जीव का ब्रह्म में विलय नहीं होता। मुक्त जीव का ब्रह्म के साथ स्वरूपैक्य या एकात्म्य सम्भव नहीं है। अविद्या तथा कर्म की निवृत्ति हो जाने पर भी जीवात्मा का स्वरूप नाश नहीं होता; उसकी सत्ता बनी रहती है, क्योंकि वह नित्य

१– असम्प्रज्ञात योगस्तु अखिलवासनाक्षयेण प्रारब्धातिक्रमद्वारा झटिति स्वेच्छया मोक्ष एवोपयुज्यते न तु नियमेनेति प्रागेवोक्तम। – यो० सार संग्रह, पृ०सं० १७

२– भवतुमम् परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा। – श्री भाष्य, मङ्गलाचरण। उद्धृत–भारतीय दर्शन, आलोचन एवं अनुशीलन, पृ०सं० ३०६

३– भारतीय दर्शन, आलोचन एवं अनुशीलन, पृ०सं० ३०६–०७

तत्त्व है। मुक्त जीव ईश्वर का शुद्ध अड्.ग बनकर ईश्वर के समान हो जाता है। उसका ज्ञान और आनन्द का ही अनुभव करता है। वह ब्रह्म प्रकार या ब्रह्म समान हो जाता है। यह सायुज्य मुक्ति है, जो वैष्णव मुक्ति के चतुर्विध रूपों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य में सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि मुक्त जीव और ईश्वर के ज्ञान और आनन्द में कोई अन्तर नहीं है, तथापि दोनों में अन्य भेद बने रहते हैं। मुक्त जीव अणुरूप है, ईश्वर भिक्षु है। मुक्त जीव ईश्वर का अड्.ग और शरीर है। मुक्त जीव ईश्वर के समान अर्न्तर्यामी नहीं है और न उसमें ईश्वर के समान, सृष्टि का कर्ता, धर्ता संहर्ता होने की शक्ति है, तथा न ही उसमें निग्रह और अनुग्रह की शक्ति है।

मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। आत्मा या ब्रह्म नित्य, शुद्ध, चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ओर मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। जिस प्रकार भगवान बुद्ध के अनुसार ब्रह्म और मोक्ष एक ही हैं। जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[1] इस श्रुति वाक्य के अनुसार ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म भाव एक हैं। वस्तुतः जीव ब्रह्म 'होता' या 'बनता' नहीं है, ब्रह्म ज्ञान में कोई क्रिया नहीं है क्योंकि जीव सदैव ब्रह्म है। बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्याजन्य है। जब बन्धन वास्तविक नहीं है तो मोक्ष के वास्तविक होने का प्रश्न नहीं उठता। जीव का जीवत्व अविद्या के कारण है। अविद्या के कारण जीव देहेन्द्रियान्त कारणादि से तादात्म्य कर लेता है अहड्.कार–ममकार युक्त होकर स्वयं को शुभाशुभ कर्मों का कर्ता, सुख–दुःख रूपी कर्मफल का भोक्ता मानकर जन्म मरण चक्र में संसरण करता है। यही उसका बन्धन है। जब आत्मज्ञान द्वारा अविद्या निवृत्त हो जाती है, तो जीव नित्य शुद्ध–बुद्ध, मुक्त ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है। यह उसकी बन्धन से मुक्ति है। किन्तु ब्रह्मात्म्यैक्य के त्रिकाल सिद्ध और नित्य होने के कारण जीव का न तो बन्धन होता है और न मोक्ष। केवल अविद्या ही आती है और अविद्या ही जाती है, और अविद्या भ्रान्ति है, अतः उसका आवागमन, उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों भ्रांतिरूप है। बन्धन और मोक्ष दोनों व्यावहारिक हैं, तथा परमार्थतः मिथ्या हैं। यद्यपि भ्रम की

१– ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। – मुण्डक उपनिषद ३/२/६

अवस्था से भ्रम निवारक ज्ञान की अवस्था में आने में समय का अन्तर होता है, क्योंकि भ्रम की अवस्था पूर्वकालिक और भ्रम निवृत्ति की अवस्था उत्तर कालिक होती है, तथापि भ्रम–पदार्थ के त्रिकाल में असत् होने के कारण भ्रम और उसकी निवृत्ति को काल–सापेक्ष नहीं माना जा सकता। भ्रम और उसकी निवृत्ति दोनों अन्ततः मिथ्या हैं। अधिष्ठान का ज्ञान और भ्रम–निवृत्ति, एक साथ होती है, और दोनों एक ही हैं। ब्रह्म साक्षात्कार, अविद्या–निवृत्ति प्रपञ्च–विलय और मोक्ष प्राप्ति–ये सब एक हैं। 'ये एक साथ होते हैं, यह कथन भी उपचार मात्र है, क्योंकि यहाँ कोई 'होना' या क्रिया नहीं है। अविद्या–निवृत्ति और ब्रह्म भाव मोक्ष में कार्यान्तर नहीं है।[१] आत्म ज्ञान मोक्ष को फल या कार्य के रूप में उत्पन्न नहीं करता। मोक्ष प्रतिबन्ध रूप अविद्या की निवृत्ति मात्र ही आत्म–ज्ञान का फल है।[२] ज्ञान वस्तु तन्त्र और प्रकाशक या ज्ञापक होता है, कारक नहीं, क्योंकि ज्ञान क्रिया नहीं है। अतः ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्तिमात्र है, जो ज्ञान के प्रकाश से स्वतः हो जाती है। जैसे प्रकाश से अन्धकार की निवृत्ति होती है। मोक्ष नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा या ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है। मोक्ष या ब्रह्म हेय और उपादेय रहित है, मोक्ष में न कुछ खोना है न पाना है।[३] मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान भी अविद्याजन्य है। मोक्ष किसी अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति नहीं है; मोक्ष आत्म भाव है, जो सदा प्राप्त है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष के तीन लक्षण हैं –

१– मोक्ष अविद्या निवृत्ति है।

२– मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्म साक्षात्कार है।

३– मोक्ष नित्य अशरीरत्व है।[४]

१– श्रुतयो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। – शा० भाष्य, १/१/४

२– मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्। – शा० भाष्य, वहीं।

३– हेयापादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमात्। – शा० भा०, १/१/५

४– (क) अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः।

(ख) ब्रह्मभावश्च मोक्षः।

(ग) नित्यमशरीररत्वं मोक्षाख्यम्। – शा० भा० वही,।

आचार्य ने मोक्ष का अत्यन्त सुन्दर निरूपण इस प्रकार किया है– यह पारमार्थिसत् है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विकार से रहित है, नित्य तृप्त हैं, निरवयव है, स्वय ज्योति स्वभाव है, यह धर्म और अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मों तथा (सुख–दुःख रूपी) उनके कर्मों से स्पष्ट है, यह कालत्रयातीत है, यह अशरीरत्व मोक्ष कहलाता है।[१]

मोक्ष पारमार्थिक सत् है। बन्धन और मोक्ष अविद्याकृत होने से सापेक्ष और मिथ्या है, किन्तु परब्रह्म या परमात्मतत्त्व के रूप मे मोक्ष पारमार्थिक सत् है। यहॉ आचार्य को बन्धन–सापेक्ष मोक्ष अभिप्रेत नहीं है। आचार्य के अनुसार ब्रह्म ही मोक्ष अर्थात नित्य मुक्त परमार्थ है। यह कूटस्थ नित्य है क्योकि इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन परिणाम या विकार सम्भव नहीं है। यह परिणाम नित्य नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रकार का परिणाम इसकी नैसर्गिक शुद्धता को नष्ट कर सकता है। यह अनन्त और सर्वव्यापी भूतवस्तु है। यह कारण कार्य भाव के पार हैं, क्योंकि यह सब प्रकार के विकारों से रहित है। यह नित्य तृप्त है अर्थात आप्तकाम है, तथा नित्य अखण्डानन्द है। यह ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान या वेदक–वेद्य–वेदना त्रिपुटी के पार है। अतः इसका ज्ञान और आनन्द स्वसम्वेद्य नहीं है। यह स्वयं शुद्ध, चैतन्य और आनन्द है। यह अद्वैत, निरवयव और अखण्ड है। यह स्वयं ज्योति या स्वप्रकाश है। यह स्वतः सिद्ध है। यह दिक्कालातीत है। यह अविद्या कर्म (धर्म और अधर्म), फल (सुख और दुःख) और शरीरेन्द्रिय–विषयादि से सर्वथा अस्पृष्ट है। यह लौकिक, सुख–दु.खातीत है। इसका आनन्द लौकिक सुख नहीं है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अविद्याजन्य है, देहाध्यास के कारण है, मिथ्या ज्ञान निमित्त है। अतः अविद्या–निवृत्त होने पर देहाध्यास भी निवृत्त हो जाता है, तथा शरीर के रहने पर भी शरीर सम्बन्ध की आत्यन्तिक निवृत्ति के कारण अशरीरत्व सिद्ध होता है, एवं जीवन्मुक्त सिद्ध होती है। यह स्वातन्त्र्य है, स्वराज्य है, अभयपद है और परम पुरुषार्थ है।

१– इदं तु पारमार्थिक, कूटस्थनित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं स्वय ज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मो सहकार्येण, कालत्रय च नोपावर्तेत तदेतत् अशरीरत्व मोक्षाख्यं। शा० भा० वही।

मोक्ष कार्य या उत्पाद्य नहीं है। मोक्ष को किसी कारण द्वारा उत्पन्न कार्य नहीं माना जा सकता। मोक्ष न तो कर्म का फल है, और न उपासना का फल है। मोक्ष को कार्य या उत्पाद्य मानने पर वह निश्चित रूप से अनित्य होगा । मोक्ष में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्ति मोक्ष को नित्य मानते है।[1] मोक्ष नित्य आनन्द है, और लौकिक (सांसारिक) तथा परलौकिक (स्वर्गिक) सुखों से भिन्न एवं अत्यन्त उत्कृष्ट है। लौकिक एवं स्वर्गिक सुख कर्म जन्य है, वे सत्कर्म या धर्म की पुण्य नामक शक्ति से उत्पन्न होते हैं।तथा पुण्य समाप्त हो जाने पर वे सुख भी समाप्त हो जाते हैं।[2] स्वर्गिक सुख भले ही चिरस्थाई हो, किन्तु है विनाशशील और अनित्य। यदि मोक्ष को कर्म या उपासना द्वारा उत्पन्न माना जाय तो वह निश्चित ही नश्वर और अनित्य होगा, भले ही उसे लौकिक या स्वर्गिक सुखों से अधिक चिरस्थाई और श्रेष्ठ माना जाये। मोक्ष को ब्रह्म–ज्ञान द्वारा उत्पन्न फल भी नहीं स्वीकार किया जा सकता । प्रथम तो, कार्य होने से मोक्ष अनित्य होगा, और द्वितीय ज्ञान प्रकाशक है, कारक नहीं। ब्रह्म–ज्ञान केवल मोक्ष–प्रतिबन्ध भूत अविद्या को निवृत्त करता है, मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता। ब्रह्म–ज्ञान, अविद्या–निवृत्ति और मोक्ष एक ही है, और एक साथ होते हैं एवं उनमें कार्यान्तर नहीं होता। 'एक साथ होते है', यह कथन भी उपचार मात्र है, क्योंकि वस्तुतः वे एक ही हैं। उपासना या ध्यान के समान, शुद्ध ज्ञान, मानसी क्रिया नहीं है। यह अपरोक्ष अनुभव या प्रकाशमात्र है। वेदान्त–शास्त्र इदं तया, विषयभूत, ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्या कल्पित वेदक–वेद्य–वेदना की त्रिपुटी के पार स्वानुभूति–गम्य बताता है।[3] आत्म ज्ञान का फल मोक्ष–प्रतिबन्धक अविद्या की निवृत्ति मात्र है।[4]

---

१. नित्यश्च मोक्षः सर्वमोक्षवादिभिरूपगम्यत।

२. यावत् सम्पातमुषित्वा। क्षीणे–पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। शा० भा०

३– शारीरिक भाष्य, १–१–४

४– मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्ति मात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्–शा० भा०।

मोक्ष कार्य या उत्पाद्य नहीं है। वह विकार्य या कारण का विकार भी नहीं है क्योंकि कार्य और विकार्य दोनों अनित्य होते हैं। वह संस्कार्य भी नहीं है, क्योंकि उसमें गुणाधान या दोषापनयन रूपी संस्कार सम्भव नहीं है वह तो स्वभाव से ही नित्य विशुद्ध है। वह आप्य या प्राप्य भी नहीं है, क्योंकि वह अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है, अपितु सदा प्राप्त है।

जीवन्मुक्त सिद्ध है। मोक्ष मृतकों के लिए आरक्षित नहीं है। उसे यहीं इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है।[१] मोक्ष नित्य अशरीरत्व है। स्थूल शरीर पञ्चभौतिक है, सूक्ष्म शरीर इन्द्रियान्तः करणादिनिर्मित है; कारण शरीर अविद्या और कर्म संस्कार निमित्त है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्म और कारण शरीर जीव के साथ लगे रहते हैं, और उसे पुनर्जन्म हेतु बाध्य करते हैं। मोक्ष अशरीरत्व अर्थात् त्रिविधशरीरसम्बन्धराहित्य है, नित्य अशरीरत्व आत्मा का स्वभाव है। अविद्या के कारण आत्मा पर शरीरादि का अध्यास होता है। जिससे शरीरादि में आसक्ति होती है। अध्यास भ्रान्ति है, और अधिष्ठान रूप आत्मा के साक्षात् ज्ञान से सर्वदा के लिए निवृत्त हो जाती है। आत्मा और शरीर का तादात्म्य मिथ्या है, भ्रान्ति हैं, अध्यास है। अतः अधि ष्ठान भूत आत्मसाक्षात्कार से अविद्या–निवृत्ति होते ही शरीर के रहने पर भी अशरीरत्व या जीवन्मुक्ति सिद्ध है।[२] इस शरीर को सुख–दुःख स्पर्श नहीं करते है।[३] जिस प्रकार सर्प की अपनी केंचुल उतार फेंकने पर उसमें कोई आसक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार जीवन्मुक्त की अपने शरीर में कोई आसक्ति नहीं रहती, क्योंकि वह अशरीर अमृत ब्रह्म ही है।[४] जिस प्रकार मदिरामदान्ध व्यक्ति को यह बुद्धि और चिन्ता नही रहती, कि उसका वस्त्र उसके शरीर पर है या गिर रहा है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त सिद्ध को यह बुद्धि और चिन्ता नहीं रहती कि उसका नश्वर शरीर पड़ा है

१– अत्र ब्रह्मसमश्नुत्ते। इहैव तदाप्नोति। अभय प्राप्तोऽसि।

२– तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् – शा० भा०, १–१–११

३– अशरीर वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। – छान्दोग्य उप०, ८–१२–१

४– अथायम् अशरीरोऽमृतः ब्रह्मैव। – वृहदारण्यक उप० ४–४–७

या खड़ा है।[1] जिस प्रकार कुम्हार का चाक, उसके हाथ हटा लेने पर भी पूर्व वेग के कारण कुछ देर घूमता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर प्रारब्ध कर्म के कारण कुछ समय तक बना रहता है किन्तु इस अविद्या में नवीन कर्म संचय नहीं होता। प्रारब्ध कर्म नष्ट होने पर देहपात होकर विदेह मुक्ति होती है।

चूँकि शिव पुराण में शिव की महिमा बताई गई है। अतएव ध्यान के लिए भी शिव का ही ध्यान बतलाया गया है। जबकि ध्यान किसी भी वस्तु पर केन्द्रित किया जा सकता है। जब स्थूल रूप में ध्यान लगाया जाता है, तब चित्त निश्चल हो जाता है, तब सूक्ष्म रूप में वह स्थिर होता है। ईश्वर का ध्यान चिन्तन करने पर सब सिद्धियॉ प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती हैं। जिस–जिस रूप में मन की स्थिरता लक्षित हो, उसी का बार–बार ध्यान करें। ध्यान पहले सविषय होता है फिर निर्विषय होता है। इस विषय पर कुछ लोगों का मत है कि कोई भी ध्यान निर्विषय होता ही नहीं। बुद्धि की ही कोई प्रवाह रूपा सन्तति ध्यान कहलाती है, इसलिए निर्विषय बुद्धि केवल–निर्गुण निराकार ब्रह्म में ही प्रवृत्त होती है।

अत. सविषय ध्यान प्रातः काल के सूर्य की किरणों के समान ज्योति का आश्रय लेने वाला है, तथा निर्विषय ध्यान सूक्ष्म तत्त्व का अवलम्बन करने वाला है इन दो के सिवा और कोई ध्यान वास्तव में नहीं है, अथवा सविषय ध्यान साकार स्वरूप का अवलम्बन करने वाला है, तथा निराकार स्वरूप का जो बोध या अनुभव है, वही निर्विषय ध्यान माना गया है। वह सविषय और निर्विषय ध्यान ही क्रमशः सबीज और निर्बीज कहा जाता है। निराकार का आश्रय लेने से उसे निर्बीज और साकार का आश्रय लेने से सबीज की संज्ञा दी गई है। अतः पहले सविषय या सबीज का ध्यान करके अन्त में सब प्रकार की सिद्धि के लिए निर्विषय अथवा निर्बीज ध्यान करना चाहिए। प्राणायाम करने से क्रमशः शान्ति आदि दिव्य सिद्धियाँ सिद्ध होती है। उनके नाम हैं–शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति

१– देहं च नश्वरम वस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्। दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासोयथा परिकृतं मदिरामदान्धह।। – भागवत, ११–१३–३६

और प्रसाद। समस्त आपदाओं के शमन को ही शान्ति कहा गया है। तम (अज्ञान) का बाहर और भीतर से नाश ही प्रशान्ति है। बाहर और भीतर जो ज्ञान का प्रकाश होता है, उसका नाम दीप्ति है तथा बुद्धि की जो स्वस्थता (आत्मनिष्ठता) है, उसी को प्रसाद कहा गया है। बाह्य और आभ्यन्तर सहित जो समस्त कारण हैं, वे बुद्धि के प्रसाद से शीघ्र ही प्रसन्न (निर्मल) हो जाते हैं।

ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यानप्रयोजन इन चार को जानकर ध्यान करने वाला पुरुष ध्यान करे। जो ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न हो, सदा शान्त चित्त रहता हो श्रद्धालु हो, और जिसकी बुद्धि प्रसाद गुण से युक्त हो, ऐसे साधक को ही सत्पुरूषों ने ध्याता कहा है। 'ध्यै चिन्तायाम' यह धातु है। इसका अर्थ है चिन्तन। किसी भी व्यक्ति का सतत् चिन्तन ही ध्यान कहलाता है। जैसे–थोड़ा सा भी योगाभ्यास पाप का नाश कर देता है, उसी तरह क्षणमात्र भी करने वाले पुरुष के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। श्रद्धा पूर्वक विक्षेप–रहित चित्त से परमेश्वर का जो चिन्तन है, उसी का नाम 'ध्यान' है। बुद्धि के प्रवाह रूप ध्यान का जो आलम्बन या आश्रय है, उसी को साधु पुरुष 'ध्येय' कहते है। स्वयं साम्ब सदाशिव ही वह ध्येय है। मोक्ष–सुख का पूर्ण अनुभव और अणिमा आदि ऐश्वर्य की उपलब्धि–ये पूर्ण शिवध्यान के साक्षात् प्रयोजन कहे गए हैं। ध्यान से सौख्य और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है, इसलिए मनुष्य को सब कुछ छोड़कर ध्यान में लग जाना चाहिए। बिना ध्यान के ज्ञान नहीं होता और जिसने योग का साधन नहीं किया है, उसका ध्यान नहीं सिद्ध होता। जिसे ध्यान और ज्ञान दोनों प्राप्त हैं, उसने भवसागर को प्राप्त कर लिया है। समस्त उपाधियों से रहित, निर्मल ज्ञान और एकाग्रता पूर्ण ध्यान–ये योगाभ्यास से युक्त योगी को ही सिद्ध होते हैं। जिनके समस्त पाप नष्ट हो गए हैं, उन्हीं की बुद्धि, ज्ञान और ध्यान में लगती है। जिनकी बुद्धि पाप से दूषित है, उनके लिए ध्यान और ज्ञान की बात भी अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे–प्रज्वलित हुई आग सूखी और गीली लकड़ी को भी जला देती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि शुभ और अशुभ

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ७०४

कर्म को भी क्षण भर में दग्ध कर देती है। जैसे–बहुत छोटा दीपक भी महान अन्धकार का नाश कर देता है, इसी तरह थोडा सा योगाभ्यास भी महान पाप का विनाश कर डालता है। श्रद्धापूर्वक क्षण भर भी परमेश्वर का ध्यान करने वाले पुरुष को जो महान श्रेय प्राप्त होता है, उसका कहीं अन्त नहीं है।[1]

ध्यान के समान कोई तीर्थ नहीं है, ध्यान के समान कोई तप नहीं है, और ध्यान के समान कोई यज्ञ नहीं हैं, इसलिए ध्यान अवश्य करना चाहिए।[2] अपने आत्मा एवं परमात्मा का बोध प्राप्त करने के कारण योगीजन केवल जल से भरे हुए तीर्थों और पत्थर एवं मिट्टी की बनी हुई देवमूर्तियों का आश्रय नहीं लेते। जैसे–अयोगी पुरुषों को मिट्टी और काठ आदि की बनी हुई स्थूल मूर्तियों का प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह योगियों को ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। जैसे–राजा को अपने अन्तःपुर में विचरने वाले स्वजन एवं परिजन प्रिय होते हैं और बाहर के लोग उतने प्रिय नहीं होते, उसी प्रकार भगवान शंकर को अन्तः करण में ध्यान लगाने वाले भक्त ही अधिक प्रिय हैं, बाह्य उपचारों का आश्रय लेने वाले कर्म काण्डी नहीं। जैसे–लोक में यह देखा गया है कि बाहरी लोग राजा के भवन में राजकीय पुरुषोचित्त फल का उपभोग नही कर पाते, केवल अन्तःपुर के लोग ही फल के भागी होते हैं, उसी प्रकार यहाँ बाह्य कर्मी पुरुष उस फल को नहीं पाते, जो ध्यान योगियों को सुलभ होता है। ज्ञान योग की साधना के लिए उद्यत हुआ पुरुष यदि बीच में ही मर जाय तो भी योग के लिए उद्यत करने मात्र से रुद्र लोक में जायेगा। योग का जिज्ञासु पुरुष भी जिस गति को जाता है उसे यज्ञ कर्ता सम्पूर्ण महायज्ञों

१– यथा वह्निर्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं निर्दहेत्। तथा शुभाशुभं कर्म ध्यानाग्निर्दहते क्षणत्।।
ध्यायतः क्षणमात्रं व श्रद्धया परमेश्वरम्। यद्भवेत् समुहच्छ्रेयस्तस्यान्तो नैव विद्यते।।
(शि०पु० वा० स० उ० ख० ३६/२५/२७)

२– नास्ति ध्यान सम तीर्थं नास्ति ध्यानसम तपः।
नास्ति ध्यानरूपो यज्ञस्तस्माद्ध्यान समाचरेत्।।
(शि०पु० वा० स० उ० ख० ३६/२८)

का अनुष्ठान कर नहीं पाता। करोड़ों वेदवेत्ता द्विजों की पूजा करने से जो फल मिलता है, वह सारा फल योगियों को अन्न देने मात्र से प्राप्त हो जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति हेतु अपनाए जाने वाले उपायों के लिए भी पुराणों में चर्चा मिलती है। शिव पुराण में उद्धृत है कि जब दूसरी वृत्तियों का विरोध हो गया हो, ऐसे चित्त की जो निश्चल वृन्ति है, वही संक्षेप में योग कहा जाता है। वह योग पाँच प्रकार का है– मंत्रयोग, स्पर्श योग, भावयोग, अभाव योग और महायोग। मन्त्र जप के अभ्यास और मन्त्र के वाच्यार्थ में स्थित हुई विक्षेपरहित जो मन की वृत्ति है, उसका नाम मंत्रयोग है। मन की वही वृत्ति जब प्राणायाम को प्रधानता दे तो उसका नाम 'स्पर्श योग' होता है। वही स्पर्शयोग जब मन्त्र के स्पर्श से रहित हो तो 'भावयोग' कहलाता है, जिससे सम्पूर्ण विश्व के रूपमात्र का अवयव विहीन (तिरोहित) हो जाता है, उसे अभावयोग कहा गया है, क्योंकि उस समय सद्वस्तु का भी भान नहीं होता। जिससे एक मात्र उपाधि शून्य शिव–स्वभाव का चिन्तन किया जाता है, और मन की वृत्ति शिवमयी हो जाती है, उसे 'महायोग' कहते है।[1]

लौकिक और पारलौकिक विषयों की ओर से जिसका मन विरक्त हो गया हो उसी का योग में अधिकार है, दूसरे किसी का नहीं है। लौकिक और पारलौकिक दोनों विषयों के दोषों का और ईश्वर के गुणों का सदा ही दर्शन करने से मन विरक्त होता है। प्रायः सभी योग आठ या छः अड्.गों से युक्त होते हैं। यम, नियम, स्वस्तिक आदि, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये विद्वानों द्वारा योग के आठ अड्.ग़ बताये गये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन्हें यम कहा गया है। इस प्रकार यम पाँच अवयवों के योग से युक्त है। शौच, संतोष, जप, तप (स्वाध्याय) और प्रणिधान इन पॉच भेदों से युक्त दूसरे योगाड्.ग को नियम कहा गया है। तात्पर्य यह है कि नियम अंशों के भेद से पॉच प्रकार का है। आसन के आठ भेद कहे गये हैं– स्वास्तिक आसन, पद्मासन, अर्धचन्द्रासन, वीरासन, योगासन, प्रसाधितासन,

---

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० सं० ६६६

पर्यङ्.कासन और अपनी रुचि के अनुसार आसन।[1] अपने शरीर में प्रकट हुई जो वायु है, उसको प्राण कहते हैं। उसे रोकना ही उसका आयाम है। इस प्राणायाम के तीन भेद कहे गये हैं–रेचक, पूरक और कुम्भक्। नासिका के एक छिद्र को दबाकर या बन्द करके दूसरे से उदर स्थित वायु को बाहर निकाले। इस क्रिया को रेचक कहा गया है। फिर दूसरे नासिका–छिद्र के द्वारा बाह्य वायु से शरीर को धौकनी की भांति भर लें। इसमें वायु के पूरण की क्रिया होने के कारण इसे 'पूरक' कहा गया है। जब साधक भीतर की वायु को न तो छोड़ता है और न बाहर की वायु को ग्रहण करता है, केवल भरे हुए घडे की भॉति अविचल भाव से स्थित रहता है, तब उस प्राणायाम को 'कुम्भक' नाम दिया जाता है। योग की साधना करने वाले को चाहिए कि वह रेचक आदि तीनों प्राणायामों को न तो बहुत जल्दी–जल्दी करे न बहुत देर से करे।[2]

रेचक आदि में नाडी शोधन पूर्वक जो प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है, उसे स्वेच्छा से उत्क्रमण करते रहना चाहिए–यह बात योग शास्त्र में बताई गई है। कनिष्ठ आदि के क्रम से प्राणायाम चार प्रकार का कहा गया है। मात्रा और गुणों के विभाग–तारतम्य से ये भेद बनते हैं। चार भेदों में से जो कन्यक या कनिष्ठ प्राणायाम है, यह प्रथम उद्घात[3] कहा गया है, इसमें बारह मात्राएँ होती है। उससे भी श्रेष्ठ जो सर्वोत्कृष्ट चतुर्थ[4] प्राणायाम है, वह शरीर में स्वेद और कम्प आदि का जनक होता है।

१– संक्षिप्त शिव पुराण, हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६६६

२– स० शि० पु० वही, पृ०स० ६६६

३– उद्घात का अर्थ नाभिमूल से प्रेरणा की हुई वायु का सिर में टक्कर खाना है। यह प्राणायाम में देश, काल और संख्या का परिमाण है।

४– योग सूत्र मे चतुर्थ प्राणायाम का परिचय इस प्रकार दिया गया है–बाह्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर विषयों को फेंकने वाला प्राणायाम चौथा है।

–उद्धृत–शिव पुराण, अनूदित–वही, पृ०स० ६६६

योगी के अन्दर आनन्द जनित रोमाञ्च नेत्रों से अश्रुपात, जल्प, भ्रान्ति और मूर्च्छा आदि भाव प्रकट होते हैं। घुटने के चारों ओर प्रदक्षिणक्रम से न बहुत जल्दी और न बहुत धीरे–धीरे चुटकी बजाएँ। घुटने की एक परिक्रमा में जितनी देर तक चुटकी बजती है, उस समय का मान एक मात्रा है। उद्घात क्रम योग से नाड़ी शोधन–पूर्वक प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम के दो भेद बतलाए गए हैं– अगर्भ और सगर्भ। जप और ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है, और जप तथा ध्यान के सहयोग पूर्वक किए जाने वाले प्राणायाम को 'सगर्भ' कहते हैं। जब शरीर में कम्प पैदा हो तो मन में बडे भारी पर्वत को धारण करे। बोलने में रुकावट होने पर वाग्देवी की, बहरापन आने पर श्रवण शक्ति को धारण करे। इसी प्रकार प्यास से पीड़ित होने पर ऐसी धारणा करे कि जिह्वा पर आम का फल रखा हुआ है और उससे रस मिल रहा है। तात्पर्य यह है कि जिस–जिस अङ्ग में रोग पैदा हो, वहाँ–वहाँ उसमें लाभ पहुँचाने वाली धारणा करे। गर्मी में सर्दी की और सर्दी में गर्मी की धारणा करे। धारणा के द्वारा ही अपने मस्तक पर काठ की कील रखकर दूसरे काष्ठ के द्वारा उसे ठोंकने की भावना करे। इससे योगी की लुप्त हुई अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम सौ गुना अधिक उत्तम है। इसलिए योगी जन प्रायः सगर्भ प्राणायाम किया करते हैं। प्राण विजय से ही शरीर की वायुओं पर विजय पाई जाती है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाम, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय– ये दस प्राण वायु है। प्राण प्रयाण करता है, इसलिए इसे प्राण कहते हैं। जो कुछ भोजन किया जाता है, उसे जो वायु नीचे ले जाती है, उसको अपान कहते हैं। जो वायु सम्पूर्ण अङ्गों को बढ़ाती हुई उनमें व्याप्त रहती है, उसका नाम 'व्यान' है। जो वायु मर्मस्थानों को उद्वेलित करती है, उसकी 'उदान' संज्ञा है। जो वायु सब अङ्गों को समभाव से ले चलती है, वह अपने उस समनयन रूप कर्म से 'समान' कहलाती है। मुख से कुछ उगलने में कारणभूत वायु को नाग कहा गया है। आँख खोलने के व्यापार में 'कूर्म' नामक वायु की स्थिति है। छींक में कृकल और जँभाई में 'देवदत्त' नामक वायु की स्थिति है। धनंजय नामक वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। वह मृतक शरीर को भी नहीं छोडती। क्रम से अभ्यास में लाया हुआ यह

प्राणायाम जब उचित प्रमाण या मात्रा से युक्त हो जाता हैं, तब वह कर्त्ता के सारे दोषों को दग्ध कर देता है और उसके शरीर की रक्षा करता है।[1]

प्राण पर विजय प्राप्त हो जाये तो उससे प्रकट होने वाले चिह्नों को भली–भाँति देखे। पहली बात तो यह होती है कि विष्ठा, मूत्र और कफ की मात्रा घटने लगती है, अधिक भोजन करने की शक्ति हो जाती है और विलम्ब से साँस चलती है। शरीर में हल्कापन आता है, शीघ्र चलने की शक्ति प्रकट होती है, हृदय में उत्साह बढ़ता है, स्वर में मिठास आती है, समस्त रोगों का नाश हो जाता है। बल, तेज और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। घृति, मेधा और युवापन, स्थिरता और प्रसन्नता आती है। तप, प्रायश्चित, यज्ञ, दान और व्रत आदि जितने भी साधन है—ये प्राणायाम के सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं है। अपने–अपने विषय में आसक्त हुई इन्द्रियों को वहाँ से हटाकर जो अपने भीतर निगृहीत करता है, उस साधन को 'प्रत्याहार' कहते हैं। मन और इन्द्रियाँ मनुष्य को स्वर्ग तथा नरक में ले जाने वाली हैं। यदि उन्हें वश में रखा जाये तो वे स्वर्ग की प्राप्ति कराती हैं, और विषयों की ओर खुली छोड़ दिया जाय तो वे नरक में डालने वाली होती हैं। इसलिए सुख की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान पुरुषों को चाहिए कि वह ज्ञान, वैराग्य का आश्रय ले। इन्द्रिय रूपी अश्वों को शीघ्र ही काबू में करके स्वयं ही आत्मा का उद्धार करे।[2]

चित्त को किसी स्थान–विशेष में बाँधना किस ध्येय–विशेष में स्थिर करना—यही संक्षेप में धारणा का स्वरूप है। एक मात्र शिव ही स्थान हैं, दूसरा नहीं, क्योंकि दूसरे स्थानों में त्रिविध दोष विद्यमान हैं। किसी नियमित काल तक स्थान स्वरूप शिव में स्थापित हुआ मन जब लक्ष्य से च्युत न हो तो धारणा की सिद्धि समझना चाहिए अन्यथा नहीं। मन पहले धारणा से स्थिर होता है, इसलिए धारणा के अभ्यास से मन को धीर बनाए। ध्यान में 'ध्यै चिन्तायाम' यह धातु माना गया है। इसी धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'ध्यान' की सिद्धि होती है; अतः विक्षेप रहित चित्त से जो

१– सक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६६८
२– सक्षिप्त शिव पुराण, अनुदित, वही, पृ०सं०, ६६६

शिव का बारम्बार चिन्तन किया जाता है, उसी का नाम 'ध्यान' है। ध्येय में स्थित हुए चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति होती है और बीच में दूसरी वृत्ति अन्तर नहीं डालती उस ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह रूप से बना रहना 'ध्यान' कहलाता है। इस ध्यान के दो प्रयोजन बतलाए गए हैं—पहला है मोक्ष और दूसरा प्रयोजन है अणिमादि सिद्धियों की उपलब्धि। ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान—प्रयोजन—इन चारों को अच्छी तरह जानकर योगवेत्ता पुरुष योग का अभ्यास करे जो ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न, श्रद्धालु, क्षमाशील, ममता रहित तथा सदा उत्साह रखने वाला है। ऐसा ही पुरुष ध्याता कहा गया है अर्थात् वही ध्यान करने में सफल हो जाता है।[१]

योगी को हमेशा जप से थकने पर ध्यान करना चाहिए और ध्यान से थकने पर पुनः जप करना चाहिए। इस तरह जप और ध्यान में लगे हुए पुरुष का योग जल्दी सिद्ध होता है। बारह प्राणायामों की एक धारणा होती है, बारह धारणाओं का ध्यान होता है, और बारह ध्यान की एक समाधि कही गयी है। समाधि को योग का अन्तिम अड्.ग कहा गया है। समाधि से सर्वत्र बुद्धि का प्रकाश फैलता है। जिस ध्यान में केवल ध्येय ही अर्थ रूप से भासता है, ध्याता निश्चल महासागर के समान स्थिर भाव से स्थिर रहता है, और ध्यान स्वरूप से शून्य सा हो जाता है उसे 'समाधि' कहते हैं। जो योगी ध्येय चित्त को लगाकर सुस्थिर भाव से उसे देखता है और बुझी हुई आग के समान शान्त रहता है, वह 'समाधिस्थ' कहलाता है। वह न सुनता है, न सूँघता है, न बोलता है, न देखता है, न स्पर्श करता है, न अनुभव करता है, न मन से संकल्प—विकल्प करता है, न उसमें अभिमान की वृत्ति का उदय होता है और न वह बुद्धि के द्वारा ही कुछ समझता है। केवल काष्ठ की भाँति स्थिर रहता है। जैसे—वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक कभी हिलता नहीं है—निस्पन्द बना रहता है, उसी तरह समाधिनिष्ठ शुद्ध चित्त योगी भी उस समाधि से कभी विचलित नहीं होता—सुस्थिर भाव से स्थिर रहता है। इस प्रकार उत्तम योग का अभ्यास करने

१— संक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६६६

वाले योगी के सारे अन्तराय शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण विघ्न भी धीरे–धीरे दूर हो जाते हैं।[1]

गायत्री पुराण में ज्ञान को परम श्रेयस्कर माना गया है। उसी के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है। पुराण में आत्मा को देह से अलग माना गया है, क्योंकि इस पञ्च भौतिक शरीर का पोषण भौतिक पदार्थों से ही होता है। जल और मिट्टी के द्वारा स्थित रहने वाले इस शरीर को प्राणवान तो आत्मा से ही होना है किन्तु आत्मा स्वयं इसमें लिप्त नहीं होता। जब आत्मा शरीर से बाहर हो जाता है तब शरीर में सड़न उत्पन्न हो जाती है। इससे भी स्पष्ट है कि शरीर का सुख नष्ट हो जाने वाला है तब उसके लिए चिन्ता ही क्यों की जाये? मल रहित तथा ज्ञान मय आत्मा ही निर्वाण रूप है दुःख सुख आदि धर्म आत्मा के नहीं, शरीर के ही हैं, किन्तु देह का संसर्ग प्राप्त होने पर अहंकार आदि से दूषित होकर प्रकृति के धर्मों को अपना लेता है, अन्यथा आत्मा तो अव्यय स्वरूप है, उसका इन सांसारिक धर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार जो अविद्या का बीज है उसका निवारण योग के द्वारा ही सम्भव है।[2] योग का अर्थ है–साध्य से जुड़ना। जब परमात्म तत्त्व का आभास होने लगता है, तब योग की सिद्धि सफल होती है, किन्तु योगियों को साधना करते–करते अनेक सिद्धियाँ अनचाहे ही स्वतः प्राप्त होने लगती हैं। वे सिद्धियॉ भी साध्य पक्ष से विचलित करने वाली हैं। उन्हें प्राप्त करके भी साधक की बुद्धि फिरने लगती है। वह सोचता है कि मुझे आकाश में उड़ने की, जल पर चलने की, अग्नि में प्रविष्ट होने की अथवा और भी कोई बड़ी सिद्धि प्राप्त हो गयी है। वह इन सिद्धियों में भी भ्रमित होकर उनका प्रदर्शन करने लगता है किन्तु इससे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। वरन् वे सिद्धियाँ भी बन्धन में डालने वाली ही सिद्ध होती है।[3] इसमें गायत्री की उपासना तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहङ्.कार

१– सक्षिप्त शिव पुराण, अनूदित हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ६६६

२– गायत्री पुराण, अनूदित, केशिध्वज का खाण्डिक्य को गायत्री योगोपदेश, पृ०सं० ४३१

३– गायत्री पुराण वही, पृ०सं० ४३१

आदि का त्याग ही मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है। वही योग प्राप्त कराती है, वही ब्रह्म से योग अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराती है।

संक्षिप्त भविष्य पुराण में मात्र सूर्य की उपासना के द्वारा ही निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त सहज रूप में बतलाया गया है। इसके अलावा अन्य मार्गों को अत्यन्त दुष्कर रूप में सम्बोधित किया गया है। सूर्य की उपासना हेतु सभी प्राणियों को सूर्यवत् समझने के लिए कहा गया है।[१]

मार्कण्डेय पुराण में मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को बताया गया है कि 'सड्.ग' (आसक्ति का सब प्रकार से त्याग करना चाहिए; किन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषों का सड्.ग करना चाहिए; क्योंकि सत्पुरुषों का सड्.ग ही उसकी औषधि है। कामना को सर्वथा छोड़ देना चाहिए; परन्तु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्ति की इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिए, क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामना को मिटाने वाली दवा है।[२]

योगी को ज्ञान की प्राप्ति होकर, जो उसका ज्ञान से वियोग होता है, वही मुक्ति है, और वही ब्रह्म के साथ एकता एवं प्राकृत गुणों से पृथक होना है। मुक्ति होती है, योग से। योग प्राप्त होता है, सम्यक् ज्ञान से, सम्यक् ज्ञान होता है—वैराग्य जनक दुःख से और दुःख होता है ममता के कारण, स्त्री, पुत्र, धन आदि में चित्त की आसक्ति होने से। अतः मुक्ति की इच्छा रखने वाला पुरुष, आसक्ति को दुःख का मूल समझकर, उसे छोड़ दे। आसक्ति न होने पर 'यह मेरा है' ऐसी धारणा दूर हो जाती है। ममता का अभाव सुख का साधक है। वैराग्य से सांसारिक विषयों में दोष का दर्शन होता है। ज्ञान से वैराग्य और वैराग्य से ज्ञान होता है। जहाँ रहना हो, वही घर है। जिससे जीवन चले, वही भोजन है, और जिससे मोक्ष मिले वही ज्ञान बताया गया है। इसके अलावा सब अज्ञान है। पुण्य और पापों को भोग लेने से, नित्य कर्मों का निष्काम भाव से अनुष्ठान

१– संक्षिप्त–भविष्य पुराणाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १४५

२– संक्षिप्त मार्कण्डेय ब्रह्म–पुराणाड्.क– इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर –पृ०स० १२६

करने से, अपूर्व का संग्रह न होने से तथा पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों का क्षय हो जाने से मनुष्य बारम्बार देह के बन्धन में नहीं पडता।[1]

योगियों को पहले आत्मा (बुद्धि) के द्वारा आत्मा (मन) को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि उसको जीतना बहुत कठिन है। अतः उस पर विजय पाने के लिए हमेशा प्रयत्न करना चाहिए। प्राणायाम के द्वारा राग आदि दोषों को, धारणा[2] के द्वारा पाप को, प्रत्याहार[3] के द्वारा विषयों को और ध्यान के द्वारा ईश्वर विरोधी गुणों को हटाएँ जैसे–पर्वतीय धातुओं को आग में तपाने से उनके दोष जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रिय जनित दोष दूर हो जाते हैं। अतः योग के ज्ञाता पुरुष को पहले प्राणायाम ही साधन करना चाहिए जैसे–सिंह, व्याघ्र और हाथी, सेवा के द्वारा कोमल हो जाते हैं, उनकी कठोरता दब जाती है, उसी प्रकार प्राणायाम करने से प्राण योगी के वश में हो जाता है। जैसे–हाथीवान मतवाले हाथी को भी वश में करके उसे इच्छानुसार चलाता है, उसी प्रकार योगी वश में किए हुए प्राण को अपनी इच्छा के अधीन रखता है। जैसे वंश में किया हुआ सिंह केवल मृगों को ही मारता है, मनुष्यों को नहीं। योगाभ्यास में निरन्तर लगे हुए उपवमासन, अर्द्धासन, स्वस्किासन आदि आसनों का भी सेवन करना चाहिए जैसे कछुआ अपने सब अड्.गों को समेट लेता है, उसी प्रकार जो समस्त कामनाओं को संकुचित कर लेता है। वह निरन्तर आत्मा में रमण करने वाला, और एक मात्र परमात्मा में स्थित हुआ पुरुष अपनी आत्मा मे ही आत्मा का साक्षात्कार करता है। प्राणवायु के निरोध को ही उनकी ओर से योग द्वारा प्रत्याहृत निवृत्त करते हैं, इसलिए यह प्रत्याहार कहलाता है। जैसे–जलार्थी मनुष्य यन्त्र और नली आदि की सहायता से धीरे–धीरे जल पीते हैं; उसी प्रकार योगी पुरुष श्रम को जीतकर धीरे–धीरे वायु

१– मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १२८

२– देश बन्धश्चित्तस्य धारणा–किसी एक स्थान में चित्त को बाँधना अर्थात् परमात्मा को मन में स्थापित करना 'धारणा' है।

३– इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर चित्त में लीन करना ही प्रत्याहार है।

का पान करें। पहले नाभि में, फिर हृदय में, तदनन्तर तीसरे स्थान वक्ष–स्थल में। उसके बाद क्रमशः कण्ठ, मुख नासिका के अग्रभाग, नेत्र, भौहों के मध्य भाग तथा मस्तक में प्राण वायु को धारण करें। उसके बाद परब्रह्म परमात्मा में उसकी धारणा करनी चाहिए। यह सब उत्तम धारणा मानी गई है। इन दस धारणाओं को प्राप्त होकर योगी अविनाशी ब्रह्म की सत्ता को प्राप्त होता है। सिद्धि की इच्छा रखने वाला योगी पुरुष बड़े आदर के साथ योग में प्रवृत्त हो। वह अधिक खाये हुए अथवा खाली, पेट, थका और व्याकुल चित्त न हो। जब अधिक सर्दी या अधिक गर्मी पड़ती हो, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों की प्रबलता हो, अथवा बडे जोर की आँधी चलती हो, ऐसे अवसरों पर ध्यान परायण होकर योग का अभ्यास नहीं करना चाहिए। कोलाहल पूर्ण स्थान में, आग और पानी के समीप, पुरानी गोशाला में, चौराहे पर, सूखे पत्तों के ढेर पर, नदी में, श्मशान भूमि में, जहाँ सर्पों का निवास हो वहाँ, भयपूर्ण स्थान में, कुएँ तट पर, मन्दिर में तथा दीमकों की मिट्‌टी के ढेर पर–इन सब स्थानों में तत्त्वज्ञ पुरुष योगाभ्यास न करें। जहाँ सात्विक भाव की सिद्धि न हो, ऐसे देश काल का परित्याग करें। योग में असत् वस्तु का दर्शन भी निषिद्ध है; अतः उसे भी छोड़ दें। जो मूर्खतावश उक्त स्थानों की परवाह न करके, वहीं योगाभ्यास आरम्भ करता है, उसके कार्य योगाभ्यास आरम्भ करता है, उसके कार्य में विघ्न डालने के लिए बहरापन, जडता, स्मरण शक्ति का नाश, गूँगापन, अंधापन और ज्वर आदि अनेक दोष तत्काल प्रकट होते हैं।[1]

यदि वात रोग, गुल्म रोग, उदावर्त्त (गुदा सम्बन्धी रोग) तथा कोई उदर सम्बन्धी रोग हो जाय तो उसकी शान्ति के लिए घी मिलायी हुई जौ की गरम–गरम लप्सी खा लें अथवा केवल उसकी धारणा करें, वह रुकी हुई वायु को निकालती और वायु गोला को दूर करती है। इसी प्रकार जब शरीर में कम्प पैदा हो तो मन में बड़े भारी पर्वत की धारणा करे। बोलने में रुकावट होने पर वाग्देवी की, बहरापन आने पर श्रवण शक्ति को धारण करें। इसी प्रकार प्यास से पीड़ित होने पर ऐसी धारणा करें कि जिह्वा पर आम का फल रखा हुआ है और उससे रस मिल रहा है। तात्पर्य यह है कि जिस–जिस अङ्ग में रोग पैदा हो, वहाँ–वहाँ उसमें लाभ पहुँचाने वाली धारणा करें।

गर्मी में सर्दी की, और सर्दी में गर्मी की धारणा करे। धारणा के द्वारा ही अपने मस्तक पर काठ की कील रखकर दूसरे काष्ठ के द्वारा उसे ठोंकने की भावना करे। इससे योगी की लुप्त हुई स्मरण शक्ति का तत्काल ही आविर्भाव हो जाता है। इसके सिवा सर्वत्र व्यापक द्युलोक, पृथ्वी, वायु और अग्नि की भी धारणा करें। इससे अमानवीय शक्तियों तथा जीव–जन्तुओं से होने वाली बाधाओं की चिकित्सा होती है। यदि कोई मानवेतर जीव योगी के भीतर प्रवेश कर जाये तो वायु और अग्नि की धारणा करे, उसे अपने शरीर के भीतर ही जला डाले। इस प्रकार योगवेत्ता पुरुष को सब प्रकार से अपनी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि यह शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों पुरुषार्थ का साधक है।[१]

चञ्चलता न होना, नीरोग रहना, निष्ठुरता न धारण करना, उत्तम सुगन्ध का आना, मल–मूत्र कम न होना, शरीर में कान्ति, मन में प्रसन्नता और वाणी के स्वर में कोमलता का उदय होना–ये सब योग प्रवृत्ति के प्रारम्भिक चिह्न हैं। यदि योगी को देखकर लोगों के मन में अनुराग हो, परोक्ष में सब लोग उसके गुणों का बखान करने लगे और कोई भी जीव–जन्तु उससे भयभीत न हो तो यंह योग में सिद्धि प्राप्त होने की उत्तम पहचान है। जिसे अत्यन्त भयानक सर्दी, गर्मी आदि से कोई कष्ट नहीं होता तथा जो दूसरों से भयभीत नहीं होता, सिद्धि उसके निकट खडी है।

योग सिद्धि के मार्ग में प्रारम्भ में कुछ विध्न उपस्थित हो जाते हैं उसका सकाम कर्म की ओर लगने लग जाता है और वह माननीय भोगों की अभिलाषा से युक्त हो जाता है। दान के उत्तमोत्तम फल, स्त्री, विद्या, माया, सोना–चाँदी आदि धन सोने आदि के अतिरिक्त वैभव, स्वर्ग, लोक, देवत्व, इन्द्रत्व, रसायन–संग्रह, उसे बनाने की क्रियाएँ, हवा में उड़ने की शक्ति, यज्ञ, जल

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, अनूदित, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३०
२– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, अनूदित, वही, पृ०सं० १३०

और अग्नि में प्रवेश करना श्राद्ध तथा समस्त दानों का फल तथा नियम, व्रत, इष्ट, पूर्व एवं देव–पूजा आदि से मिलने वाले फलों की इच्छा करता है। जब चित्त की ऐसी अवस्था हो तो योगी उसे कामनाओं की ओर से हटाए और परब्रह्म के चिन्तन में लगाए। ऐसा करने पर उसे विघ्नों से छुटकारा मिल जाता है।

इन विघ्नों पर विजय पा लेने के बाद योगी के सामने फिर दूसरे–दूसरे सात्विक, राजस और तामस विघ्न उपस्थित होते हैं। प्रातिभ, श्रावण, दैव, भ्रम और आवर्त–ये पाँच उपसर्ग योगियों के योग में विघ्न डालने के लिए प्रकट होते हैं। इनका परिणाम बड़ा कटु होता है। जब सम्पूर्ण वेदों के अर्थ, काव्य और शास्त्रों के अर्थ, सम्पूर्ण विद्याएँ और शिल्प कला आदि अपने–अपने योगी की समझ में आ जाये तो प्रतिभा से सम्बन्ध रखने के कारण वह प्रतिभा उपसर्ग कहलाता है। जब योगी सहस्त्रों योजन दूर से भी सम्पूर्ण शब्दों को सुनने और उनके अभिप्राय को समझने लगता है, तब वह श्रवण–शक्ति से सम्बन्ध रखने के कारण 'श्रावण' उपसर्ग कहा जाता है। जब वह देवताओं की भांति आठों दिशाओं की वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखने लगता है, तब उसे दैव उपसर्ग कहते हैं। जब योगी का मन दोष के कारण सब प्रकार के आचारों से भ्रष्ट निराधार भटकने लगता है, तब वह भ्रम कहलाता है। जल में उठती हुई भँवर की तरह जब ज्ञान का आवर्त सब ओर व्याप्त होकर चित्त को नष्ट कर देता है, तब वह 'आवर्त' नामक उपसर्ग कहा जाता है। इन महाघोर उपसर्गों से योग का नाश हो जाने के कारण सम्पूर्ण योगी देवतुल्य होकर भी बार–बार आवागमन के चक्र में घूमते हैं। इसलिए योगी पुरुष को शुद्ध मनोमय उज्जवल केवल ओढ़कर परब्रह्म परमात्मा में मन को लगाकर सदा उन्हीं का चिन्तन करना चाहिए।[१]

पृथ्वी आदि सात प्रकार की सूक्ष्म धारणाएँ हैं, जिन्हें योगी मस्तक में धारण करे। सबसे पहले पृथ्वी की धारणा है। उसे धारण करने से योगी को सुख प्राप्त होता है। वह अपने को साक्षात् पृथ्वी

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणांक, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाङ्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३१

मानता है, अतः उसे धारण करने से योगी को सुख प्राप्त होता है। वह अपने को साक्षात् पृथ्वी मानता है, अतः सूक्ष्म रूप का, वायु की धारणा से स्पर्श का तथा आकाश की धारणा से सूक्ष्म प्रवृत्ति तथा शब्द का त्याग करता है। जब अपने मन से धारणा के द्वारा सम्पूर्ण भूतों के मन में प्रवेश करता है, तब उस मानसी धारणा को धारण करने के कारण उसका मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। इसी प्रकार योगवेत्ता पुरुष सम्पूर्ण जीवों की बुद्धि में प्रवेश करके परम उत्तम सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त करता और फिर उसे त्याग देता है। जो योगी इन सातों सूक्ष्म धारणाओं का अनुभव करके उन्हें त्याग देता है, उसको इस संसार में फिर नहीं आना पड़ता। जितात्मा पुरुष क्रमशः इन सात धारणाओं के सूक्ष्म रूप को देखे और त्याग करता जाय। ऐसा करने से वह परम सिद्धि को प्राप्त होता है। योगी पुरुष जिस–जिस भूत में राग करता है, उसी–उसी में आसक्त होकर नष्ट हो जाता है। इसलिए इन समस्त सूक्ष्म भूतों को परस्पर संसक्त जानकर जो इन्हें त्याग देता है, उसे परमपद की प्राप्ति होती है। पाँचों भूत और मनबुद्धि के इन सातों सूक्ष्म रूपों का विचार कर लेने पर उनके प्रति वैराग्य होता है, जो सद्भाव का ज्ञान रखने वाले पुरुष की मुक्ति का कारण बनता है। जो गन्ध आदि विषयों में आसक्त होता है, उसका विनाश हो जाता है, और उसे बारम्बार संसार में जन्म लेना पड़ता है। योगी पुरुष इन सातों धारणाओं को जीत लेने के बाद यदि चाहे तो किसी भी सूक्ष्म भूत में लीन हो सकता है। देवता, गन्धर्व, असुर, नाग और राक्षसों के शरीर में वह लीन हो जाता है, किन्तु कहीं भी आसक्त नहीं होता[1] ।कर लेना 'लघिमा' नामक गुण है। सब के लिए पूज्यनीय हो जाना 'महिमा' कहलाता है। जब कोई भी वस्तु अप्राप्य न रहे, तब वह प्राप्ति नामक सिद्धि है। सर्वत्र व्यापक होने से योगी को 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि की प्राप्ति मानी जाती है। जब वह सब कुछ करने में समर्थ ईश्वर हो जाता है, तो

अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामवसायित्व इन आठ ईश्वरीय गुणों को जो निर्वाण की सूचना देने वाले हैं, योगी प्राप्त करता है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूप

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणांक, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३१

धारण करना 'अणिमा' है और शीघ्र से शीघ्र कोई काम कर लेना 'लघिमा' नामक गुण है। सबके लिए पूज्यनीय हो जाना 'महिमा कहलाता है। जब कोई भी वस्तु अप्राप्य न रहे, तब वह प्राप्ति नामक सिद्धि है। सर्वत्र व्यापक होने से योगी को 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि की प्राप्ति मानी जाती है। जब वह सब कुछ करने में समर्थ ईश्वर हो जाता है उसकी वह सिद्धि 'ईशित्व' कहलाती है। सबको वश में कर लेने से 'वशित्व' की सिद्धि होती है। यह योगी का सातवाँ गुण है। जिसके द्वारा इच्छा के अनुसार कहीं भी रहना आदि सब काम हो सके, उसका नाम 'कामवसायित्व' है। ये ऐश्वर्य साधन भूत आठ गुण हैं।

मुक्त होने से साधक का कभी जन्म नहीं होता। वह वृद्धि और नाश को भी प्राप्त नहीं होता। न तो उसका क्षय होता है, न उसका परिणाम। पृथ्वी आदि भूत समुदाय से न तो काटा जाता है न भीगकर गलता है, न जलता है और न सूखता ही है। शब्द आदि विषय भी उसको लुभा नहीं सकते। उसके लिए शब्द आदि विषय हैं ही नहीं। न तो वह उनका भोक्ता है और न उनसे उसका संयोग होता है, जैसे अन्य खोटे द्रव्यों से मिला और खण्ड–खण्ड हुआ सुवर्ण जब आग में तपाया जाता है तब उसका दोष जल जाता है, और वह शुद्ध होकर अपने दूसरे टुकडों से मिलकर एक हो जाता है। उसी प्रकार यत्नशील योगी जब योगाग्नि से तपता है, तब अन्तः करण के समस्त दोष जल जाने के कारण ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है, फिर वह किसी से पृथक नहीं रहता। जैसे आग में डाली हुई आग उसमें मिलकर एक हो जाती है, उसका वही नाम और वही स्वरूप हो जाता है, फिर उसको विशेष रूप से पृथक नहीं किया जा सकता, उसी तरह जिसके पाप दग्ध हो गये हैं, वह योगी परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त होने पर फिर कभी उनसे पृथक् नहीं होता जैसे जल में डाला हुआ जल उसके साथ मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार योगी की आत्मा परमात्मा में मिलकर तदाकार हो जाती है।[१]

१– सक्षिप्त मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणांक, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाङ्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० १३१

ये जो मान और अपमान है, ये साधारण मनुष्यों को प्रसन्नता और उद्वेग देने वाले हैं। उन्हें मान से प्रसन्नता और अपमान से उद्वेग होता है। किन्तु योगी उन दोनों को ही ठीक उल्टे अर्थ में ग्रहण करता है। अतः वे उसकी सिद्धि में सहायक होते हैं। योगी के लिए मान और अपमान को विष एवं अमृत के रूप में बताया गया है। इनमें अपमान तो अमृत है और मान भयङ्कर विष। योगी मार्ग को भलीभाँति देखकर पैर रखे। वस्त्र से छानकर जल पिये, सत्य वचन बोले और बुद्धि से विचार करके जो ठीक हो उसी का चिन्तन करे।[1] योगवेत्ता पुरुष, आतिथ्य, श्राद्ध, यज्ञ, देवयात्रा तथा उत्सवों में न जाए। कार्य की सिद्धि के लिए किसी बड़े आदमी के घर में न जाये। जिस गृहस्थ के यहाँ रसोई घर से धुँआ निकलता हो, आग बुझ गई हो, और घर के सब लोग खा–पी चुके हों, उस समय योगी भिक्षा के लिए जाय, परन्तु, प्रतिदिन एक ही घर पर न जाय। योग में प्रवृत्त रहने वाला पुरुष सत्पुरुषों के मार्ग को कलंकित न करते हुए प्रायः ऐसा व्यावहार करे जिससे लोग उसका सम्मान न करें, तिरस्कार ही करें। वह गृहस्थों के यहाँ अथवा घूमते फिरते रहने वालों के यहाँ भिक्षा ग्रहण करें। इनमें भी पहली अर्थात् गृहस्थ के घर की भिक्षा ही सर्वश्रेष्ठ एवं मुख्य है। जो गृहस्थ विनीत, श्रद्धालु जितेन्द्रिय, श्रोत्रिय एवं उदार हृदय वाले हों, उन्हीं के यहाँ योगी को सदा भिक्षा के लिए जाना चाहिए। उनके बाद जो दुष्ट और पतित न हों, ऐसे अन्य लोगों के यहाँ भी वह भिक्षा के लिए जा सकता है। परन्तु छोटे वर्ण के लोगों के यहॉ भिक्षा माँगना, निकृष्ट वृत्ति मानी गई है। योगी के लिए भिक्षा से प्राप्त–अन्न, जौ की लस्सी, छाछ, दूध, जौ की खिचड़ी, फल, मूल, कंगनी, कर्ण, तिल का चूर्ण और सत्तू –ये आहार उत्तम और सिद्धि दायक हैं। चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन, त्याग, लोभ का अभाव और अहिंसा–ये भिक्षुओं के पाँच व्रत हैं। क्रोध का अभाव, गुरू की सेवा पवित्रता, हल्का भोजन और प्रतिदिन स्वाध्याय–ये पॉच उनके नियम बतलाये गये हैं।[2]

१– मानापमानौ यावेतौ प्रीत्युद्वेग करौ नृणाम्। तावेव, विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धि कारकौ।। मानापमानौ यावेतौ तावेवाहुर्विषामृते। अपमानोऽमृतं तत्र मानस्तु विषमं विषम्।। चक्षुः पूतं न्यसेत्पाद वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्राणीं बुद्धिपूतं च चिन्तयेत्।। – उद्धृत, सं०मा०–ब्र० पुराणाङ्क, पृ०सं० १३२

२– अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च त्यागोडलोभस्तथैव च। व्रतानि पञ्च भिक्षणामहिंसा परमाणि वै।। अक्रोधो गुरूशुश्रुषा शौचमाहारलाधवम्। नित्यस्वाध्याय इत्येते नियमाः पञ्च कीर्तिताः।। –उदधृत संक्षिप्त मार्कण्डेय– ब्रह्म पु०पृ० १३२

जो योगी 'यह जानने योग्य है, वह जानने योग्य है, इस प्रकार भिन्न–भिन्न विषयों की जानकारी के लिए लालायित–सा होकर इधर–उधर विचरता है, वह हजारों कल्पों में भी ज्ञातव्य वस्तु को नहीं पा सकता। आसक्ति का त्याग करके, क्रोध को जीत–कर, स्वल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, बुद्धि से इन्द्रिय द्वारों को रोककर मन को ध्यान में लगावें। योग–मुक्त रहने वाला योगी सदा एकान्त स्थानों में, गुफाओं और वनों में भली–भाँति ध्यान करें। वाग्दण्ड, कर्मण्ड और मनोदण्ड–ये तीन दण्ड जिसके–जिसके अधीन है, वही महायति त्रिदण्डी है। जिसकी दृष्टि में सत्–असत् तथा गुण–अवगुण रूप यह समस्त जगत् आत्मस्वरूप हो गया है, उस योगी के लिए कौन प्रिय है, और कौन अप्रिय। जिसकी बुद्धि शुद्धि, जो मिट्टी के ढेले और सुवर्ण को समान समझता है, सब प्राणियों के प्रति जिसका समान भाव है, वह एकाग्र चित्त योगी उस सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त होकर, फिर इस संसार में जन्म नहीं लेता। वेदों से सम्पूर्ण यज्ञ कर्म श्रेष्ठ है, यज्ञों से जप, जप से ज्ञान मार्ग और उससे आसक्ति एवम् राग से रहित ध्यान श्रेष्ठ है। ऐसे ध्यान के प्राप्त हो जाने पर सनातन ब्रह्म की उपलब्धि होती है। जो एकाग्रचित्त, ब्रह्मपरायण, प्रमादरहित, पवित्र, एकान्त प्रेमी और जितेन्द्रिय होता है, वही महात्मा इस योग को पाता है, और फिर अपने उस योग से ही वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[१]

योग का अभ्यास करके योगी पुरुष परम दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। योग सदैव उस अवस्था में करना चाहिए, जिस समय मन व्याकुल न हो, भूख, प्यास का कष्ट न हो, हर्ष, शोक

१– त्यक्तसङ्गों जितक्रोधो लध्वाहारो जितेन्द्रियः। पिघाय बुद्धया द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत्।।
शून्यष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च। नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत।।
वाग्दण्डं कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च दो त्रयः। वस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः।।
सर्वमात्ममयं यस्य सदसज्जगदीदृशम्। गुणागुणमयं तस्य कः प्रियः को नृपाप्रियः।।
विशुद्धबुद्धिः समलोष्टकाञ्चनः समस्तभूतेषु समः समाहितः।
स्थानं परं शाश्वतमव्ययं च परं हि गत्वा न पुनः प्रजायते।।
वेदाच्छ्रेष्ठाः सर्वयज्ञक्रियाश्च यज्ञाज्जप्यं ज्ञानमार्गश्च जप्वात्।
ज्ञानाद्वयानं सङ्गरागव्यपेतं तस्मिन् प्राप्ते शाश्वतस्योपलब्धिः।।
समाहितोब्रह्मपरोऽप्रमादी शुचिस्तयैकान्तरतिर्यतेन्द्रियः समाप्नुवाद् योगमिमं महात्मा विमुक्तिमाप्नोति ततः स्वयोगतः।।
–सं० मार्कण्डेय–ब्रह्म पु० पृ०सं० १३३ पर उद्धृत।

आदि द्वन्द्व सर्दी, गर्मी तथा वायु बाधा न पहुँचाए। ऐसे समय योग साधन करना चाहिए। जहॉ कोई शब्द होता हो तथा जो जल के समीप ही ऐसे स्थान में, टूटी–फूटी पुरानी गोशाला में, चौराहे पर,सॉप–बिच्छू आदि के स्थान में, श्मशान भूमि में, नदी के तट पर, अग्नि के समीप, देववृक्ष के नीचे, बॉबी पर, भयदायक स्थानों में, कुएँ के समीप तथा सूखे पत्तों पर कभी योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। जो मूर्खतावश इन स्थानों की परवाह न करके वही योग साधना करता है, उसके सामने विघ्न कारक दोष आते हैं। विघ्नकारक दोष हैं–बहरापन, जड़ता स्मरण शक्ति का लोप, गूँगापन, अंधापन तथा अज्ञानजनित दोष। अतः योग वेत्ता पुरुष को हमेशा शरीर की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि शरीर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों पुरुषार्थों का स्थान है। एकान्त आश्रम में, गूढ़ स्थान में, शब्द और भय से एकान्त देवमन्दिर में बैठकर रात के पहले और पिछले पहर में अथवा दिन के पूर्वाह्न और मध्याह्नकाल में एकाग्र चित्त होकर योग साधन करे। भोजन थोडा और नियम के अनुकूल हो। इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण रहे। सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर योगाभ्यास करना चाहिए। आसन सुखद और स्थिर हो। अधिक ऊँचा या अधिक नीचा न हो। योग के साधक निःस्पृह, सत्यवादी और सम्पूर्ण भूतों के हित में तत्पर रहे। सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करे। शरीर, चरण और मस्तक को समान स्थिति में रखे। दोनों हाथ नाभि पर रखकर शान्त हो पद्मासन लगाए। दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर लगाकर प्राणायाम पूर्वक मौन रहे। मन के द्वारा इन्द्रिय समुदाय को विषयों की ओर से हटाकर हृदय में स्थापित करे। दीर्घ स्वर से प्रणव का उच्चारण करते हुए, मुख को बन्द रखें और स्वयं भी स्थिर रहें। योगी पुरुष नेत्र बन्द करके बैठे। वह तमोगुण की वृत्ति को रजोगुण से और रजोगुण की वृत्ति को सत्वगुण से आच्छादित करके निर्मल एवं शान्त हृदय कमल की कर्णिका में लीन, सर्वव्यापी, निरञ्जन, मोक्षदायक भगवान का निरन्तर चिन्तन करे।

योगवेत्ता पुरुष पहले अन्तः करण सहित इन्द्रियों और पञ्च भूतों को क्षेत्रज्ञ में स्थापित करे और क्षेत्रज्ञ को परमात्मा में नियुक्त करें, तत्पश्चात योगाभ्यास करे। जिस पुरुष का चञ्चल मन

समस्त विषयों का परित्याग करके परमात्मा में लीन हो जाता है, उसके सामने योगसिद्धि प्रकाशित होती है। जब योगयुक्त पुरुष का चित्त समाधि काल में सब विषयों से निवृत्त हो, परब्रह्म में एकीभूत हो जाता है, उस समय वह परम पद को प्राप्त होता है। जब योगी का चित्त परमानन्द को प्राप्त कर किसी भी कर्म में आसक्त नहीं होता, उस समय वह निर्वाण पद को प्राप्त होता है। योगी अपने योग बल से शुद्ध, सूक्ष्म, गुणातीत तथा आत्मगुण सम्पन्न पुरुषोत्तम को प्राप्त करके, निस्संदेह मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण भोगों की आरे से निःस्पृह, सर्वत्र प्रेम दृष्टि रखने वाला तथा सब अनात्म पदार्थों में अनित्य बुद्धि रखने वाला योगी ही मुक्त हो सकता है। जो योगवेत्ता पुरुष वैराग्य के कारण इन्द्रियों के विषयों का सेवन नहीं करता, और निरन्तर अभ्यास योग में लगा रहता है, उसकी मुक्ति में तनिक भी सन्देह नहीं है। केवल पद्मासन लगाने से और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखने से ही योग की सिद्धि नहीं होती। वास्तव में मन और इन्द्रियों के संयोग–उनकी एकाग्रता को ही योग कहते हैं।[1]

इन्द्रिय, मन और बुद्धि की वृत्तियों को सब ओर से रोक कर व्यापक आत्मा के साथ उनकी एकता स्थापित करना ही योगशास्त्र के मत में उत्तम ज्ञान है। योगी पुरुष को शम–दम से सम्पन्न होना चाहिए। वह अध्यात्म शास्त्र का अनुशीलन करे, आत्मा में अनुराग रखे, शास्त्रों का तत्त्व जाने और निष्काम भाव से पवित्र कर्मों का अनुष्ठान करे। इस प्रकार साधन सम्पन्न होकर योगोक्त उत्तम ज्ञान को प्राप्त करे। काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न–ये पाँच योग के दोष हैं। धीर पुरुष मन को वश में रखने से क्रोध पर और संकल्प का त्याग करने से काम पर विजय पाता है। सत्वगुण का सेवन करने से वह निद्रा का नाश कर सकता है। धैर्य के द्वारा योगी शिश्न और उदर की रक्षा करे। नेत्रों की सहायता से हाथ और पैर की रक्षा करें मन के द्वारा नेत्र और कानों की तथा कर्म के द्वारा मन और वाणी की रक्षा करें। प्रमाद के त्याग से भय का और विद्वान पुरुष के

१– संक्षिप्त मार्कण्डेय–ब्रह्म पुराणाड्.क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ५८६

सेवन से दम्भ का त्याग करे।[1] इस प्रकार योग के साधक को आलस्य का त्यागकर इन योग सम्बन्धी दोषों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। मन पर प्रभाव डालने वाली हिंसायुक्त उद्दण्डतापूर्ण वाणी न बोलें तेजोमय ब्रह्म ही वीर्य (सबका आदि कारण) है, यह सम्पूर्ण जगत् उसी का कार्य है। समस्त चराचर जगत उसी ब्रह्म के ही ईक्षण (संकल्प) का परिणाम है। ध्यान वेदाध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, आत्मशुद्धि एवं इन्द्रिय संयम—इनसे तेज की वृद्धि होती है, और पाप का नाश होता है।[2]

योगी को हमेशा सम्पूर्ण प्राणियों में समान भाव रखना चाहिए तथा जो कुछ भी मिल जाये, उसी से निर्वाह करना चाहिए। पाप रहित, तेजस्वी मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोध को वश में करके ब्रह्म पद का सेवन करें। योगी रात के पहले और पिछले पहर में मन एवं इन्द्रियों को एकाग्र करके ध्यानस्थ हुए मन को आत्मा में लगावे। जैसे मशक में एक जगह भी छेद हो जाने पर सारा पानी वह जाता है, उसी प्रकार यदि साधक की पाँच इन्द्रियों में से एक इन्द्रिय भी विकृत हो विषयों की ओर चली जाय तो वह अपनी बुद्धि और विवेक खो बैठता है। जैसे—मछुआ पहले जाल काटने वाली मछली को पकड़ कर पीछे अन्य मछलियों को पकड़ता है, उसी प्रकार योगवेत्ता साधक पहले अपने मन को वश में करे। तत्पश्चात् कान, नेत्र, जिह्वा तथा

१— (क) सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत. श्रुतिमल्लोके सर्वमातृत्य तिष्ठति।।
तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भयो महत्तरम्।
तदन्तः सर्वभूताना ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते।। २३५/३०—३१

(ख) क्रोध शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात्। सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति।।
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा। चक्षुः श्रोत्रं च मनसा मनो वाचं च कर्मणा।
अप्रमादाद् भयं जह्याद् दम्भ प्राज्ञोपसेवनात्।
२३५/४०—४२ — उद्धृत, सं० मा० ब्र० पुराणाड्.क, पृ०सं० ५६०

२— ध्यानमध्ययनं दानं सत्य हीरार्जवं क्षमा।
शौच चैवात्मनः शुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।।
एर्तैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति।।
—(२३५/४५—४६) —उद्घृत स० मा०—ब्र० पुराणाड्.क पृ० सं०—५६०

नासिका आदि इन्द्रियों का निग्रह करे। इन सबको अधीन करके मन में स्थापित करे, और मन को भी संकल्प–विकल्प से हटाकर बुद्धि में स्थिर करे। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों को मन में और मन को बुद्धि में स्थापित करने पर जब ये इन्द्रिय और मन स्थिर हो जाते हैं, उस समय इनकी मलिनता दूर होकर इससे स्वच्छता आ जाती है। फिर अन्तःकरण में ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। योगी धूम रहित अग्नि, दीप्तिमान सूर्य तथा आकाश में चमकती हुई बिजली की भाँति आत्मा का हृदय देश में दर्शन करता है।सब कुछ आत्मा में है, और आत्मा सबमें व्यापक हैं, इसलिए वह सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है। जो महात्मा ब्राह्मण, मनीषी, धैर्यवान, महाज्ञानी और सम्पूर्ण प्राणियों के हित में तत्पर रहने वाले हैं, वे ही उस आत्मा का दर्शन कर पाते हैं। जो योगी एकान्त में बैठकर कठोर नियमों का पालन करते हुए थोड़े समय भी इस प्रकार योगाभ्यास करता है, वह अक्षर ब्रह्म की समानता को प्राप्त हो जाता है।[१]

योग साधना में अग्रसर होने पर मोह, भ्रम और आवर्त आदि विघ्न प्राप्त होते हैं। दिव्य सुगन्ध आती है, दिव्य वाणी का श्रवण तथा दिव्य रूपों के दर्शन होते हैं। अद्‌भुत बातें देखने में आती हैं। अलौकिक रस और स्पर्श का अनुभव होता है। इच्छानुकूल सर्दी और गर्मी प्राप्त होती है। वायु की भांति आकाश में चलने–फिरने की शक्ति आ जाती है। प्रतिभा बढ़ जाती है और उपद्रवों का अभाव हो जाता है। योग की इन शक्तियों के प्राप्त होने पर भी तत्त्व वेत्ता पुरूष उनकी उपेक्षा करके समभाव से ही उन्हें लौटा दे। वह योग का ही अभ्यास बढ़ाये और नियम पूर्वक रहते हुए पहाड की चोटी पर शून्य देव मंदिर में अथवा वृक्षों के नीचे बैठकर योग का अभ्यास करे। इन्द्रिय समुदाय को संयम में रखकर एकाग्रचित्त होकर निरन्तर आत्मा का चिन्तन करता रहे। योग से मन को उद्विग्न न होने दे। जिस उपाय से चंचल मन को रोका जा सके, उसमें तत्परतापूर्वक लग जाय और साधना से कभी विचलित न हो। अपने रहने के लिए शून्य

१– ब्रह्म पुराण, अनूदित, पृ०सं० ५६१

गृह को स्वीकार करें क्योंकि वहाँ एकाग्रचित्त रह सकते हैं। योग का साधक मन, वाणी अथवा क्रिया द्वारा भी कहीं आसक्त न हो, वह सबकी ओर से उपेक्षा का भाव रखे, नियमित भोजन करे तथा लाभ और अलाभ को समझ सके। जो उस योगी की निन्दा करे और जो उसको मस्तक झुकाए, उन दोनों के प्रति ही वह समान भाव रखे। वह किसी की बुराई या भलाई न करे। कुछ लाभ होने पर हर्षित न हो और लाभ न होने पर चिन्तित न हो, अपितु वायु का सहधर्मी[1] होकर सब प्राणियों के प्रति समान भाव रखे।[2] इस प्रकार स्वस्थ चित्त होकर सर्वत्र समान दृष्टि रखने वाला साधक यदि छः महीने भी निरन्तर योग के अभ्यास में लगा रहे, तो उसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। दूसरे लोग धन की इच्छा या संग्रह के कारण अत्यन्त विकल हैं, यह देखकर उसकी ओर से विरक्त हो जाय। मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण को समान समझता हो—इस प्रकार योग मार्ग पर चलने वाला साधक मोहवश कभी भी उससे विचलित नहीं होता है। कोई नीच वर्ण की स्त्री या पुरुष ही क्यों न हो, यदि उसे धर्म करने की अभिलाषा हो तो वह भी इस योग मार्ग से परमगति को प्राप्त कर सकता है। योगी पुरुष अजन्मा, पुरातन, जरावस्था से रहित सनातन, इन्द्रियातीत एवं अगोचर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो मनीषी पुरुष इस योग की पद्धति पर दृष्टिपात करके इसे अपनाते हैं, वे ब्रह्मा जी के समान हो उस उत्तम गति को प्राप्त करते हैं, जहाँ से पुनः संसार में नहीं आना पड़ता।

जिस प्रकार दुर्बल मनुष्य पानी के वेग में बह जाता है, उसी प्रकार निर्बल योगी विषयों से विचलित हो जाता है, किन्तु उसी महान प्रवाह को जैसे हाथी रोक देता है, वैसे ही योग का महान

१— सर्वत्र विचरते हुए भी कहीं आसक्त न होना ही वायु का सहधर्मी होना है।

२— यश्चैनमभिनिन्देत यश्चैनमभिवादयेत्।
समस्तयोगश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम्।।
न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु न चिन्तयेत्।
समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मामातरिश्वनः।।
२३५/६४—६५ —स० मा० —ब्रह्म पुराणाड्.क, इक्कीसवें वर्ष का विशेषाड्.क, कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०सं० ५६१

बल पाकर योगी भी समस्त विषयों को रोक लेता है, उनके द्वारा विचलित नहीं होता। योग शक्ति सम्पन्न पुरुष स्वतंत्रता पूर्वक समस्त प्रजापतियों, मनुओं तथा महाभूतों में प्रवेश कर जाते हैं। अमित तेजस्वी योगी के ऊपर क्रोध में भरे हुए यमराज, काल और भयंकर पराक्रम दिखाने वाली मृत्यु का भी जोर नहीं चलता। वह योग बल पाकर अपने हजारो रूप बना सकता और उन सबके द्वारा इस पृथ्वी पर विचरण कर सकता है फिर तेज, को समेट लेने वाले सूर्य की भाँति वह उन सभी रूपों को अपने में लीन करके, उस तपस्या में प्रवृत्त हो जाता है। बलवान् योगी बन्धन तोडने में समर्थ होता है। उसमें अपने को मुक्त करने की पूर्ण शक्ति होती है। जिस प्रकार सदा सावधान रहने वाला धनुर्धर, चित्त को एकाग्र करके प्रहार करने पर लक्ष्य को बेध देता है, उसी प्रकार जो योगी मन को परमात्मा के ध्यान में लगा देता है, वह निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैसे–सावधान मल्लाह समुद्र में पडी हुई नाव को शीघ्र ही किनारे लगा देता है, उसी प्रकार योग के अनुसार तत्व को जानने वाला पुरुष समाधि के द्वारा मन परमात्मा में लगाकर देह का त्याग करने के अनन्तर दुर्गम स्थान(परम धाम् को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार सावधान सारथि अच्छे घोड़ों को रथ में जोतकर धनुर्धर श्रेष्ठ वीर को तुरन्त अभीष्ठ स्थान पर पहुँचा देता है वैसे ही धारणाओं को चित्त में एकाग्र करने वाला योगी लक्ष्य की ओर छूटे हुए बाण की भाँति शीघ्र परम पद को प्राप्त कर लेता है। जो समाधि के द्वारा अपने आत्मा को परमात्मा में लगाकर स्थिर भाव से बैठा रहता है, उसे अजर (बुढ़ापे से रहित) पद की प्राप्ति होती है। योग के महान व्रत में एकाग्रचित्त रहने वाला जो योगी नाभि, कण्ठ, पार्श्व भाग, हृदय वक्ष स्थल, नाक, नेत्र और मष्तक आदि स्थानों में धारण के द्वारा आत्मा को परमात्मा के साथ मुक्त करता है, वह पर्वत के समान महान शुभाशुभ कर्मों को भी शीघ्र ही भस्म कर डालता है, और इच्छा करते ही उत्तम योग का आश्रय ले मुक्त हो जाता है। निर्मल अन्तःकरण वाले यति परमात्मा को प्राप्त कर तद्रूप हो जाते हैं। उन्हें अमृत तत्व मिल जाता है, फिर वे संसार में नहीं लौटते यही परम गति है, जो सब द्वन्दों से रहित, सत्यवादी, सरल तथा सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने वाले हैं, उन महात्माओं को ही, ऐसी गति प्राप्त होती है।

संदर्भ – ग्रह – सूची

१ अकलड्.क : तत्वार्थसूत्र पर सवार्थसिद्धिटीका हिन्दी व्याख्या सहित, वर्धा १९६२

२ अश्वघोष : सौन्दरनन्दकाव्य, सम्पा०, म० स० हर प्रसाद शास्त्री, बिब्लि० इंडिका, कलकत्ता १९१०

३ अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता : ए० सो० बं०, कलकत्ता सम्पा० प्रो० प० ल० वैद्य, दरभंगा १९६०

४ अन्नम् भट्ट : तर्क संग्रह, स्वनिर्मित दीपिका सहित, एवं नीलकण्ठी तथ भास्करोदया व्याख्या समेत,

निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

तर्क संग्रहदीपिका, अंग्रेजी भूमिका एवं अनुवाद सहित अठल्ये एवं बोडास द्वारा सम्पादित, द्वि० सं० बम्बई १९३०

५ अनन्तदेव : चन्द्रिका चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्या विलास प्रेस, वाराणसी १९३०

६ अमरकोश : काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा संस्कृत आफिस वाराणसी १९७०

७ आरण्यक हरिहरानन्द : भास्वती

९ ईश्वर कृष्ण : साँख्यकारिका नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली–६, प्रथम संस्करण १९६६

१० उदयन : आत्मतत्वविवेक, चौखम्बा, वाराणसी, १९४०, न्यायकुसुमाञ्जलि, टीका चतुष्टयसमेत, सम्पा० पद्मप्रसाद उपाध्याय एवं ढुण्ढिराज शास्त्री,

काशी सं० सी० वाराणसी, १६५७

११ श्रीकण्ठ शिवाचार्य : ब्रह्मसूत्र–भाष्य

१२ कपिल : सांख्यसूत्रम् रमाशंकर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, भारतीय विद्या प्रकाशन

१३ कठोपनिषद् : (एकादशोपनिषद्) सम्पादक स्वामी सत्यानन्द, भगवानदास एण्ड कम्पनी, कश्मीरी गेट, दिल्ली, तृतीय संस्करण

१४. कर्णाटक विमला : व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जल योगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन, काशी हिन्दू विश्व

१५ कृष्णपति मिश्र प्रबोधचन्द्रोदय नाटक (द्वितीय अङ्.ग)

१६ कुन्दकुन्दाचार्य : समयसार, अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीका सहित, निर्णयसागर सं० १६१६ प्रो० चक्रवर्तीकृत अंग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद सहित, ज्ञानपीठ वाराणसी, १६५०, अमृतचन्द्रकृत संस्कृत टीका व जयचन्द्रकृत हिन्दी टीका सहित, अहिसा मन्दिर, दिल्ली १६५६

कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार, अमृतचन्द्रकृत संस्कृत टीका सहित, सम्पादित डा० उपाध्ये, बम्बई, १६३५

'' पञ्चास्तिकायसार, अंग्रेजी भूमिका व अनुवाद सहित, सम्पादित, प्रो० चक्रवर्ती, आरा, १६२०

'' षट्प्राभृत, सम्पादित, पन्नालाल, बम्बई

१७ कमलशील : तत्व–संग्रह–पञ्जिका

१८. कूर्म पुराणम् (ब्राही संहिता समेत) : मु०–गोपाल प्रिन्टिंग वर्क्स प्रथम कलकता ६

१९ गीता प्रेस गोरखपुर : श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्.करभाष्य और हिन्दी अनुवाद सहित

२० गरुड पुराण : स०–डा० रामशङ्.करभाष्य और हिन्दी अनुवाद सहित

२१ गोरक्ष सहिता : स०–डा० रामशङ्.करभाष्य और हिन्दी अनुवाद सहित

२२. गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणि : प्र० आनन्दाश्रम मुद्रणालय १६५६ ई० अडियर

२३ गौडपाद : सांख्य–कारिका–भाष्य, संपा० हरदत्त शर्मा, पूना

२४ गोतम : न्यायसूत्रभाष्य, विश्वनाथवृत्ति सहित, सम्पा० जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता

'' न्यायसूत्र–वात्स्यायनभाष्य, ओरियेन्टल सीरीज, पूना० १६३८, अंग्रजी अनुवाद, गंगानाथ झा, पूना १६३८

२५ म० प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : पुराण–परिशीलन, बिहार राष्ट्रभाषा परिष्द् पटना, १६७०

२६ गोपेश्वर महाराज : भाष्य–प्रकाश–रश्मि (भाष्य प्रकाश टीका)

२७. गिरिधर दीक्षित : शुद्धाद्वैतमार्तण्ड

२८. म० म० गोपीनाथ कविराज : भारतीय संस्कृति और साधना, दो भाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, भाग १, १६६३ और भाग २, १६६४

२६ म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : दर्शन अनुचिन्तन, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, १६६४३०

३०. घेरण्ड सहिता : आनन्दाश्रम मुद्रणालय १६५६ ई०, अडियर

३१ 'चार्वाक–षष्टि' : 'चार्वाक–षष्टि का दार्शनिक, विषय विवेचन', सर्वानन्द पाठक नव–नालन्दा महाविहार रिसर्च पब्लि०, भाग II

३२ छान्दोग्य उपनिषद् : (एकादशोपनिषद्) भगवास दास एण्ड कम्पनी, कश्मीरी गेट तृतीय संस्करण

३३. जयन्त–भट्ट : न्यायमञ्जरी, सम्पा० सूर्यनारायण शुक्ल, काशी सं० सी०, वाराणसी, १९३६

३४ जैमिनि : मीमांसा–सूत्र

३५ जयतीर्थ : तत्व प्रकाशिका (मध्वभाष्यटीका)

'' : प्रमाण पद्धति

'' : न्यायसुधा (अनुव्याख्यान–टीका)

३६ जीव गोस्वामी : षट्सन्दर्भ, सर्वसंवादिनी टीका सहित

३७ जयराशि भट्ट : तत्वो पल्लव सिंह गायकवाड़ सीरीज, बडौदा

३८ जयाख्य संहिता : प्र०–ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट १९६१ ई० बड़ौदा

३९ तत्व वैशारदी : लेखक–वाचस्पति मिश्र स०–गोस्वामी दामोदर–शास्त्री

४० तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल : डा० रामशंकर भट्टाचार्य १९६५

४१ तैत्तिरीय ब्राह्मण : – १९३५

४२ दशभूमिक सूत्र : सम्पा० डा० जे० राहडर पेरिस १९२६

'' : सम्पा० एस० बागची, दरभंगा १९६७

४३ दिङ्नाग : प्रमाणसमुच्चय (प्रथम परिच्छेद), पं० रङ्गस्वामी

अय्यंगर द्वारा तिब्बती भाषानुवाद से संस्कृत में पुनरनूदित, मैसूर, मैसूर विश्वविद्यालय, १६३०

दिङ्.नाग : आलम्बन परीक्षा, पं० अय्यस्वामी शास्त्री द्वारा सस्कृत में पुनरनूदित, अडयार लाइब्रेरी १६४१

" : दिङ्.नाग की कृतियो के अंश सम्पा०–एच० रेन्डल, रॉयल एशियाटिक सोसायटी लंदन–१६२६

४४ दक्ष स्मृति : अष्टादशस्मृतयः सम्पादक त्रिपाठी, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई

४५ देवी भागवत : सर्वाधिकार सुरक्षित श्री० वेंकटेश्वर (स्टीम) सम्वत् यन्त्रालयाधीश १६६४

४६ धातु पाठ : वेदाग प्रकाश अजमेर १६७२

४७ धम्मपद और सुत्तनिपात : S.B.E. VOL. X

४८ धर्मकीर्ति : प्रमाणवार्त्तिक, पं० राहुल सांकृत्यायन जे० बी०,

" : ओ० आर० एस० पटना भाग XX IV 1938 प्रमाणवार्तिक, प्रथम परिच्छेद पर स्ववृत्तिसहित तथा कर्णकगोमिटीका सहित, सम्पा० पं० राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद १६४३

४६ धर्मकीर्ति : न्यायबिन्दु, धर्मोत्तर की टीका सहित, सम्पा० पी० पीटरसन, कलकत्ता, १८८६

" : वादन्याय, शान्तरक्षित की टीका सहित, सम्पा० प० राहुल सांकृत्यायन, जे० बी० ओ० आर०एस०, पटना, भाग XXI.XXII 1935-1936.

५० धर्मोत्तर : न्यायबिन्दु–टीका

५१ श्रीधर : न्यायकन्दली (प्रशस्तपाद भाष्य टीका) सम्पा० बिन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, बनारस

५२ धातु पाठ : वेदांग प्रकाश, अजमेर १६७२

५३ नारायण तीर्थ : सूत्रार्थ–बोधिनी (योग दर्शनम्) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

५४ नारायणतीर्थ : योग सिद्धांत चन्द्रिका (योग दर्शनम्) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

५५ नागोजीभट्टवृत्ति : सम्पा०–ढुण्ढिराज शास्त्री १६६४

५६ न्याय सूत्र : लेखक अक्षपाद गौतम

५७. नारदीय शिक्षा : लेखक अक्षपाद गौतम

५८ निरुक्तम् : प्रकाशक–पूना भण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट १६४०

५६ न्याय भाष्य : –

६० नरहरि स्वामी : बोधसार

६१ नाथमुनि : न्याय–तत्व

६२ नारायण भट्ट : मानमेयोदय, अंग्रेजी अनुवाद सहित सम्पा० सी० कुन्हनराजा और एस० एस० सूर्य नारायण शास्त्री , अडयार, मद्रास १६३३

६३ पदमपुराण : प्र०–आनन्दाश्रम मुद्रणालय १८६३

६४.	पातंजल–योगदर्शनम् 'परयोगभाष्यविवृत्ति'	:	ले०–स्वामी ब्रह्मलीन मुनि प्रथम
६५	पातजल योग–सूत्र (व्यासभाष्यसहित) (हिन्दी सस्करण)	·	ले० बंगाली बाबा प्र०–एन० आर० भार्गव १६४८ ई०
६६	पातंजलयोगदर्शनम् (तत्व वैशारदी सहितम्)	.	स०–श्री रामशंकर भट्टाचार्य १६६३
६७.	पातंजल योगसूत्रभाष्य विवरणम्	:	प्र० मद्रासराज्य सरकार प्रथम
६८	पातजलयोगदर्शनम् (हिन्दी रूपान्तर)	:	ले० हरिहरानन्द आरण्य प्र० लखनऊ विश्वविद्यालय प्रथम
६६	पातंजलयोगदर्शनम् (योगसूत्र)	:	प्र० गीता प्रेस गोरखपुर
७०	पातंजलयोगप्रदीप	:	ले० स्वामी ओमानन्दतीर्थ चतुर्थ
७१.	पातंजलरहस्यम्	:	स० गोस्वामी दामोदर शास्त्री १६३५
७२.	पातंजलमहाभाष्य	:	.
७३	पूज्यपाद देवनन्दी	:	तत्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका पं० फूलचन्द्र कृत अनुवाद सहित, ज्ञानपीठ, वाराणसी १६५५
७४	पालि तिपिटक	:	पालि टैक्स सोसाइटी, लन्दन द्वारा रोमन लिपि मे प्रकाशित संस्करण
	"	:	नालन्दा–देवनागरी–पालिग्रन्थमाला, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा द्वारा देवनागरी लिपि में प्रकाशित संस्करण भाग I-XLI, प्र० स०, भिक्षु जगदीश कश्यप

७५ पार्थ सारथि मिश्र : शास्त्र–दीपिका (निर्णय सागर प्रेस बम्बई)

" : शास्त्र–दीपिका, टीकाद्वयोपेता, सम्पा० लक्ष्मण शास्त्री द्राविड, चौखम्बा, बनारस, १६१६

७६ पद्मपादाचार्य : पञ्चपादिका (शारीरिक भाष्यवृत्ति, अपूर्ण), सम्पा० रामशास्त्री, विजयनगरम् सीरीज बनारस

" : पञ्चपादिका, आत्मस्वरूपकृत प्रबोध परिशोधिनी तथा विज्ञानात्मकृत तात्पर्यार्थद्योतिनी व्याख्याओं सहित, सम्पा० श्री राम शास्त्री तथा श्री कृष्णन मूर्ति शास्त्री, मद्रास ओरिएण्टल सीरीज, भाग १, मद्रास, १६५८

७७ पद्मपादाचार्य : पञ्चपादिका, प्रकाशात्मयतिकृत विवरण तथा विवरण पर चित्तसुख मुनि की तात्पर्यदीपिका एवं नृसिंहाश्रम मुनि की भावप्रकाशिका टीकाओं सहित, सम्पा० श्री राम शास्त्री तथा श्री कृष्णमूर्ति शास्त्री, मद्रास ओरियेन्टल सीरीज, भाग २ए मद्रास १६५८

७८. पतंजलि . योगसूत्र (पातंजल योग दर्शनम्) भरतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण १६७१

७६ प्रज्ञाकरमति : बोधिचर्यावतार–पञ्जिका

८० प्रज्ञाकर गुप्त : प्रमाणवार्तिकालङ्कर प्रमाणवार्तिक परिच्छेद २,३ और ४ पर टीका, सम्पा पं० राहुल सांस्कृत्यायन, जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना, १६५३

८१	प्रभाकर मिश्र	:	वृहती (शाबर भाष्य टीका) (तर्कपाद) सम्पा० शमनाथ शास्त्री, भाग १ और २ मद्रास वि० वि०, १९३४–३५
८२	प्रशस्तपाद	:	पदार्थधर्मसंग्रह (वैशेषिक सूत्रभाष्य) सम्पा० ढुण्ढिराज शास्त्री, काशी सं० सी०, बनारस
८३	प्रकाशात्मयति	:	पञ्चपादिका–विवरण सम्पा०, श्री रामशास्त्री, विजयनगरम् सीरीज, बनारस; मद्रास ओ० सीरीज, भाग २, मद्रास १९५८
८४	प्रकाशानन्द	:	वेदान्तसिद्धान्त–मुक्तावली, अच्युत कार्यालय वाराणसी
८५	ब्रह्मशूत्र शांकरभाष्य (स्वामी सत्यानन्दसरस्वती विरचित भाषानुवाद तथा सत्यानन्दी दीपिका सहित)	:	प्र० गोविन्द मठ टेढ़ीनीम वाराणसी १२०२२
८६	वृहदारण्यकोपनिष्द्	:	स०–रामस्वरूप शर्मा १९७७
८७	संक्षिप्त भविष्यपुराणाङ्.क	:	कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर
८८	बृहद्योगीयाज्ञवल्क्य	:	–
८९.	ब्रह्मलीन मुनि	:	हिन्दी पातञ्जल योग दर्शन, चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९७०
९०	बादरायण	:	ब्रह्मसूत्र पाण्डुरंग जावजी, बम्बई द्वितीय संस्करण १९३८
९१	बल्देव उपाध्याय	:	भारतीय दर्शन, द्वि० सं०, वाराणसी १९४५

९२	भट्ट नागोजि	:	नागोंजि भट्टवृत्ति (पातञ्जल योग सूत्रम्) चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, विद्या विलास प्रेस, वाराणसी १९३०
९३	भट्ट नागोजि	:	योगसूत्र वृत्ति (पातंजल योग–सूत्राणि) गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण १९१७
९४.	भट्टाचार्य रमाशकर	:	पातञ्जलयोगदर्शनम्, भारतीय विद्या प्रकाशन
९५.	भावागणेश	:	तत्वयाथार्थ्यदीपन् (सांख्यसूत्रम्) रमाशंकर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, भारतीय विद्या प्रकाशन
९६	भोजदेव	:	भोजदेववृत्ति (पातञ्जल योग दर्शनम्)
९७	भारतीय योग दर्शन आलोचन और अनुशीलन	:	श्री मदनलाल लक्ष्मीनिवास चेडक, अजमेर, चन्द्रधर शर्मा द्वितीय संस्करण १९६१
९८.	भारतीय दर्शन	:	ले० डा० उमेश मिश्रा प्रथम
९९	भारतीय दर्शन	:	ले० शतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेद्र मोहन दत्त द्वितीय
१००	भास्कर	:	ब्रह्मसूत्र–भाष्य
१०१	भोजराज	:	योगसूत्रवृत्ति, संपा० के० वेदान्तवागीश कलकत्ता
१०२.	मणिप्रभा	:	सं० पं० ढुण्ढिराज शास्त्री २९३०
१०३	मत्स्यपुराण	:	मु० हिन्दी साहित्य प्रेस प्रयाग प्रथम
१०४	मनुस्मृति	:	–
१०५	महाभारत (अनुशासन पर्व)	:	प्र० प्रतापचन्द्रराय द्वितीय
१०६.	'' (अश्वमेघपर्व)	:	प्र० प्रतापचन्द्रराय द्वितीय
१०७.	महाभारत (आदि पर्व)	:	प्र० प्रतापचन्द्रराय द्वितीय

१०८ मत्स्य पुराणाड्.क, सख्या १, उत्तरार्ध : कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर

१०६ महाभारत : कुम्भकोण संस्करण

११० '' (वनपर्व) : प्रो०–प्रतापचन्द्रराय तृतीय

१११ मीमासा दर्शन : स० रतनगोपाल भट्ट १६१६

११२ मुण्डकोपनिषद् : प्र०–आनन्दश्रम मुद्रणालय १६१८

११३. मनुस्मृति : सम्पा० पं० गोपाल शास्त्री, १६७० चौखम्बा संस्कृत सीरीज

११४ महर्षि वेदव्यास : श्रीमद्भागवतपुराण गीता प्रेस गोरखपुर

११५ '' : श्रीमद्भागवतपुराण, हिन्दी अनुवाद, स्वामीअखण्डानन्द सरस्वती, गीता प्रेस, गोरखपुर

११६ मार्कण्डेय पुराण, प्रथम खण्ड, : गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, द्वितीय संस्करण, बनारस

११७. योग–चन्द्रिका : स०–ढुण्ढिराज शास्त्री

११८ योगदर्शन समीक्षा : ले० कृष्णमणि त्रिपाठी

११६ योग फिलॉसफी : ले० एस० एन० दास गुप्ता

१२०. योग भाष्य : ले० व्यास

१२१. योग भाष्य का अध्ययन (पत्रिका) : ले० रामशंकर भट्टाचार्य

१२२. योगवार्तिक : सम्पा० गोस्वामी दामोदर शास्त्री १६३५

१२३. योगवाशिष्ठ : प्र० अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी

१२४. योग सार संग्रह : प्र० मोतीलाल बनारसी दास
(स्वामी सनातन देवकृत हिन्दी अनुवाद सहित)

१२५ रामशङ्.कर भट्टाचार्य (सम्पा०) : पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्यासभाष्यतत्ववैशारदीसमेतम्, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

१२६ रामानुजाचार्य : वेदान्तसार

१२७. '' : वेदार्थसंग्रह

१२८ रामाचार्य : न्यायामृत–तरङ्.गणी (न्यायमृत–टीका)

१२६ राघवानन्द सरस्वती : पातञ्जलरहस्य (सांख्योगदर्शनम्) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्या विलास प्रेस, वाराणसी १६३०

१३० रामानन्दयति : मणिप्रथा (पातञ्जलयोगसूत्रम्) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी १६३०

१३१ वायुपुराण : प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर

१३२ विष्णुपुराण : प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर तृतीय

१३३ वेदान्तसार (भावबोधिनी सहित) : उदयवीर शास्त्री

१३४ वेदान्त दर्शन का इतिहास : ले०–श्री० सदानन्द

१३५ वैशेषिक सूत्र : ले० महर्षि कणाद

१३६. वाचस्पति मिश्र : सांख्य–तत्व–कौमुदी (सांख्यकारिका टीका) हिन्दी अनुवाद सहित, आद्या प्रसाद मिश्र,

१३७. वाचस्पति मिश्र : अंग्रेजी अनुवाद, गंगानाथ झा, पूना

१३८ वाचस्पति मिश्र : सांख्यतत्व कौमुदी, सम्पा० हरदत्त शर्मा, पूना।

१३६. विज्ञानभिक्षु : सांख्य–प्रवचन–भाष्य (सांख्य–सूत्र–भाष्य) संपा० जीवानन्द, कलकत्ता

१४० व्यास : योगसूत्रभाष्य, सम्पा० वेदान्तचुञ्चु, कलकत्ता

१४१ वात्स्यान : न्यायसूत्रभाष्य, विश्वनाथवृत्ति–सहित, सम्पा० जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता

१४२ श्वेताश्वतरे उपनिषद् : –

१४३ शिवोपासनाड्.क : रामदास जालान द्वारा गोविन्द भवन, कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर

१४४. शंकर भगवत्पाद : पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य वि०

१४५ शंकराचार्य . सर्व–वेदान्त–सिद्धान्त–सार–संग्रह श्री रामकृष्ण, अद्वैताश्रम, केरल राज्य, द्वितीय संस्करण १९७०

१४६ शर्मा रामूमूर्ति : अद्वैत–वेदान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली १९७२

१४७ शास्त्री उदयवीर : सांख्य दर्शन का इतिहास, सार्वदैशिक प्रेस पटौदी हाउस दिल्ली

१४८ " : सांख्य सिद्धान्त, विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद (उ० प्र०), प्रथम संस्करण १९७२

१४९ श्रीमद्भगवतगीता : गीताप्रेस गोरखपुर, एकादश संस्करण

१५० श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव ' योगसूत्र भाष्यसिद्धि, संवित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९७३

१५१ सदानन्दयति : वेदान्तसार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६८

१५२. सरस्वती अमलानन्द : वेदान्त कल्पतरु (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य) पाण्डुरंग जावजी, बम्बई द्वितीय संस्करण १९३८

१५३. सरस्वती सदाशिवेन्द्र : योग सुधाकर (पातञ्जलयोग–सूत्रम) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याविलास प्रेस वाराणसी,१९३०

१५२ स्वामी ओमानन्द तीर्थ : पातञ्जल, योगप्रदीप , गीता प्रेस गोरखपुर, पञ्चम संस्करण, संवत् २०२४

INDEX

1. Aurobindo : Synthesis of Yoga.
2. A.B. Keith : The Sankhya system.
3. Bloomfield : The religion of the Veda.
4. " : The Atharva-Veda, S.B.E. Vol, XLIII.
5. B.M. Barua : Pre-Buddhistic Indian Philosophy.
6. Ballantyne & Govinda Shastri Deva : Yoga Sūtras of Patañjali Published by Anil Gupta for susil Gupta, Pvt.Ltd, Calcutta, Fourth Ed. 1963.
7. B.L. Atreya : The Philosophy of Yogavāsistha, Adyar, 1936.
8. Behaman : Yoga.
9. Bharati : Yoga For Modern World.
10. Clara M. Codd : Introduction of to Patanjali Yoga.
11. Claude Bragdon : An Introduction to Yoga.
12. Chandradhar Sharma : A Critical Survey of Indian Philosophy, Rider and Co, London, 1960 Moti lal Banarsi Dass, 1976, 79, 90.
13. Chidananda, S.S : Yoga, The Yoga-Vedanta Forest Academy, Rishikesh India, First

Ed. 1960

14. Coster Geroldine : Yoga and Westeran Psychology A Comparison, Oxford University Press, London, New York, Torrento, Fifth Ed. 1949.

15. Devi : Yoga for You.

16. Day : About Yoga.

17. Danielou : Yoga Mathod of Re-intergration.

18. Dumme : Manual of Yoga.

19. Day, Harvey : Study and Practice of Yoga.

20. Day, Harvey : About Yoga.

21. Devi, Indra : Renew Your life Through Yoga.

22. Dunne Desmond : Yoga: The way to long life and happiness.

23. Devi, Indra : Yoga for Americans.

24. Dr. J. Ghosh : A Study of Yoga.

25. Das Gupta, S.N. : A History of Indian Philosophy.

26. Das " " : Yoga Philosophy in Relation to other systems of Indian Thought.

27. Das Gupta, S.N : Yoga-As Philosophy and Religion.

28. Eliade Mircea : Yoga Immortalitey and Freedom.

29. Eggeling : Satapatha Brahmana, S.B.E, Vol XII.

30. Evensswentz, W.Y : Tibetan Yoga and Secret Doctrine.

31. Franeis. P.G. : Yoga Life Science.

32. Franeis. P.G. : Yoga the amazing life science.

33. G. Coster : Yoga and Western Psychology, (with Sanskrit Text of Patanjali).

34. Ganpati, S.V. : Patañjali's Yoga Sūtras (Kriyā-Yoga and Kaivalya Yoga).

35. George Thibaut : The Vedānta-Sūtras with the Comment of Rāmānujācārya, 2 Vol, S.B.E.

36. Hasurkar, S.S : Vachāspati Mishra on Advaita Vedanta, Mithila Institute.

37. I.K. Temani : Science of Yoga (with Sanskrit Text of Patanjali).

38. Jwdge, William : Patanjali's Yoga Aphorisms.

39. Joshi, K.S : Yoga and Personality, Udayana Publications, Allahabad First Ed. 1969.

40. Manilal Nabhubhai Dwivedi : The Yoga Sutra of Patanjali.

41. Rammurti : Fundamentals of Yoga.

42. Sen Gupta Anima : Sāmphya and Advaita Vedānta

43. Swami Shiwananda : Essence of Yoga, The Yoga Vedanta.

44. Swami Shiwananda : Kundalini Yoga.

45. Swami Shiwananda : The practice of Yoga.

46. Swami Vishudhanand : The complete Illustrated book of Yoga.

47. Swami Abhedhanand : Yoga Phychology, Ram Krishna Vedanta Math 19B, Raja Raj Krishna Street, Calcutta, 1960.

48. Tr. Johnstons : Yoga Sutras (patanjali).

49. V.M Bhat : Yogic Power and Godrealization.

50. Vivekananda : Rajyoga.

51. Wood Earnest : Practical Yoga-Ancient and Modern made and Printed by Litho Offset in Great Britain at GREYCALES 2ND ED. 1952.

52 Wood, E. : Great Systems of Yoga, Publised by Russi J.H. Taraporvala Sons Co, Private Limited, Naroji Road, Bombay.

53. Woods James Haughten : The Yoga System of Patanjali combridge, Massachusetts, The

Harvard University Press Seeond
Ed. 1927.

54. Zimmer Heinrich : Philosophy of India, Bollingen
Series XXVI 1951.